स्व. श्री प्रफुल्लचन्द्र केशवलाल दोशी

जन्म 10 सितम्बर, 1922 देह विलय 11 जनवरी, 2006

स्मरणांजली

'मानव जीवन उसमे भी जैन कुल प्राप्त होना 'सोने मे सुहागे' के समान है। जैन कुल मिला फिर भी यदि हमने सच्चा मार्ग नहीं अपनाया तो जीवन निरर्थक ही चला जाएगा' – ऐसी सोच थी आपकी।

आपने जीवन के अमूल्य क्षणो को अपने स्वभाव की सुगध से सदा महकाने का प्रयत्न किया। 'अपने जीवन को धर्म की सुवास से सुगन्धित करो' आपका बताया यह मूल मत्र हम सबको सदैव प्रेरणादायी बना रहता है।

आपके स्वभाव की मिलनसारिता, सहनशीलता, प्रामाणिकता, विपरीत सयोगो से सघर्ष करते हुए सुख–दु ख मे समताभाव रखने की भावना हमे हर क्षण आपकी याद दिलाती है।

सन् 1953 मे आपने सोनगढ जाकर सर्वप्रथम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के दर्शन किए और तात्विक लाभ लिया। यहीं से आपकी धर्म की ओर रुचि बढी और सच्चा सुख प्राप्त करने का अमोघ मत्र हासिल कर अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। जीवन मे एक नया मोड आया और स्वाध्याय की ओर उन्मुख हुए। शनै –शनै जयपुर व देवलाली के शिविरो मे आना–जाना प्रारभ हुआ और नियमित स्वाध्याय करने लगे।

जीवन के अन्तिम वर्षो मे शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी आप विचलित नही हुए और जाग्रत अवस्था मे समताभाव धारण कर धर्म की आराधना पूर्वक नश्वर देह का परित्याग किया।

आप सच्चे देव–शास्त्र–गुरु के प्रति समर्पित भाव से धर्म आराधना करके अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करे तथा अक्षय, अमेय सुख को प्राप्त करे, यही हमारी भावना है।

हमे भी ऐसी पूर्ण दशा की प्राप्ति हो, ऐसी भावना के साथ यह पुस्तक आपकी स्मृति मे जिज्ञासुओ को सप्रेम भेट।

पत्नी	**नलिनी बेन प्रफुल्ल चन्द्र दोशी**	पुत्र	**रूपेन प्रफुल्लचन्द्र दोशी**
पुत्र	**सजय प्रफुल्लचन्द्र दोशी**	पुत्रवधु	**नेहा रूपेण दोशी**
पुत्रवधु	**पौला सजय दोशी**	पौत्री	**किजल रूपन दोशी**
पौत्र	**नदित सजय दोशी**		

प्रवचनसार अनुशीलन

भाग-२

स्कैन

लेखन एव गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम ए , पीएच डी

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रथम संस्करण हिन्दी	:	५ हजार
(१ मई, २००७)		
वीतराग-विज्ञान (हिन्दी-मराठी) के		
सम्पादकीयों के रूप में	.	९ हजार
कुल	:	**१४ हजार**

मूल्य **पैंतीस रुपए**

लैजर टाइपसैटिंग
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में तत्त्ववेत्ता डॉ हुकमचन्द भारिल्ल अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी नवीनतम कृति प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२ का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

समयसार अनुशीलन की लोकप्रियता ने प्रवचनसार अनुशीलन लिखने के लिए डॉ भारिल्लजी को प्रेरित किया। स्वय की रुचि एव पाठकों की निरन्तर प्रेरणा से वीतराग-विज्ञान के सपादकीय रूप में प्रवचनसार अनुशीलन लिखना प्रारभ हुआ, जिसका प्रथम भाग जनवरी २००५ में प्रकाशित होकर पाठकों तक पहुँच ही चुका है और दो वर्ष के अल्प अन्तराल में यह दूसरा भाग प्रस्तुत है।

प्रवचनसार का विषय गूढ, गम्भीर एव सूक्ष्म है। इसे समझने के लिए बौद्धिक पात्रता तो चाहिए ही; विशेष रुचि एव लगन के बिना उसे आसानी से समझना सहज नहीं है, अत पाठकों को धैर्य पूर्वक अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

विगत तीस वर्षों में आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय रूप में आपने जो भी लिखा, वह सभी आज जिन अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है और पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुका है। सभी पुस्तकें लगभग हिन्दी में तो प्रकाशित होकर जन -जन तक पहुँच ही चुकी हैं, अन्य भाषा-भाषी लोगों की माग को दृष्टिगत रखते हुए उनके गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल तथा अग्रेजी भाषाओं में भी अनुवाद होकर अनेक सस्करणों में प्रकाशित हो चुके हैं। उपरोक्त आठ भाषाओ में अब तक ४२ लाख से अधिक प्रतियों का प्रकाशन होना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

डॉ भारिल्ल द्वारा अब तक लगभग ७ हजार पृष्ठो की सामग्री लिखी जा चुकी है और लगभग १० हजार पृष्ठों का सम्पादित कार्य हो चुका है, जो सभी प्रकाशित है। लेखन कार्य में तो आप बेजोड़ हैं ही, वक्तृत्व शैली मे भी आपको महारत हासिल है।

डॉ भारिल्ल की बहुचर्चित कृतियों में परमभावप्रकाशक नयचक्र, समयसार अनुशीलन, धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना . एक अनुशीलन,

सत्य की खोज, तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, छहढाला का सार, पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, णमोकार महामत्र · एक अनुशीलन, आत्मा ही है शरण, दृष्टि का विषय तथा पश्चाताप मुख्य हैं, जो पठनीय हैं। अब तक आपकी छोटी-बडी ६४ पुस्तकें प्रकाशित हैं। निरन्तर २३ वर्षों से विदेशी भूमि पर जाकर डॉ भारिल्ल अध्यात्म का डका बजा रहे हैं।

इसप्रकार आपके माध्यम से जिन आगम की अभूतपूर्व सेवा हो रही है। श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के आप राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं। आप जैसे मनीषी विद्वान के चुने जाने से इस पद की गरिमा में चार चाद लग गए हैं।

आपकी साहित्य साधना से आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री स्वामी तो प्रभावित थे ही, दिगम्बर जैन सन्त सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानन्दजी भी अत्यधिक प्रभावित हैं। आप लिखते हैं –

"डॉ भारिल्लजी का बीसवीं शताब्दी के जैन इतिहास में अनन्य योगदान रहा है। विद्वद्वर्य महामनीषी पण्डित गोपालदासजी बरैया की परम्परा के वे अनुपम रत्न है। जैन तत्त्वज्ञान एव अध्यात्म की सरल शब्दो में सूक्ष्म तार्किक व्याख्या करके उन्होंने देश-विदेश में व्यापक धर्म प्रभावना की है। वे दीर्घजीवी होकर इसीप्रकार साहित्य साधना कर पामर जीवो के उपकार में निमित्त बने – ऐसी मगल भावना है।"

इस पुस्तक की टाइपसैटिंग श्री दिनेश शास्त्री ने मनोयोगपूर्वक की है तथा आकर्षक कलेवर में मुद्रण कराने का श्रेय प्रकाशन विभाग क मैनेजर श्री अखिल बसल को जाता है, अत दोनो महानुभाव धन्यवाद के पात्र है।

प्रस्तुत सस्करण की कीमत कम करने मे जिन दातारो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उन्हें भी ट्रस्ट की ओर से हार्दिक धन्यवाद।

सभी जिज्ञासु इस अनुशीलन का पठन-पाठन कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें – इसी भावना के साथ –

5 अप्रैल, 2007

ब्र यशपाल जैन, एम ए
प्रकाशन मत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

क्र.	नाम	राशि
१	श्री देवकुमारजी प्रकाशजी जैन, दिल्ली	५१०० ००
२	श्री भागचन्दजी कालिका, उदयपुर	५००१.००
३	श्री सुमेरचन्दजी अशोककुमारजी जैन, तिनसुकिया	५००१.००
४	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल घन्टीपाड़ा, बड़ोदरा	५००१ ००
५	श्रीमती लाभूबेन छोटालालजी भायाणी, बडोदरा	४००० ००
६	श्री मनोजकुमारजी जैन हस्ते सरावगी इण्डस्ट्रीज, रामगजमण्डी	४००० ००
७	श्री चाँदमलजी पाटोदी की स्मृति में हस्ते श्री ज्ञानमलजी पाटोदी, भीलवाडा	३१००.००
८	श्री निर्मलकुमारजी जैन, कोटा	३१००.००
९	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल	३१०० ००
१०	*श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द कहान स्वाध्याय ट्रस्ट, इन्दौर*	३१०० ००
११	श्री प्रकाशचन्दजी जैन, कोटा	३१०० ००
१२	श्रीमती शकुन्तलादेवी मानिकचन्दजी जैन, दौसा	३१०० ००
१४	श्री राजेन्द्रजी चौधरी, किशनगढ	३००० ००
१५	गुप्तदान हस्ते ज्ञानचन्दजी कासलीवाल, इन्दौर	३००० ००
१६	श्री नाथूलाल हीरालालजी वैद, बड़नगर	३००० ००
१७	श्रीमती कलावती पन्नालालजी जैन, मुम्बई	११०० ००
१८	श्रीमती पुष्पाबेन पारसमलजी जैन, मुम्बई	११०० ००
१९	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कोलकाता	११०० ००
२०	चि स्वयम् मल जैन, कोल्हापुर	११०० ००
२१	श्री शान्तिकुरू चै ट्रस्ट, नई दिल्ली	१००१ ००
२२	श्री मागीलाल मिश्चालालजी व्होरा, भिण्डर	१००१ ००
२३	श्री महेन्द्रभाई मणीलालजी भालाणी, मुम्बई	१००१ ००
२४	श्री फूलचन्दजी पाटनी, कोलकाता	१००१ ००
२५	श्री दिलीपभाई सेठी, कोलकाता	१००१ ००
२६	श्री इन्द्रजीतजी गगवाल, इन्दौर	१००१ ००
२७	श्री रतनमलजी जैन, दिल्ली	१००१ ००

२८	श्रीमती सुमतिबाई एव रेशमाबाई जैन, इन्दौर	१००१ ००
२९	श्रीमती तेजस्वनी ध प विजयकुमारजी शाह, मुम्बई	१००१ ००
३०	श्री नेमीचन्दजी कीकावत, अहमदाबाद	५०१ ००
३१	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१ ००
३२	श्रीमती कुसुम जैन ध प श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरु केमिकल्स' दिल्ली	५०१ ००
३३	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध प श्री पूनमचन्दजी छाबडा, इन्दौर	५०१ ००
३४	श्रीमती नीलू ध प श्री राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	५०१ ००
३५	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	२५१ ००
३६	श्रीमती हेमलता गब्बूलालजी जैन, आष्टा	२५१ ००
३७	स्व श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	२५१ ००
३८	ब्र कुसुमताई पाटील, कुम्भोज	२५१ ००
३९	श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	२५१ ००
४०	स्व धापूदेवी ध प स्व ताराचन्दजी गगवाल, जयपुर की पुण्य स्मृति में	२५१ ००
४१	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१५१ ००
	कुल राशि :	**७३०७४ ००**

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

●●●

प्रवचनसार अनुशीलन
(भाग-२)

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार
(गाथा ९३ से गाथा २०० तक)

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार
(गाथा ९३ से गाथा १२६ तक)

यह तो आपको विदित ही है कि इस अधिकार का **ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार** – यह नाम आचार्य अमृतचन्द्र ने दिया है; जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध होता है। इसी अधिकार को आचार्य जयसेनकृत तात्पर्य-वृत्ति टीका में **सम्यग्दर्शन महाधिकार** नाम से संबोधित किया गया है।

यह भी पहले बताया जा चुका है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार को अधिकारों में विभक्त नहीं किया है। वे तो एकसाथ एक ही क्रम से सम्पूर्ण प्रवचनसार लिखते गये हैं।

तत्त्वप्रदीपिका टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के आरंभ में मगलाचरण संबधी कोई गाथा नहीं है; किन्तु आचार्य जयसेन कृत तात्पर्य-वृत्ति टीका में मंगलाचरण संबंधी गाथा प्राप्त होती है।

ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो यहाँ मंगलाचरण की गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी; किन्तु उनके परवर्ती किसी व्यक्ति को कालान्तर में ऐसा लगा कि अधिकार का आरंभ है तो मंगलाचरण भी होना ही चाहिए और उसने इस गाथा को इसमें शामिल कर दिया।

जो भी हो मगलाचरण संबंधी उक्त गाथा इसप्रकार है –

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चं पि तम्मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ।।१०।।

(हरिगीत)

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर।
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह।।१०।।

इसलिए सम्यक्चारित्र युक्त उन मुनिराजों को नमस्कार करके उनमें ही तन्मय होकर संक्षेप में परमार्थ का निश्चय करानेवाले इस सम्यक्त्व अधिकार को कहूँगा।

ध्यान रहे, इस गाथा में न केवल मंगलाचरण किया गया है, अपितु सम्यक्त्व अधिकार कहने की प्रतिज्ञा भी की गई है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह भी है कि इसमें अरहंत और सिद्धों को नमस्कार न करके; उन्हीं मुनिराजों को नमस्कार किया गया है, जिनको प्रथम महाधिकार की अन्तिम दो गाथाओं में किया गया है। इस गाथा की सगति उन गाथाओं से ही बैठती है।

तम्हा तस्स णमाइं – इसलिए उनको नमस्कार करके – इस कथन में पूर्वापर संबध स्पष्ट हो ही जाता है।

यद्यपि इस गाथा में ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता; जिससे यह अनुभव किया जा सके कि आचार्य कुन्दकुन्द को इस अधिकार का नाम सम्यग्दर्श-नाधिकार इष्ट था; तथापि आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में **परमार्थ का निश्चय करानेवाला अधिगम** का अर्थ **सम्यक्त्व** किया है। लगता है इसी आधार पर उन्होंने इस महाधिकार का नाम सम्यग्दर्शन अधिकार रखा है।

उन्हें स्वयं आशंका थी कि उक्त शब्दों का अर्थ सम्यग्दर्शन करने में कुछ लोगों को विकल्प हो सकता है; अत: उन्होंने टीका में स्वय प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया है। उसमें यह भी लिखा है कि इसका अर्थ सम्यग्दर्शन नहीं करना हो तो सम्यग्ज्ञान भी कर सकते हैं। उक्त सम्पूर्ण प्रकरण मूलत: पठनीय है।

आत्मा के कल्याण के लिए जगत में जो भी जानने योग्य पदार्थ हैं; उन सभी पदार्थों का वर्णन इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में होगा।

पहले सभी द्रव्यों की सामान्य चर्चा करेंगे; उसके बाद षट्द्रव्यों को अनेक युगलों में विभक्त कर प्रस्तुत करेंगे तथा प्रत्येक द्रव्य की अलग-अलग विशेष चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् ज्ञान और ज्ञेयों की भिन्नता का स्वरूप स्पष्ट करेंगे।

इसप्रकार यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार तीन अधिकारों में विभक्त है; जो इसप्रकार हैं – १. द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार, २. द्रव्यविशेष-प्रज्ञापन अधिकार और ३. ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार प्रवचनसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है; क्योंकि इसमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूप जबतक हमारे ख्याल में नहीं आएगा, तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन का विषयभूत जो भगवान आत्मा है और जिसकी चर्चा समयसार में की जाती है; वह भगवान आत्मा इस प्रवचनसार के द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन की पृष्ठभूमि पर ही समझा जा सकता है।

इसीप्रकार द्रव्यविशेषाधिकार में प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के साथ-साथ छह द्रव्यों को अनेक युगलों में विभक्त कर भेदविज्ञान की पृष्ठभूमि तैयार की जावेगी।

ज्ञान-ज्ञेय विभागाधिकार एक प्रकार से ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार – दोनों को अपने में समेटे है, दोनों का उपसंहार है, निष्कर्ष है। उसमें यह स्पष्ट किया जायेगा कि ज्ञानतत्त्व जुदा है और ज्ञेयतत्त्व जुदा है। यद्यपि अपना आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है; तथापि अपने लिए ज्ञानतत्त्व मात्र अपना आत्मा ही है, शेष सारा जगत, जिसमें अन्य सभी आत्मा भी शामिल हैं, ज्ञेयतत्त्व ही है, मात्र ज्ञेयतत्त्व ही है।

इस दृष्टि से विचार करें तो यह ज्ञान-ज्ञेय विभागाधिकार एक स्वतंत्र महाधिकार होना चाहिए; तथापि यहाँ इसे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत एक अधिकार के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व को जानने के साथ-साथ ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व में भेद जानना भी अनिवार्य है; इसलिए ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार है।

इसप्रकार ये तीनों अधिकार ही महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु को प्रस्तुत करते हैं। ●

प्रवचनसार गाथा-९३

यह गाथा ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार की पहली गाथा है; जो सम्पूर्ण प्रवचनसार ग्रंथ की ९३वीं गाथा है और जिसमें पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्यायरूप होता है – यह बताया गया है। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया।।९३।।

(हरिगीत)

गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय।
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय।।९३।।

वस्तुत: पदार्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं। द्रव्य और गुणों से पर्यायें होती हैं तथा पर्यायमूढ जीव ही परसमय होते हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इस लोक में जो भी ज्ञेयपदार्थ हैं; वे सभी विस्तारसामान्यसमुदायात्मक और आयतसामान्यसमुदायात्मक द्रव्य से रचित होने से द्रव्यमय है, द्रव्यरूप हैं।

एकमात्र द्रव्य जिनका आश्रय है – ऐसे विस्तारविशेषस्वरूप गुणों से रचित होने से द्रव्य गुणात्मक हैं और आयतविशेषस्वरूप पर्यायें उपर्युक्त द्रव्यों और गुणों से रचित होने से द्रव्यात्मक भी हैं और गुणात्मक भी हैं।

अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्यायें हैं। वे द्रव्यपर्यायें दो प्रकार की होती हैं। समानजातीयद्रव्यपर्याय और असमानजातीयद्रव्यपर्याय।

अनेक पुद्‌गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक आदि स्कन्ध समानजातीय

द्रव्यपर्यायें हैं और जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य आदि पर्यायें असमान-जातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

गुणों द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्यायें हैं। वे भी दो प्रकार की होती हैं – स्वभावगुणपर्याय और विभावगुणपर्याय।

सभी द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुत्वगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभावपर्यायें हैं और रूपादि अथवा ज्ञानादि के स्व-पर (उपादान-निमित्त) के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति विभावपर्यायें हैं।

अब इसी बात को दृष्टान्त से दृढ करते हैं –

जिसप्रकार सभी पट (वस्त्र) स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय से और दौडते हुए आयतसामान्यसमुदाय से रचित होते हुए पट (वस्त्र) से तन्मय ही हैं, पटमय ही हैं; उसीप्रकार सभी द्रव्य स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय से और दौडते हुए आयतसामान्य समुदाय से रचित होते हुए द्रव्यमय ही हैं।

जिसप्रकार पट स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ते हुए आयत-सामान्यसमुदाय गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् अप्राप्त होने से गुणात्मक ही हैं; उसीप्रकार स्थिर विस्तारसामान्यसमुदाय या दौडते हुए आयतसामान्यसमुदायरूप द्रव्य गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् अप्राप्त होने से गुणात्मक ही हैं।

जिसप्रकार अनेक पटात्मक (अनेक वस्त्रों से निर्मित) द्विपटिक, त्रिपटिक आदि समानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं; उसीप्रकार अनेक पुद्गला-त्मक द्वि-अणुक, त्रि-अणुक आदि समानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

जिसप्रकार अनेक रेशमी और सूती पटों के बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक आदि असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं; उसीप्रकार अनेक जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य आदि असमानजातीयद्रव्यपर्यायें हैं।

जिसप्रकार कभी पट में अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रम से प्रवर्तमान अनेक प्रकार रूप से परिणमित होने के कारण अनेकत्व की प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभाव पर्यायें हैं; उसीप्रकार समस्त द्रव्यों में अपने-अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति गुणात्मक स्वभाव पर्यायें हैं।

जिसप्रकार पट में रूपादिक के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोतर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाली स्वभाव-विशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति गुणात्मकविभावपर्यायें हैं; उसीप्रकार समस्त परद्रव्यों में रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होनेवाले तारतम्य के कारण देखने में आनेवाली स्वभावविशेषरूप अनेकत्व की आपत्ति गुणात्मकविभावपर्यायें हैं।

वस्तुत: यह सर्वपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली है; उत्तम है, पूर्ण है और योग्य है; दूसरी कोई व्यवस्था नहीं है; क्योंकि बहुत से जीव पर्यायमात्र का अवलम्बन करके, तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं।''

इसे भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''पदार्थ द्रव्यस्वरूप है। द्रव्य अनन्तगुणमय है। द्रव्यों और गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्याय के दो प्रकार हैं – १. द्रव्यपर्याय, २ गुणपर्याय।

इनमें से द्रव्यपर्याय के दो भेद हैं– १. समानजातीय – जैसे द्वि-अणुक, त्रि-अणुक इत्यादि स्कन्ध २. असमानजातीय – जैसे मनुष्य देव इत्यादि।

गुण-पर्याय के दो भेद हैं – १. स्वभावपर्याय – जैसे सिद्ध के गुणपर्याय २ विभावपर्याय – जैसे स्वपरहेतुक मतिज्ञानपर्याय।

ऐसा जिनेन्द्र भगवान की वाणी से कथित सर्व पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप ही यथार्थ है। जो जीव द्रव्य-गुण को न जानते हुए मात्र पर्याय का ही आलम्बन लेते हैं, वे निज स्वभाव को न जानते हुये परसमय हैं।''

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में भी इस गाथा के भाव को लगभग इसीप्रकार स्पष्ट किया है।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका के सम्पूर्ण भाव को ३ मनहरण कवित्त, ४ दोहे और १ कवित्त – इसप्रकार कुल मिलाकर ८ छन्दों में विस्तार से छन्दोवद्ध करते हैं; जो मूलत पठनीय है।

पुनरुक्ति के भय से उन्हें यहाँ देना उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रवचनसारभाषाकवित्त में पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(छप्पय)

विमलज्ञान महि प्रगट ग्येय पादारथ जे हैं।
सो सामान्य स्वरूप दर्वमय सर्व कहे हैं।।
पुनि सु दर्व संजुक्त गुन सु निज निज अनंत धुअ।
द्रव्य अवर गुन के सु परिनमन करि सुभेद हुअ।।
कहिये सु दरव परजाय इक गुन परजाय सु दूसरिय।
परजाय असुद्ध विषैं मगन परसमय सु मिथ्यामतिय।।२।।

सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान में जो पदार्थ ज्ञेयरूप से जाने जाते हैं; वे सभी सामान्यरूप से द्रव्य कहलाते हैं। वे सभी द्रव्य अपने-अपने अनत गुणों से सहित होते हैं। द्रव्य और गुणों के परिणमन के भी अनेक भेद हैं। इनमें से एक द्रव्यपर्याय कही जाती है और दूसरी गुणपर्याय कही जाती है और अशुद्धपर्यायों में मगन जीव परसमय (मिथ्यादृष्टि) कहे जाते हैं।

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यह ज्ञेय अधिकार चलता है। ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य सर्व पदार्थों को ज्ञेय कहते हैं। छह द्रव्य के समुदायरूप यह विश्व है। उसमें रहनेवाले सभी पदार्थ अनादि-अनंत होने से स्वतःसिद्ध हैं; वे किसी से रचित नहीं

हैं। सदा ही अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप हैं; किन्तु परपदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप नहीं हैं।[१]

ज्ञेय के तीन प्रकार होते हैं, द्रव्य, गुण और पर्याय। अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड वह द्रव्य है। द्रव्य में उसके साथ विस्तार विशेषरूप गुण हैं और समय-समय क्रमशः उत्पाद-व्ययरूप होनेवाली अवस्थाएँ-वर्तमानदशा पर्यायें हैं; ये पदार्थों में स्वयं अपने द्रव्य और गुण से ही होती हैं; फिर भी जो ऐसा मानता है कि पर्याय पर से होती है तो वह जीव अखण्ड स्व-पर ज्ञेयों को नहीं मानता और अश मात्र में सम्पूर्ण द्रव्य को मानकर, देहादि सयोग में एकताबुद्धि द्वारा पर्यायमूढ होता है, इसी का नाम ससार है।[२]

असमानजातीय जड़ शरीर और जीव दोनों ही भिन्न-भिन्न वर्तते हैं; किन्तु ऐसा न मानकर वह पर के आधार से, एक-दूसरे का परिणमन मानता है। कर्म के कारण जीव को विकार होता है तथा जीव से कर्म की रचना होती है; इसप्रकार एक अंश की सत्ता को दूसरे से मानता है। अशी से अश अभेद है – ऐसा न मानकर पर के साथ एकत्व मानता है; इसलिए अश में सम्पूर्ण माननेवाला, अनेक को एक माननेवाला और द्रव्य-गुण के आश्रय से अश (पर्याय) होता है – ऐसा अभेद नहीं माननेवाला अथवा पर से पर्याय होती है, इसप्रकार भेद को ही माननेवाला होने से वह जीव पर्यायमूढ़ है।[३]

अज्ञानी की अश व सयोग के ऊपर दृष्टि होने से वह यह माने बिना नहीं रहता कि मेरा वर्तमान, पर के आधीन है और परवस्तु की अवस्था मेरे आधीन है; मैं वाणी को रोक सकता हूँ, मैं फूल न तोड़ूँ, मैं आहार को छोड़ूँ, मैं शरीर को रोककर रख सकता हूँ इत्यादि मान्यतावाला मैं पर की अवस्था को कर सकता हूँ – ऐसी कर्तापने की श्रद्धा को पकड़कर बैठा है।[४]"

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१३
२ वही, पृष्ठ-१७-१८
३ वही, पृष्ठ-२०-२१
४ वही, पृष्ठ-२४

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि द्रव्य-गुण-पर्यायमय सभी पदार्थ ज्ञेय हैं। सभी द्रव्य गुणात्मक हैं तथा द्रव्य और गुणों की पर्यायें होती हैं। इसप्रकार पर्यायें द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायों के भेद से दो प्रकार की होती हैं। द्रव्यपर्यायों को व्यंजनपर्याय और गुणपर्यायों को अर्थपर्याय भी कहते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि मात्र एक द्रव्य के परिणमन को द्रव्यपर्याय नहीं कहते; अपितु अनेक द्रव्यों की मिली हुई अवस्थाओं को द्रव्यपर्याय कहते हैं।

ये द्रव्यपर्यायें समानजातीयद्रव्यपर्याय और असमानजातीयद्रव्यपर्याय के भेद से दो प्रकार की होती हैं। समानजातीयद्रव्यपर्यायें पुद्गल में ही होती हैं; क्योंकि जीवादि द्रव्य तो आपस में मिलकर कभी किसी पर्यायरूप परिणमित होते ही नहीं हैं। न तो जीव धर्मादि अमूर्तिक द्रव्यों के साथ मिलकर परिणमित होता है और न दो जीव भी परस्पर बंधरूप होते हैं; एकमात्र पुद्गल परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्धरूप परिणमित होते हैं। इसकारण समानजातीयद्रव्यपर्याय पुद्गलों में ही होती है।

जीव और शरीररूप पुद्गलों के बंधरूप मनुष्यादि पर्यायें असमान-जातीयद्रव्यपर्यायें हैं; क्योंकि जीव और पुद्गलों की जाति एक नहीं है। जीव चेतन जाति का है और पुद्गल जड जाति का है; परन्तु सभी पुद्गल एक ही जड जाति के हैं; अत: जड़ परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध समानजातीयद्रव्यपर्याय है।

गुण पर्याय तो प्रत्येक द्रव्य के गुणों में होनेवाले प्रतिसमय के परिणमन को कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञानगुण का मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादिरूप परिणमन गुणपर्याय है। इसीप्रकार पुद्गल के रस गुण का खट्टा-मीठारूप परिणमन रसगुण की गुणपर्याये हैं।

इनमें जो परिणमन शुद्ध है, पूर्ण है; वह स्वभावपर्याय कहा जाता है और जो परिणमन अपूर्ण है, अशुद्ध है; वह विभावपर्याय है।

यद्यपि सभी द्रव्यपर्यायों और सभी गुणपर्यायों में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एव भोक्तृत्वबुद्धि मिथ्यात्व है; तथापि यहाँ विशेष वजन मनुष्यादिपर्यायरूप असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि पर ही दिया जा रहा है।

इस बात का विशेष स्पष्टीकरण आगामी गाथा और उसकी टीका में किया जायेगा; अत: यहाँ इसकी विशेष चर्चा करना अभीष्ट नहीं है।●

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है।

अत: जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अत: हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं,' ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है।

अत: वाणी में स्याद्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१४४

प्रवचनसार गाथा-९४

विगत गाथा के चतुर्थ पाद में यह कहा गया था कि पर्यायमूढ़जीव परसमय हैं। अत· यहाँ यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यदि पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं तो स्वसमय कौन हैं?

उक्त प्रश्न को ध्यान में रखकर आगामी गाथा ९४ में स्वसमय और परसमय के स्वरूप को विशेष स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा मूलत इस प्रकार है –

जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा॥९४॥

(हरिगीत)

पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में।
थित जीव ही हैं स्वसमय-यह कहा जिनवरदेव ने॥९४॥

जो जीव पर्यायों में लीन हैं; उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय जानने।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो सकल अविद्याओं की मूल जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों का आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में नपुसक होने से असमानजातीय द्रव्यपर्याय में ही बल धारण करते हैं; 'मैं मनुष्य हूँ, मेरी यह नरदेह है' – इसप्रकार के अहंकार-ममकार से ठगे गये हैं; निरर्गल एकान्त दृष्टिवाले वे लोग अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार से च्युत होकर समस्त क्रियाकलाप को छाती से लगानेरूप मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त हो जाने से परसमय होते हैं, परसमयरूप परिणमित होते हैं।

जो सकल विद्याओं की मूल, असंकीर्ण द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों से सुस्थित, आत्मा के स्वभाव का आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में समर्थ होने से पर्यायमात्र के प्रति बल को दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं; जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह नष्ट कर दिये हैं; वे मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके अनेक कमरों में संचारित रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकरूप ही उपलब्ध करते हुए अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रियाकलाप से भेंट की जाती है, ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए राग-द्वेष का उन्मेष रुक जाने से परम-उदासीनता का आलम्बन लेते हुए समस्त परद्रव्यों की संगति दूर कर देने मात्र से स्वद्रव्य के साथ ही संगतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं। इसलिए स्वसमय ही आत्मतत्त्व है।''

इस गाथा का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही, पर अत्यंत संक्षेप में करते हैं। उदाहरण भी अनेक कमरों में ले जानेवाले रत्नदीपक का ही देते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वे यहाँ अहंकार और ममकार की परिभाषा देते हैं; जो इसप्रकार है –

''मनुष्यादि पर्यायरूप मैं हूँ – ऐसी परिणति को अहंकार कहते हैं और मनुष्यादि शरीर, पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा तज्जन्यसुख मेरे हैं – ऐसी परिणति ममकार है।''

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनजी दो छन्दों में व्यक्त करते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है –

(षट्पद)

जे अज्ञानी जीव देह ही में रति राचे।
अहंकार ममकार धरें मिथ्यामद माचे।।
तिनही को परसमय नाम भगवंत कहा है।
अरु जो आतमभाव विषैं लवलीन रहा है।।

तिन आतमज्ञानी जीव को स्वसमयरत जानो सही।
वह चिद्विलास निजरूप में रमत वृन्द निज निधि लही॥१२॥

जो अज्ञानी जीव शरीर में अहंकर-ममकार करते हैं, उसमें रति करते हैं; वे मिथ्यात्वरूपी मदिरा के नशे में हैं। भगवान ने उन्हीं को परसमय कहा है।

जो अपने आत्मा में एकत्व-ममत्व धारण कर उसमें लवलीन रहते हैं; उन आत्मज्ञानी जीवों को स्वसमय जानना चाहिए।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि निजरूप चैतन्य में विलास करनेवाले वे लोग निजनिधि को प्राप्त कर उसी में रमते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(कवित्त छन्द)

जे जिय मनुष्यादि परजायनि विषैं लगे ममिता करि मोहि।
आतमीक गुन विषैं नपुंसक ते परसमय कहे जिन टोहि॥
सुसमयवंत संत तिन्हि के घट सहज परमपद परगट होहि।
दरसन ग्यान चरन गुन अपनौ राख्यौ तिन्हि सु आप सौं गोहि॥३॥

जो जीव मनुष्यादि पर्यायों में ममता करके मोहित हो रहे हैं और आत्म गुणों को जानने में नपुसक हो रहे हैं; उन्हें वस्तुस्वरूप के खोजी जिनराज परसमय कहते हैं। स्वसमय अवस्था के धारी संतों के हृदय में परमपद सहज ही प्रगट होगा; क्योंकि उन्होंने अपने हृदय में दर्शन, ज्ञान और चारित्र को छुपाकर रखा है।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"जो जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय का आश्रय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो जीव अकेली पर्याय को मानता है, वह शरीर को अपना मानता है। शरीर असमानजातीयद्रव्यपर्याय है; फिर भी उनकी क्रिया जीव से हुई है – ऐसा अज्ञानी मानता है।[1]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४०

समानजातीय स्कन्धों में भी प्रत्येक परमाणु की पर्याय उनके द्रव्य गुण के आधार से है और अपनी राग पर्याय अपने आधार से है – ऐसा वह नहीं देखता; अपितु संयोगों को ही देखता है, किन्तु स्वभाव को नहीं देखता।[१]

तथा असमानजातीयद्रव्यपर्याय में आत्मा और शरीर दोनों द्रव्यों की पर्यायें पृथक्-पृथक् हैं और वे उनके द्रव्य के आधीन हैं – ऐसा होने पर भी अज्ञानी मानता है कि शरीर था तो धर्म हुआ और आत्मा थी तो शरीर चला।[२]

वस्तु त्रिकाल है, शक्ति अनत है और पर्याय समय-समय द्रव्य में से आती है – ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करना, वह केवलज्ञान का कारण है।[३]

अज्ञानी जीव ऐसे आत्मस्वभाव का आदर नहीं करता; वह शरीर, निमित्त व असमानजातीयद्रव्यपर्याय का आश्रय लेता है; किन्तु द्रव्य-गुण का आश्रय नहीं लेता। अपने को पुण्य-पाप जितना (मात्र) ही मानता है; अत: वह आत्मा का अनुभव करने के लिए नपुसक है। जड का आश्रय करना मनुष्यव्यवहार है और उसका फल निगोद है।[४]

यहाँ दो ही बात कही हैं। जो पर्याय में मूढ है, वह परसमय है और जो द्रव्य-गुण में लीन है, वह स्वसमय है।[५]

यह प्रवचनसार का ज्ञेय अधिकार है, इसमे द्रव्य-गुण तथा विकारी अथवा अविकारी पर्यायों का यथार्थ ज्ञान कराते हैं।[६]

अज्ञानी जीव जड की क्रिया, पुण्य की क्रिया करना चाहिए – ऐसा कहकर सभी सयोगो और निमित्तो को छाती से लगाता है।[७]

अलग-अलग कमरों में ले जाया जानेवाला दीपक एकरूप ही है, वह उस कमरेरूप बिल्कुल नहीं होता और परपदार्थों की क्रिया नहीं करता; उसीतरह अलग-अलग शरीरों में प्रवेश करता हुआ आत्मा एकरूप

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४०
२ वही, पृष्ठ-४० ३ वही, पृष्ठ-४१
४ वही, पृष्ठ-४२ ५ वही, पृष्ठ-४३
६ वही, पृष्ठ-४८ ७ वही, पृष्ठ-५०-५१

ही है; वह शरीररूप बिल्कुल नहीं होता और शरीर की क्रिया नहीं करता – ऐसा ज्ञानी जानते हैं।[१]

जो जीव अपने स्वज्ञेय का आश्रय करता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मव्यवहार प्रगट होता है।[२]

इसतरह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के पिण्ड स्वद्रव्य का आश्रय होने से वह जीव वास्तव में स्वसमय होता है।[३]

जो मनुष्यव्यवहार का आश्रय करता है, उसका ससार दूर नहीं होता और स्वज्ञेय का आश्रय करनेवाले ज्ञानी को संसार उत्पन्न नहीं होता।[४]

मनुष्यव्यवहार का ज्ञानी आश्रय नहीं करते, अपितु आत्मव्यवहार का आश्रय करते हैं अर्थात् वे अपने द्रव्य का आश्रय करते हैं; अपने अशी स्वभाव का आश्रय करते हैं; इसलिए रागी-द्वेषी नहीं होते। परद्रव्य के साथ सबध नहीं करने से, केवल स्वद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध करने से वे जीव धर्म को प्राप्त करते हैं।[५]

ज्ञेय अधिकार की इन दो गाथाओं में महल का स्तम्भ रोपा है; उस पर प्रशम के लक्ष्य से केवलज्ञानरूपी महल बनेगा अथवा जो मुमुक्षु इन दो गाथाओ को यथार्थ समझेंगे वे निश्चितरूप से अपने में सम्यग्दर्शन प्रगट करेंगे।[६]''

उक्त सम्पूर्ण कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायो में एकत्व-ममत्व रखनेवालों को ही मुख्यत: परसमय कहा गया है। जो लोग इन गाथाओं की व्याख्या करते समय भी केवलज्ञानादि पर्यायों से भिन्नता पर बल देते हैं, उन्हें इन गाथाओं और उनकी टीकाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वय इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय ही सकल अविद्याओं का मूल

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-५५
२ वही, पृष्ठ-५६
३ वही, पृष्ठ-५९
४ वही, पृष्ठ-६०
५ वही, पृष्ठ-६२
६ वही, पृष्ठ-६२

है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में जो कुछ भी विकृति हुई है, अविद्यारूप परिणमन हुआ है; उन सबका मूल असमानजातीयद्रव्य-पर्याय में एकत्वबुद्धि है, ममत्वबुद्धि है।

यद्यपि यह सत्य है कि गुरुदेवश्री ने गुणपर्यायों पर अधिक वजन दिया था। उनका उन पर वजन देना उचित भी था; क्योंकि उनकी तरफ जगत का ध्यान ही नहीं गया था। वे मात्र असमानजातीयद्रव्यपर्याय के सन्दर्भ में ही सोचते थे। इसलिए वह उस समय की अनिवार्य आवश्यकता थी; परन्तु अब उस पर आवश्यकता से अधिक ध्यान चला गया है; अत: इस पर पुन: ध्यान लाना जरूरी है।

गुरुदेवश्री ने प्रथम विवक्षा पर वजन दिया है और मैं इस दूसरी विवक्षा पर वजन दे रहा हूँ। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

केवलज्ञान भी पर्याय है एवं इसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है– यह बात बडे-बडे विद्वानों के ख्याल में नहीं थी। सम्यग्दर्शन भी पर्याय है, उसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है – यह भी किसी के ख्याल में नहीं था। ध्यान दिलाने पर भी लोग इस विवक्षा को नहीं समझते थे।

गुरुदेवश्री के पुण्यप्रताप से अब यह अवस्था हो गई है कि सब उसी को मानने लग गए हैं एव जो सकल अविद्याओं की मूल है – ऐसी जो असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उस द्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि को आज स्थूल बात कहने लगे हैं। स्वय को बडा पण्डित माननेवाले कुछ लोग उसकी चर्चा करने में भी शर्म महसूस करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह स्थूल कथन है।

क्या अमृतचन्द्राचार्य छोटे पण्डित थे ? क्या प्रवचनसार स्थूल बातों का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है ? अरे भाई ! इसी महाग्रन्थ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने यह लिखा है कि '**जो जीव मनुष्यादिक असमान-जातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि धारण करते हैं, वे आत्मा का अनुभव करने में नपुंसक है।**'

आचार्य कहते हैं कि ऐसा जो मनुष्यव्यवहार है, उसका आश्रय

करके यह जीव रागी-द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त होकर वास्तव में परसमय होता हुआ परसमयरूप ही परिणमित होता है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि उस मनुष्यव्यवहार में एकत्वबुद्धि ही मिथ्यात्व है। 'मैं सम्यग्दर्शन हूँ, मैं केवलज्ञान हूँ।' – यह मनुष्यव्यवहार नहीं है। इस कथन से आशय मात्र इतना ही है कि यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वय पूरा वजन असमानजातीयद्रव्यपर्याय पर ही दिया है।

स्वसमय और परसमय का तुलनात्मक विवेचन समयसार की आत्मख्याति टीका, प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका और पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका के आधार पर समयसार अनुशीलन भाग-१ में इसप्रकार किया गया है –

''समयसार की दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार में आत्मस्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। इसीप्रकार समयसार में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार में पर्यायों में निरत आत्मा को परसमय कहा गया है।

उक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। आत्मस्वभाव में स्थित होने का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; उसी को आत्मस्वभाव में स्थित होना कहते हैं और उसी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहते हैं।

समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का अर्थ मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में पर्यायों में निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या में आत्मख्याति में मोह-

राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका टीका में मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है।

आत्मख्याति में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है। रागादि के साथ एकता की बात उपचरित-सद्भूतव्यवहार कहता है और मनुष्यदेहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहता है।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है और वे तीनों भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है; सम्यग्ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है; भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्पने में कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नहीं होती।

अनन्तानुबधी कषाय के अभाव में चारित्र का अश चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाता है और पूर्णता वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवे गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान मे निश्चय-चारित्र होता है।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नाकित तीन भागों में रखा जाता है –

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थ गुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो बारहवें गुणस्थान से आगेवाले ही स्वसमय कहलायेंगे।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय – यह अपेक्षा तो ठीक; पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे – स्वसमय या परसमय ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पंचास्तिकाय की १६५वीं गाथा द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है–

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो॥

'शुद्धसम्प्रयोग से दु:खो से मोक्ष होता है' – अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है।

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है। वे आगे लिखते हैं कि यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहंताादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरजित चित्तवृत्ति ही शुद्धसम्प्रयोग है। जब अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी 'उस शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' – ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमे (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तबतक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है; तो फिर निरकुश रागरूपक्लेश से कलकित अतरगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यों नहीं कहलायेंगे ?

उक्त गाथा और उसकी टीका दोनों ही गभीर मथन की अपेक्षा रखती हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि **'ज्ञानी भी अज्ञान से'** – यह गाथा का वाक्य एव **'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी'** यह टीका का वाक्य – ये दोनो ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है ?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है; तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना संभव नहीं होता; क्योंकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहंतादि की भक्ति से अनुरंजित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है – ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है। अत: यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नहीं है।

यदि औदयिक अज्ञान की बात नहीं है और ज्ञानी के क्षायोपशमिक अज्ञान होता ही नहीं है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, यहाँ मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है। इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहत की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है – इस अभिप्राय वाले भी परसमय कहे जाते हैं तो फिर विषय-कषाय में सुखबुद्धि से निरंकुश प्रवृत्ति करनेवाले तो परसमय होंगे ही।

वस्तुत: तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नहीं; भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न ? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है। यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' – यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने में सकोच का अनुभव हो रहा है। उनका यह सकोच इस रूप में व्यक्त हुआ है कि वे कहते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है। यद्यपि गाथा में ऐसा कोई भेद नहीं किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखते हैं।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्मपरसमय हैं' – इसप्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने व्यक्त किया है। उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है –

कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासंयम में स्थित होने में अशक्त होता हुआ काम-क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पचपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है; तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है – ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

उक्त कथन में मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है। इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय हैं।[१]''

इस गाथा में मुख्यरूप से यह कहा गया है कि देह और उसमें विद्यमान आत्मा को मिलाकर हम स्वय को मनुष्य कहते हैं और जिनवाणी में भी व्यवहारनय से इन्हे एक कहा गया है। समयसार की २७वीं गाथा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि देह और आत्मा को एक कहना तो मनुष्यव्यवहार है और देह में विद्यमान, पर देह से भिन्न आत्मा को अपना मानना-कहना आत्मव्यवहार है।

इस आत्मव्यवहार से अपरिचित जो प्राणी मनुष्यव्यवहार के आधार पर देहसबधी सम्पूर्ण क्रियाकलाप को छाती से लगाते हैं; धर्म मानकर उसका सेवन करते हैं, उक्त क्रियाकाण्ड करके स्वय को धर्मात्मा समझते हैं; वे मिथ्यादृष्टि हैं, परसमय हैं और आत्मा का व्यवहार तो चेतनाविलास में अविचल रहना है; इसप्रकार जो ज्ञानी जीव उक्त आत्मव्यवहार को ही अपनी क्रिया मानते हैं, उसे ही धर्मरूप स्वीकार करते हैं; अनेक कमरों में घूमनेवाले रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकमात्र चेतनाविलासरूप स्वीकार करनेवाले वे ज्ञानी धर्मात्मा स्वसमय हैं।

१ समयसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ-३४ से ३८

जिसप्रकार भिन्न-भिन्न कमरों में ले जाया गया रत्नदीपक रत्नदीपकरूप ही रहता है, कमरों को प्रकाशित करने के कारण कमरोंरूप नहीं हो जाता और न कमरों की क्रिया को करता है; उसीप्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में रहनेवाला आत्मा आत्मारूप ही रहता है, वह किंचित्मात्र भी शरीररूप नहीं होता और न शरीर की क्रिया करता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि देह और आत्मा की एकरूप मनुष्यादि पर्यायों में अपनापन रखना अर्थात् अहबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना परसमयपना है और एकमात्र आत्मा में अपनापन रखना अर्थात् अहबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना स्वसमयपना है। •

परमागम आगम का ही अश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयभूत एव ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभाव-स्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावो को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामो से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निज शुद्धात्मतत्त्व पर लाना है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है।

अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है। **– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०३**

प्रवचनसार गाथा-९५

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा से ही आरंभ हुआ है। इसमें यह कहा गया है कि पर्यायमूढ जीव परसमय हैं; इसकारण आरंभ में ही पर्यायों की चर्चा विस्तार से की गई है। इसी संदर्भ में पर्याय के द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय भेद भी किये गये और यह कहा गया असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्व ही मुख्यतः परसमयपना है।

अत· यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि द्रव्य क्या है, जिसकी पर्यायों में अपनापन परसमयपना, मिथ्यात्व है।

इस शका के समाधान के लिए आगामी गाथा में द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है –

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पाद-व्यय-धुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।।९५।।

(हरिगीत)

निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें।।९५।।

जो स्वभाव (सत्ता) को छोडे बिना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – इन तीन से तथा गुण और पर्याय – इन दो से सहित है, उसे द्रव्य कहते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र मे द्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीन सूत्र लिखे है, जो इसप्रकार हैं –

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणं। गुणपर्ययवद् द्रव्यं।"

इनका अर्थ यह है कि सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य का लक्षण है और वह सत्ता उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त होती है तथा सत् द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और जिन-

प्रवचन के सार इस प्रवचनसार ग्रन्थ में समागत परिभाषाओं में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है; तथापि प्रवचनसार की एक ही गाथा में तत्त्वार्थसूत्र के तीनों सूत्रों के भाव को समाहित कर लिया गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

"स्वभावभेद किये बिना अर्थात् स्वभाव को छोडे बिना उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन दोनों से लक्षित द्रव्य है। इनमें से द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय है। अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

प्रादुर्भाव (प्रगट होना) को उत्पाद, प्रच्युति (नष्ट होना) को व्यय और अवस्थिति को ध्रौव्य कहते हैं।

विस्तारविशेष को गुण कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं – सामान्यगुण और विशेषगुण।

अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं।

अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व और चेतनत्वादि विशेष गुण हैं।

आयत विशेष को पर्याय कहते हैं, जिनका प्रतिपादन विगत गाथाओं में हो चुका है। द्रव्य का उत्पादादि और गुण-पर्यायों से लक्ष्य-लक्षणभेद होने पर भी स्वभावभेद नहीं है, स्वरूप भेद नहीं है; क्योंकि वस्त्र के समान द्रव्य उत्पादादि और गुण-पर्यायों से युक्त होता है।

जिसप्रकार मलिन वस्त्र धोने पर निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार पूर्वावस्थारूप परिणत जो

द्रव्य उचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य में अनेकप्रकार की अवस्थायें धारण करता है; वह अतरंग साधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकारण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र निर्मल अवस्था से उत्पन्न और मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र एक ही समय मे निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है; इसीप्रकार वही द्रव्य एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ और टिकनेवाली द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप शुक्लत्वादि गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है। इसीप्रकार वही द्रव्य विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायवर्ती तन्तुओं से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन तन्तुओं के साथ स्वरूप भेद नहीं है,

वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य आयतविशेषस्वरूप पर्यायो से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन पर्यायों के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका में दिये गये वस्त्र का उदाहरण को तो सक्षेप में देते ही हैं; साथ मे शुद्धात्मा का भी उदाहरण देते हुए तत्त्वप्रदीपिका के समान ही इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी भी प्रवचनसार परमागम में गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्रस्तुत समस्त विषयवस्तु को पॉच छन्दो में सांगोपाग प्रस्तुत करते है, जो मूलत· पठनीय हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य मे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया तेईसा)

जो न तजै अपनै निज पोरिष कौं नित एक स्वरूप रहैगौ।
जो जग मैं उपजै विनसै सु तथा पुनि ध्रौव्य सुभाव गहैगौ।।
जो गुनवंत अनंत सही परजायनि के सु प्रवाह बहैगौ।
लक्षिन ये लखिये जिहि मैं तिहि सौं सु आचारज द्रव्य कहैगौ।।४।।

जो अपने पुरुषार्थ को नहीं छोडते और अपने स्वरूप में ही रहते हैं और इस जगत मे जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को ग्रहण किये रहते हैं, जो अनन्त गुणवाले हैं और अनन्तानत पर्यायो मे बहते रहते हैं, परिणमित होते रहते हैं; जिनमे उक्त लक्षण पाये जाते हैं, उन्हें आचार्यदेव द्रव्य कहते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

''गाथा ९४ मे जिस द्रव्य-गुण-पर्याय के पिण्ड को आत्मस्वभाव कहा था। उस स्वभाव की यहॉ बात नहीं है। यहॉ पर सत्ता गुण को आत्म-स्वभाव कहा है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव, अस्तित्व से पृथक् नहीं हैं।

गुण और पर्यायें भी अस्तित्व से पृथक् नहीं हैं – ऐसा इस गाथा में कहना है।[1]

यहाँ द्रव्य को पहचानने के दो लक्षण कहे हैं –

१ उत्पाद-व्यय और ध्रुव तथा २. गुण और पर्याय।

गुण, ध्रुव में आ जाते हैं और पर्यायें उत्पाद-व्यय में आ जाती हैं; फिर भी विशेष विस्तार और स्पष्टीकरण के लिए दोनों लक्षणों को पृथक्-पृथक् कहा है।[2]

इस गाथा मे अभेद द्रव्य में भेद करके लक्षण से समझाया है। उत्पाद, व्यय पर्याय है और उनसे द्रव्य लक्षित होता है। ध्रुव वह गुण है और उससे द्रव्य लक्षित होता है।

इसप्रकार छह लक्षण-अस्तिस्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्याय से प्रत्येक द्रव्य लक्षित होता है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में – उपयोगरूप पर्याय से जीव को लक्षित किया है। द्रव्यानुयोग में त्रिकाली एकरूप रहनेवाले उपयोग से जीव को लक्षित किया है। प्रवचनसार में अस्तित्व स्वभाव से और उत्पाद-व्यय-ध्रुव, गुण-पर्याय ये तथा छह पृथक्-पृथक् लक्षणों को कहकर एक-एक लक्षण मे जीव को लक्षित करते हैं। इसलिए जहाँ जैसा है, वैसा समझना चाहिए।[4]

प्रत्येक आत्मा और रजकण (पुद्गल परमाणु) उनकी वर्तमान अवस्था और त्रिकाली गुणों द्वारा ही पहिचाने जाते हैं। प्रत्येक की निरन्तर प्रवाहित होनेवाली अवस्था उस समय उसके आधार से होती है; किन्तु वह किसी अन्य के आधार से हुई है – ऐसा मानना बहुत बडा भ्रम है।

जैसे नदी में पानी बहता जाता है, उसे देखने में भार नहीं लगता तथा उससे ममता नहीं होती; किन्तु यदि घडा भरकर सिर पर रखे तो भार लगता है, वैसे ही जगत के पदार्थ अपनी-अपनी शक्ति द्वारा परिवर्तन को

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-६६
२ वही, पृष्ठ-६६-६७
३ वही, पृष्ठ-७३
४ वही, पृष्ठ-७७-७८

प्राप्त होकर उनकी द्रव्यसत्ता को बताते हैं, इसे जानने में कोई दुख नहीं है, इसके बदले जो उसमें कर्तापने की स्थापना करता है, वह परपदार्थों को ज्ञेय नहीं मानता; अपितु मैंने इतनों का किया-कराया है – ऐसा मान कर ममता का बोझ ढोता है, किन्तु यदि वस्तुस्वरूप का विचार करे तो यह ममता घट सकती है। स्वयं ध्रुव सत्तावाला है – ऐसा जाने तो किसी का बोझा नहीं लगे, त्रिकाली की रुचि करे तो विकार की अल्पता लगे और विकार की रुचि दूर होकर त्रिकाली स्वरूप में सुख भासित हो।[१]"

इसप्रकार हम देखते है कि यहाँ प्रत्येक द्रव्य के अस्तित्व को ही द्रव्य का लक्षण माना गया है और उक्त अस्तित्व में गुण-पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी समाहित हो जाते हैं। इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य या उसके गुणों में जो उत्पादादिरूप परिणमन होता है, परिवर्तन होता है; वह अस्तित्वस्वभाव को छोडे बिना ही होता है।

टीका में अस्तित्व के भेद स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व की भी चर्चा है और सामान्य-विशेष गुण भी बताये गये हैं। वस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह भी समझाया गया है कि अस्तित्व, गुण-पर्याय, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ द्रव्य का स्वरूप भेद नहीं है। यद्यपि उनमे लक्ष्य-लक्षणभेद है; तथापि स्वरूपभेद नहीं है।

जो लोग स्वरूप और लक्षण को एक ही मान लेते हैं; उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन का विशेष ध्यान देना चाहिए कि लक्षणभेद तो है, पर स्वरूपभेद नहीं है। यद्यपि स्वरूप और लक्षण मे अन्तर है, तथापि ये उत्पादादि व गुण-पर्याय द्रव्य के स्वरूप भी है और लक्षण भी।

अस्तित्व सभी का एक है, अत· स्वरूप भेद नहीं है; पर सभी के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए लक्षण भेद है।

उक्त सभी के लक्षण टीका में दिये ही गये है; अत यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१ *दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-९१-९२*

महासत्ता सादृश्यास्तित्व का ही दूसरा नाम है एवं अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व का दूसरा नाम है।

अपने स्वभाव को छोडे बिना – इस पद का अर्थ यह है कि वस्तु स्वरूपास्तित्व को छोडे बिना सादृश्यास्तित्व में सम्मिलित है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि आप दिगम्बर हैं या जैन हैं ?

हम जैन भी हैं और दिगम्बर भी हैं; क्योंकि दिगम्बर जैन हैं। दिगम्बर और जैन – दोनों का एक साथ होने में कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं। इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता और महासत्ता – दोनों से समृद्ध हैं; क्योंकि हम ज्ञानानन्दस्वभावी हैं। इसमें ज्ञानानन्दस्वभाव हमारी अवान्तरसत्ता है और 'हैं' अर्थात् अस्तित्व महासत्ता है।

हम चेतन होकर भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त और गुणपर्याय से युक्त द्रव्य हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त और गुण-पर्यायों से सहित होना हमारी महासत्ता है और ज्ञानानन्दस्वभावी चेतन होना हमारी अवान्तर सत्ता है। महासत्ता से हम सबसे जुडे हैं और अवान्तरसत्ता की वजह से हमारा अस्तित्व स्वतत्र है।

इसप्रकार हमने स्वरूपास्तित्व को छोडा नहीं है और हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं। हम ऐसी महासत्ता के अंश हैं, जिसमें स्वरूपास्तित्व को छोडना जरूरी नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व में भी शामिल हूँ एव सादृश्यास्तित्व में भी शामिल हूँ।

इसप्रकार सभी जीव द्रव्य सादृश्यास्तित्व एव स्वरूपास्तित्व से युक्त हैं। सभी का अस्तित्व समान है। आप भी अनंतगुणवाले हो एव मैं भी अनतगुणवाला हूँ, पुद्गल भी अनंतगुणवाला है। आप भी गुणपर्याय से युक्त हैं एव मैं भी गुणपर्याय से युक्त हूँ। महासत्ता की अपेक्षा हम, तुम– सभी एक हैं, एक से हैं; अत: इस अस्तित्व का नाम सादृश्यास्तित्व है।

सादृश्य अर्थात् एक-सा होना। एक से होने में भी जगत में 'एक हैं' – ऐसा व्यवहार किया जाता है। हम सभी जैन एक हैं। हममें भी जैनत्व

की श्रद्धा है और आपमें भी जैनत्व की श्रद्धा है। इसप्रकार हम कहना तो यही चाहते हैं कि 'हम एक से हैं।' परंतु सादृश्यास्तित्व की लोक में ऐसी भाषा है कि उसे 'एक हैं' – ऐसा ही कहा जाता है; क्योंकि यदि 'एक-सा' ऐसा कहते हैं तो उसमें भेद नजर आता है; परंतु 'एक' ऐसा कहने में एकता नजर आती है।

अत: हमें यह अपने ज्ञान में समझ लेना चाहिए कि हम जो ऐसा कह रहे हैं कि हम सब जैन एक हैं, हम सब भारतीय एक हैं – यह सब सादृश्यास्तित्व की विवक्षा से कहा जा रहा है।

यद्यपि हम सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा से एक हैं; परंतु स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा से हम किसी से भी एक (अभेद) नहीं हैं। यह सादृश्यास्तित्व का जो कथन जिनागम में किया है, वह स्वरूपास्तित्व को छोडे बिना है। हमने उस स्वरूपास्तित्व को छोडकर पर के साथ एकत्व स्थापित कर लिया है – यही मिथ्यादर्शन है, यही पर्यायमूढता है, परसमयपना है।

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा हम सब एक हैं। इसप्रकार परपदार्थों से हमारा 'हैं' का सम्बन्ध है, अस्तित्व का संबध है; परतु इसमें प्रत्येक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है – यही स्वरूपास्तित्व है। ●

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वय है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है अथवा पर्याय की कर्ता स्वय पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीवद्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है ? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो ?

– क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८

प्रवचनसार गाथा-९६

विगत गाथा में द्रव्य की परिभाषा बताई गई है; जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

अब इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्ययधुवत्तेहिं ॥९६॥

(हरिगीत)

गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है ॥९६॥

गुण और अनेकप्रकार की पर्यायों तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व सदाकाल है; वह वस्तुत: द्रव्य का स्वभाव है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है और वह अस्तित्व अन्य साधनों से निरपेक्ष होने के कारण अनादि-अनंत होने से, अहेतुक एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवर्तित होने के कारण विभावधर्म से निरपेक्ष होने से, भाव और भाववानता के कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व धारण करता हुआ अस्तित्व, द्रव्य का स्वभाव ही क्यो न हो ?

तात्पर्य यह है कि अनादि-अनंत होने से, विभावधर्म से विलक्षण होने से और प्रदेशभेद न होने से अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार वह अस्तित्व भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त हो जाता है, उसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रत्येक में समाप्त नहीं होता;

क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है। यदि एक न हो तो दूसरा भी सिद्ध नहीं होता; इसलिए उनका अस्तित्व सोने की भाँति एक ही है।

जिसप्रकार जो द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोने से पृथक् दिखाई नहीं देते; उन पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से उत्पन्न पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है; उसीप्रकार जो द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से पृथक् दिखाई नहीं देते, उन गुणों और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से उत्पन्न गुणो और पर्यायों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो सोना पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता; उस सोने के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायो से उत्पन्न सोने का मूल साधनपने सोने से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो द्रव्य, गुणों और पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता, उस द्रव्य के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान गुणो और पर्यायों से उत्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने द्रव्य से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है।

इसप्रकार यहाँ गुण-पर्यायों से द्रव्य का और द्रव्य से गुण-पर्यायों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और उसे द्रव्य का स्वभाव बताया गया है।

जिसप्रकार सोने के उदाहरण से द्रव्य का और गुण-पर्यायों का एक ही अस्तित्व है – यह समझाया है, उसीप्रकार अब सोने के उक्त उदाहरण से ही यह समझाते हैं कि द्रव्य का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी एक ही अस्तित्व है और वह द्रव्य का स्वभाव है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोने से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से कुण्डलादि उत्पादों के, वाजूबदादि व्ययों के

और पीतत्वादि ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से निष्पन्न कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंदादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्यों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरण से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से निष्पन्न उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से कुण्डलादि उत्पादों, बाजूबदादि व्ययो और पीतत्वादि ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता-करण अधिकरणरूप से सोने के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान कुण्डलादि उत्पादों, बाजूबदादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्यों से निष्पन्न सोने का मूल साधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से द्रव्य के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यो से निष्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है; वह द्रव्य का स्वभाव ही है।''

उक्त टीका का संक्षिप्त सार यह है कि द्रव्य और अस्तित्व में प्रदेशभेद नहीं है। वह अस्तित्व अनादि-अनत है, अहेतुक एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है; इसलिए विभाव धर्म से भिन्न है। ऐसा होने से वह अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

इसीप्रकार गुण-पर्यायों और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है, अभेद ही है; क्योंकि गुण-पर्यायें द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं और द्रव्य गुण-पर्यायों से निष्पन्न होता है।

इसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से ही निष्पन्न होते हैं और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यों से ही निष्पन्न होता है।

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को सोने के उदाहरण से तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा का भाव प्रवचनसार परमागम में २ मनहरण कवित्त और २ दोहा – इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। गाथा और टीका का सम्पूर्ण भाव उक्त छन्दों में समाहित हो गया है; जो मूलत: पठनीय है; तथापि नमूने के तौर पर दोनों दोहे प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

दरव स्वगुनपरजायकरि, उतपत-वय-ध्रुव-जुत्त।
रहत अनाहतरूप नित, यही स्वरूपास्तित्त।।
पर दरवनि के गुन परज, तिनसों मिलतौ नाहिं।
निज स्वभावसत्ताविषैं, प्रनमन सदा कराहिं।।

द्रव्य अपने गुण-पर्यायों के द्वारा उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुवत्व से युक्त होकर सदा ही अनाहतरूप से रहता है। यही उसका स्वरूपास्तित्व है।

प्रत्येक द्रव्य परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से मिलता नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ता में ही सदा परिणमन करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"छहों द्रव्यों में दो प्रकार का अस्तित्व है –

१ स्वरूप अस्तित्व, २ सादृश्य अस्तित्व। आत्मा आदि सभी द्रव्य त्रिकाल अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभेद हैं और पर से अत्यत पृथक् हैं – इसका नाम स्वरूप-अस्तित्व है।[1]

प्रत्येक द्रव्य मे स्वभावरूप ऐसा स्वरूप-अस्तित्व है, वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता; इसीलिए अनादि-अनत, अहेतुक, एकरूप अवस्था से सदा ही परिणमित होने से वह विभाव धर्म से पृथक लक्षणवाला है तथा उसमें अपूर्णता भी नहीं है।[2]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-९७ २ वही, पृष्ठ-९७-९८

द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से स्वर्ण के अस्तित्व द्वारा उसके सभी गुण-पर्यायों को पहिचाना जा सकता है और पीलापन आदि गुणों तथा कुण्डलादि पर्यायों द्वारा स्वर्ण का अस्तित्व है – ऐसा पहिचाना जाता है, किन्तु किसी सोनी आदि संयोग से वह नहीं पहिचाना जाता – ऐसा स्वर्ण का स्वभाव है।[१]

एक समय की कुण्डलादि पर्याय सम्पूर्ण सोने को टिकाये रखती है – पीतादि गुणों और उसकी अवस्था न हो तो स्वर्ण ही न हो; इसलिए गुण-पर्यायों का अस्तित्व वही द्रव्य का अस्तित्व है – ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।[२]

एक परमाणु की पर्याय के उत्पन्न होने अथवा बदलने का कारण कोई दूसरा परमाणु नहीं है तथा किसी की इच्छा-ज्ञानादि भी इसका कारण नहीं है। फूटने के समय यदि घड़ा नहीं फूटे और ठीकरे का उत्पाद न हो तो वस्तु का स्वरूप टिक (रह) नहीं सकता। मूलकारण को नहीं देखकर सयोग से देखनेवाले मूढजीव को असली वस्तुस्वरूप की सत्ता का सुनना भी अच्छा नहीं लगता। यह अरुचि उसके द्रव्य की पहिचान कराती है।[३]"

इसप्रकार इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि स्वरूपास्तित्व प्रत्येक द्रव्य में अपना-अपना स्वतंत्र है।

तात्पर्य यह है कि हम किसी महासत्ता के अश नहीं हैं, अपितु हमारी सत्ता पूर्णत: हम में ही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्णत: स्वतंत्र है; उसीप्रकार एक द्रव्य के अन्तर्गत होनेवाले गुणों की, प्रदेशों की और पर्यायों की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु एक ही है। तात्पर्य यह है द्रव्य, उसके गुण और उनकी पर्यायों में प्रदेशभेद नहीं हैं।●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-९९

२ वही, पृष्ठ-१०५

३ वही, पृष्ठ-१०७

प्रवचनसार गाथा-९७

विगत गाथा में स्वरूपास्तित्व की चर्चा की गई; अब इस गाथा में सादृश्यास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।९७।।

(हरिगीत)

रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने।।९७।।

जिनवरवृषभ ने धर्म का उपदेश करते हुए इस विश्व में विविध लक्षण वाले द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।

तात्पर्य यह है कि अपने-अपने स्वरूपास्तित्व से सम्पन्न सभी द्रव्यों को मिलाकर एक लक्षण सत् (सादृश्यास्तित्व) है। ऐसा जिनवरदेव ने कहा है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि इस लोक में विचित्रता से विस्तारित सभी द्रव्य अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त रहकर अपनी-अपनी सीमा में रहते हुए विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं; तथापि सभी द्रव्यों का विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सभी द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहनेवाला, प्रत्येक द्रव्य की सीमा की उपेक्षा करता हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वग्राह्य सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है, वह वस्तुत: एक ही होता है।

इसप्रकार 'सत्' ऐसा वचन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) है। यदि वह सभी पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई

असत्, कोई सत्-असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए; किन्तु यह तो विरुद्ध ही है; क्योंकि 'सत्' कथन और ज्ञान के सर्वपदार्थपरामर्शी होने की बात वृक्ष की भाँति सिद्ध होती है।

जिसप्रकार अनेकप्रकार के बहुत से वृक्षों के अपने-अपने विशेष-लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के बहुत से द्रव्यों के अपने-अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है।

जिसप्रकार इन्हीं वृक्षों के विषय में सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के विषय में भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने-अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसप्रकार आम, अशोक आदि अनेकप्रकार के अनेक वृक्षों का अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी वृक्षों में समानरूप से पाये जानेवाले वृक्षत्व की अपेक्षा सभी वृक्षों में एकत्व (अभिन्नत्व) है।

जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्य-अस्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्त्वि) गौण हो जाता है।

इसीप्रकार जीव, पुद्गल आदि अनेकप्रकार के अनेक द्रव्यों का

अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जानेवाले द्रव्यत्व की अपेक्षा सभी द्रव्यों में एकत्व (अभिन्नत्व) है।

जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्यास्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्तित्व) गौण हो जाता है।

इसप्रकार जब सामान्य सत्पने की मुख्यता से लक्ष्य में लेने पर सभी द्रव्यों के एकत्व की मुख्यता होने से अनेकत्व गौण हो जाता है; तब भी वह अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को सिद्धभगवान, सेना और वन के उदाहरण से इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जिसप्रकार मुक्तात्मा कहने से सभी सिद्धों का ग्रहण हो जाता है; सेना कहने पर घोडा, हाथी आदि पदार्थों का और वन कहने पर नीम, आम आदि वृक्षों का ग्रहण हो जाता है, उसीप्रकार 'सभी सत् हैं' – ऐसा कहने पर सग्रह नय से सभी पदार्थों का ग्रहण हो जाता है, सादृश्यास्तित्व नामक महासत्ता का ग्रहण हो जाता है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव को १ मनहरण और ३ दोहों –इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें से तीन दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

सहज स्वरूपास्तित्व करि, जुदे-जुदे सब दर्व।
निज-निज गुन लच्छन धरैं, है विचित्र गति पर्व।।
अरु सादृश्यास्त्वि करि, सब थिर थपन अबाध।
सत लच्छन के गहन तैं, यही एक निरुपाध।।
तिहूँकाल में जास को, बाधा लगै न कोय।
सोई सतलच्छन प्रबल, सब दरवनि में होय।।

प्रत्येक द्रव्य में सहजता से प्राप्त स्वरूपास्तित्व अर्थात् अवान्तरसत्ता

की अपेक्षा से सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न ही हैं; क्योंकि वे सभी द्रव्य अपने-अपने लक्षणों को धारण किये हैं, उनसे वे पहिचाने जाते हैं। यह जगत का विचित्र स्वरूप है।

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा सभी स्थिर हैं, अबाधित हैं और सत् लक्षण से ग्रहण किये जाते हैं। यह एक निरुपाधि सत्य है।

जिसको तीनकाल में कहीं कोई बाधा नहीं लगती – ऐसा प्रबल सत् लक्षण सभी द्रव्यों में होता है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डित देवीदासजी ने १ अडिल्ल, २ चौपाई और २ दोहे लिखे हैं; जो मूलतः पठनीय हैं।

नमूने के रूप में दोनों दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

आम-नीम आदिक सु ज्यौं तरवर बहुत प्रकार।
सो पुनि वृक्ष विचार करि एक रूप निरधार।।९।।
ज्यों स्वरूप अस्तित्व करि वस्तु प्रकार अनेक।
दीसे सो साद्रस्यता सौं सु प्रगट विधि एक।।१०।।

जिसप्रकार आम, नीम आदि के रूप में वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं। यदि उनके बारे में एक वृक्षपने की अपेक्षा विचार किया जाय तो सभी एकरूप ही हैं; उसीप्रकार स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं। यदि उनके बारे में सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा विचार करें तो सभी एकरूप ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सर्व पदार्थों को सर्व प्रकार से एक अस्तित्व भाव द्वारा जानने पर कोई मिथ्या कल्पना नहीं होती। जैसे हैं, वैसा ज्ञान जानता है। किसी की निगोद पर्याय तो किसी की पूर्ण सिद्ध पर्याय, कोई साधक तो कोई विराधक आदि जैसे हैं वैसे हैं।[१]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-११७

समस्त पदार्थ हैं – ऐसा कहने की योग्यता वचन की है। समस्त पदार्थ हैं, ऐसा जानने की योग्यता ज्ञान में है और समस्त पदार्थ हैं – ऐसी सत् सामान्यरूप ज्ञेयत्व की योग्यता उनमें है।[१]

सामान्य सत् का एकरूप होना मानने पर भी प्रत्येक के पृथक्त्व का नाश नहीं होता, अपितु प्रत्येक रजकण-रजकण पृथक् रहता है।[२]''

उक्त कथन का सार यह है कि सत्ता दो प्रकार की है – अवान्तरसत्ता और महासत्ता। अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व है; जो प्रत्येक द्रव्य में पृथक्-पृथक् है और उसके प्रदेशों, गुणों और पर्यायों में व्याप्त है।

महासत्ता वह सत्ता है, जो सामान्यरूप से सभी द्रव्यों में व्याप्त है, उनके गुण-पर्यायों में व्याप्त है। इसे सादृश्यास्तित्व भी कहते हैं।

इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हमें अपना अपनत्व स्वरूपास्तित्व में रखना है, सदृशता के आधार पर सभी पदार्थों में नहीं।

स्वरूपास्तित्व में द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई बनाई गई है।

यह समयसार में वर्णित इकाई नहीं है, जिसमें द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा गया है, प्रदेशभेद एव गुणभेद को भी भिन्न कहा गया है। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई है, जिसे स्वरूपास्तित्व कहा गया है।

प्रश्न – हमसे अतिरिक्त जो द्रव्य हैं, उनके साथ हमारी जो एकता की कल्पना है, वह किस आधार पर है, उसमें क्या हेतु है ?

उत्तर – इसमे हेतु मात्र इतना ही है कि वे भी हैं और हम भी हैं; इसप्रकार मात्र अस्तित्व का हेतु है। इसप्रकार मात्र 'है' की रिश्तेदारी है। मेरे और गधे के सींग में कोई सबंध नहीं है; क्योंकि गधे के सींग की न तो अवान्तरसत्ता है और न ही महासत्ता है; क्योंकि वह है ही नहीं और मैं हूँ। इसप्रकार तुम भी हो और मैं भी हूँ – इसप्रकार यहाँ 'है' का सबध है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-११७ २ वही, पृष्ठ-१२४

अब आचार्य कह रहे हैं कि जिसने मात्र अस्तित्व संबंध के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर किसी पर से अपनापन स्थापित कर लिया; वह मिथ्यादर्शन का धारी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार में यह बताया था कि सादृश्यास्तित्व के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर सबंध स्थापित कर लेना मिथ्यात्व है तथा प्रवचनसार में यह बताया जा रहा है कि उससे मिथ्यात्व न हो जाय – इस डर से उस महासत्तावाले तथ्य से इन्कार करना भी मिथ्यादर्शन ही है।

महासत्ता से लेकर अवान्तरसत्ता के मध्य अनन्त सत्ताएँ हैं। 'हम सब एक हैं' – इसमें शुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है। इसके पश्चात् 'हम सब मनुष्य हैं' – इसमें भी अशुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है।

'हम सब ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हैं' – यह भी महासत्ता ही है, सादृश्यास्तित्व ही है। अवान्तरसत्ता अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर नहीं निकलती है; जबकि महासत्ता में सबको शामिल किया गया है। इसप्रकार महासत्ता और अवान्तरसत्ता के मध्य अगणित सत्ताएँ हैं।

जिसमें सबकुछ आ जाय, वह शुद्धमहासत्ता है और जिसमें सबकुछ तो न आवे, पर बहुतकुछ आ जाय; वह अशुद्धमहासत्ता है। 'हम सब हैं' यह शुद्धमहासत्ता का उदाहरण है और 'हम सब मनुष्य हैं' – यह अशुद्धमहासत्ता का उदाहरण है।

शुद्धसग्रहनय में शुद्धमहासत्ता की विवक्षा है और अशुद्धसग्रहनय में अशुद्धमहासत्ता की विवक्षा है। ऋजुसूत्रनय मात्र अवान्तरसत्ता को ग्रहण करता है। व्यवहारनय शुद्धमहासत्ता में तबतक भेद करता है कि जबतक अवान्तरसत्ता तक न पहुँच जावें। इसीप्रकार सग्रहनय अवान्तर सत्ताओं का तबतक सग्रह करता है कि जबतक शुद्ध महासत्ता तक न पहुँच जावें।

ये संग्रहनय और व्यवहारनय परस्पर विरुद्ध कार्य करनेवाले भी हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं।

व्यवहारनय हमें शुद्धमहासत्ता से अवान्तरसत्ता तक लाता है और

संग्रहनय अवान्तरसत्ता से शुद्ध महासत्ता तक ले जाता है। इस प्रक्रिया से वस्तु के स्वरूप की जानकारी निर्मल होती है।

ध्यान रहे यह व्यवहारनय निश्चय-व्यवहारवाला व्यवहारनय नहीं है; यह तो नैगमादि सप्त नयों में आनेवाला व्यवहारनय है। इस व्यवहारनय का जोडा निश्चयनय से नहीं है; अपितु संग्रहनय से है।

'हम सब एक हैं' - ऐसा कहा, इसमें 'हैं' के आधार पर शुद्ध महासत्ता है अर्थात् इसमें सब सन्मात्र के आधार पर एक हो गए हैं। फिर 'चेतन' ऐसा भेद किया है, उसमें चेतनता भी महासत्ता का ही भेद है, इसमें अवान्तर सत्ता नहीं है; क्योंकि चेतनता सब जीवों में है; जबकि दो जीवों की अवान्तरसत्ता पृथक्-पृथक् है। मेरी चेतना अलग है एव आपकी चेतना अलग है; इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता तक तो आए नहीं। यह तो मात्र जीवत्व एव द्रव्यत्व की पहचान है। यहाँ 'स्व' की पहचान नहीं है।

'जीवत्व' यह मेरी पहचान नहीं है। जीवत्व इस लक्षण में अनत जीव समाहित होते हैं। फिर जीव से अलग होकर 'मनुष्य' पर आए; मनुष्य देवों तथा नारकियों से पृथक् हैं, किन्तु मनुष्य भी २९ अंकप्रमाण हैं। इन सभी को 'मनुष्य' इस महासत्ता मे समाहित कर लिया; इसलिए यह शुद्ध नहीं है; यह अशुद्धमहासत्ता है।

वस्तुत: हम महासत्ता से अवान्तरसत्ता अर्थात् सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व तक आएँ, अपने अस्तित्व तक आएँ; ऐसी स्थिति में जितने भी सबध स्थापित होंगे, वे सब सदृशता के आधार पर स्थापित होने के कारण महासत्ता के आधार पर ही स्थापित होंगे।

यह सब शुद्धमहासत्ता तथा अशुद्धमहासत्ता के आधार पर ही होता है।

स्वरूपास्तित्व के अतिरिक्त कोई भी हमारा नहीं है। इसे छोडकर सभी सबध असद्भूत हैं।

पर के साथ में हमारा जो महासत्ता सबधी सबध है; उससे इन्कार कर

देना भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के छूटे बिना अन्य मिथ्यात्व छूटेगा ही नहीं।

इस महासत्ता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। आज तो सभी स्वरूपास्तित्व अर्थात् एक आत्मद्रव्य के भीतर जो गुण-पर्याय के भेद हैं, उन्हीं में उलझ कर रह गये हैं। सभी लोग भगवान आत्मा के स्वरूपास्तित्व के अन्दर ही स्व-पर भेद करने में जुटे हैं।

अरे भाई ! जो प्रदेशभेद, गुणभेद और पर्यायों से पृथकता की बात है, वह तो विकल्पों की उत्पत्ति न हो – इस अपेक्षा से कही गई है। वह तो प्रयोजनवश किया गया कथन है; वस्तु का मूलस्वरूप तो स्वरूपास्तित्व की मर्यादा में ही है।

यह तो आप जानते ही हैं कि स्वरूपास्तित्व में एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय – सभी समाहित हो जाते हैं। ●

जब कोई आदमी अत्यन्त पवित्रभाव से बिना किसी स्वार्थ के बिना किसी अच्छे काम को करता है और उस कार्य में सफलता मिलती है, प्रोत्साहन मिलता है, यश मिलता है और जिस पावन उद्देश्य से उसने कार्य आरम्भ किया था, यदि उसमें कुछ उन्नति प्रतीत होती है तो उसका उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढने लगता है। उत्साह के बढ़ने से कार्य को भी गति मिलती है और ऐसा लगने लगता है कि अब सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने में कुछ देर नहीं। किन्तु 'श्रेयासि बहु विघ्नानि' की नीत्युनसार जब उसके उन कार्यों में विघ्न पडने लगता है, उस पवित्र कार्य के कारण भी जब उसके अपयश मिलने लगता है, उस पर अवाछित शक किये जाने लगते हैं, उसे बदनाम किया जाने लगता है तो उसका सारा उत्साह ठडा पडने लगता है। उसके हृदय में एक वितृष्णा का भाव जगने लगता है। यद्यपि वह कार्य अच्छा भी हो, तथापि उस कार्य के प्रति उसके हृदय में एक अरुचि-सी उत्पन्न हो जाती है। वह सोचने लगता है – यहाँ तो होम करते ही हाथ जलते हैं। **–सत्य की खोज, पृष्ठ-१४४**

प्रवचनसार गाथा-९८

विगत ९६-९७वीं गाथाओं में स्वरूपास्तित्व (अवान्तरसत्ता) और सादृश्यास्तित्व (महासत्ता) का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस ९८वीं गाथा में यह बताते हैं कि प्रत्येक द्रव्य सिद्ध और सत् स्वभाव से ही है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ।।९८।।

(हरिगीत)

स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है।
यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये।।९८।।

'द्रव्य स्वभाव से सिद्ध और सत् है' – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो इसे नहीं मानता, वह वस्तुत: परसमय है।

गाथा में द्रव्य को स्वभाव से सत् और सिद्ध कहा है। इसमें 'सिद्ध' शब्द का अर्थ 'मुक्त' नहीं है; अपितु यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही निर्मित है, वह किसी का निर्माण नहीं है। वह अनादि-अनत स्वत·सिद्ध अकृत्रिम पदार्थ है और उसका अस्तित्व भी स्वयं से ही है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुत: बात यह है कि द्रव्यों से किसी अन्य द्रव्य का आरभ (उत्पत्ति) नहीं होता; क्योंकि सभी द्रव्य अनादि-अनत होने से स्वभाव से ही सिद्ध हैं; क्योंकि अनादिनिधन पदार्थ अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखते। सभी पदार्थ मूल साधन के रूप में अपने गुण-पर्यायात्मक स्वभाव के कारण स्वयमेव सिद्ध हैं।

जो द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, वे अन्य द्रव्य (द्रव्यातर) नहीं हैं; सदा

नहीं होने से, कभी-कभी होने से वे तो द्विअणुक आदि व मनुष्यादि पर्यायें हैं; द्रव्य तो निरवधि त्रिकाली होने से उत्पन्न ही नहीं होते।

द्रव्य जिसप्रकार स्वभाव से सिद्ध है; उसीप्रकार वह स्वभाव से ही सत् भी है; क्योंकि वह अपने सत्तास्वरूप स्वभाव से निष्पन्न है – ऐसा निश्चित करना चाहिए।

जिसके समवाय से द्रव्य सत् हो – ऐसी अन्य द्रव्यरूप कोई सत्ता नहीं है। अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं –

पहली बात तो यह है कि डंडा और डंडी (डंडेवाला पुरुष) में जिसप्रकार की युतसिद्धता (दो पदार्थों का जुडना) पाई जाती है; उसप्रकार की युतसिद्धता सत् द्रव्य और सत्ता गुण में नहीं पाई जाती; इसलिए सत्ता और द्रव्य में अर्थान्तरत्व नहीं है।

दूसरे सत्ता और द्रव्य में अयुतसिद्धता से भी अर्थान्तरत्व नहीं बनता।

'इसमें यह है' अर्थात् 'द्रव्य में सत्ता है' – ऐसी प्रतीति के कारण अर्थान्तरत्व बन जायेगा – यदि कोई यह कहे तो उससे पूछते हैं कि 'इसमें यह है' – ऐसी प्रतीति किसके आश्रय से होती है ?

यदि ऐसा कहा जाय कि भेद के आश्रय से होती है अर्थात् द्रव्य और सत्ता में भेद है, इसकारण होती है।

वह कौन-सा भेद है – प्रादेशिक या अताद्भाविक ?

प्रादेशिक भेद तो है नहीं; क्योंकि युतसिद्धत्व पहले ही निरस्त कर दिया गया है। प्रदेशभेद तो युतसिद्धों में ही होता है।

यदि अताद्भाविक भेद कहा जाय तो ठीक ही है; क्योंकि ऐसा तो शास्त्र का भी वचन है। शास्त्रों में भी कहा है कि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है; परन्तु यह अताद्भाविक भेद एकान्त से 'इसमें यह है' – ऐसी प्रतीति का कारण नहीं है; क्योंकि वह अताद्भाविक भेद स्वय ही उन्मग्न-निमग्न होता है।

जब पर्यायार्थिकनय से देखा जाय, तब ही 'यह शुक्ल वस्त्र है,

इसका शुक्लत्व गुण है' इसप्रकार गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है – इसप्रकार अताद्भाविक भेद उन्मग्न (उदित) होता है; परन्तु जब द्रव्यार्थिकनय से देखा जाय, तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष अस्त हो गये हैं – ऐसे उस जीव को 'शुक्ल वस्त्र ही है' इत्यादि की भाँति ऐसा द्रव्य ही है' – इसप्रकार देखने पर अताद्भाविक भेद समूल ही निमग्न (अस्त) हो जाता है।

उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरपना निमग्न होता है; इसलिए समस्त ही एक द्रव्य होकर रहता है।

जब भेद उन्मग्न होता है तो उसके आश्रय से उत्पन्न होती हुई प्रतीति उन्मग्न होती।

उसके उन्मग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरपना उन्मग्न होता है, तब भी द्रव्य के पर्यायरूप से उन्मग्न होने से, जिसप्रकार जलराशि से जलतरगे व्यतिरिक्त (भिन्न) नहीं हैं, उसीप्रकार द्रव्य से गुण व्यतिरिक्त नहीं हैं।

इससे यह निश्चित हुआ कि द्रव्य स्वयमेव सत् है। जो ऐसा नहीं मानता, वह वस्तुत· परसमय (मिथ्यादृष्टि) ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका की बात को सक्षेप में दुहरा देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को ३ मनहरण छन्द और १ दोहा – इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते है; जिसमें कतिपय छन्द इसप्रकार हैं –

(दोहा)

जदपि जीव पुद्गल मिले, उपजहिं बहु परजाय।
तदपि न नूतन दरव की, उतपति वरनी जाय।।

यद्यपि जीव और पुद्गल मिलकर अनेक असमानजातीयद्रव्य-पर्यायरूप परिणमित होते हैं, तथापि नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

(मनहरण)

द्रव्य गुनखान तामें सत्ता गुन है प्रधान,
गुनी-गुन को यहाँ प्रदेशभेद नाहीं है।
संज्ञा संख्या लच्छन प्रयोजनतैं द्रव्यमाहिं,
कथंचित भेद पै न सर्वथा कहाहीं है॥
दंड के धरे तैं जैसे दंडी तैसे यहाँ नाहिं,
यहाँ तो स्वरूप तैं अभेद ठहराहीं है।
दर्व को सुभाव है अनंत गुनपर्जबंत,
ताको सांचो ज्ञान भेदज्ञानी वृन्द पाहीं है॥

यद्यपि द्रव्य गुणो की खान है; तथापि उनमें सत्ता गुण मुख्य है। गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं है। यद्यपि सज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा इनमें कथचित् भिन्नता है; तथापि सर्वथा भेद नहीं है।

जिसप्रकार डंडा धारण करने से किसी को डंडी कहा जाता है; उसप्रकार की बात यहाॅ नहीं है। कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि यहाॅ तो स्वरूप की अपेक्षा अभेद ही है। द्रव्य का स्वभाव तो अनत गुण-पर्यायवाला है। उसका सच्चा ज्ञान तो भेदज्ञानियो को ही होता है।

(मनहरण)

जब परजायद्वार दरव विलोकिये तौ,
गुनी-गुन भेदनि की उठत तरग है।
और जब दर्वदिष्ट देखिये तौ गुनी-गुन,
भेदभाव डूबै रहै एक रस रंग है॥
जैसे सिन्धुमाहिं भेद जद्दपि कलोलिनि तैं,
निहचै निहारैं वारि सिंधु ही को अंग है।
तैसे दोनों नैन के समान दोनों नयननि तैं,
वस्तु को न देखै सोई मिथ्याती कुढंग है॥

जब द्रव्य को पर्यायदृष्टि से देखा जाता है तो गुण-गुणी भेद की तरगे

उठती हैं और जब उसी द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से देखा जाता है तो गुण-गुणी का भेदभाव अतीन्द्रिय आनन्द के रसरग में डूबा रहता है।

यद्यपि समुद्र में कल्लोलों का भेद है; तथापि निश्चयनय से देखने पर कल्लोलों में जो पानी उठ रहा है, वह समुद्र का ही अंग है। अत: जो व्यक्ति दोनों आँखों के समान दोनों नयों से वस्तुस्वरूप को नहीं देखता; वह कुढंगा व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं–

(छप्पय)

स्वयं सिद्ध सो दर्व आप अपनैं सुभाव जुत।
स्वयं सिद्ध सत्ता सु दर्व तिहि तैं न होत चुत ।।
सत्ता गुन पुनि गुनिय दर्व सु प्रदेस एक हिय।
जद्यपि सो गुन गुनिय भेद करिकैं सु भांति विय ।।
निज वस्तु स्वरूप विचार उरि इहि प्रकार सु न सरदहइ।
सो पुरिष जिनागम के विर्षें मिथ्यामती सु परसमय ।।११।।

अपने स्वभाव में रहनेवाला द्रव्य स्वयंसिद्ध द्रव्य है और वह द्रव्य स्वय की स्वयसिद्ध सत्ता से कभी च्युत नहीं होता। सत्ता एक गुण है और द्रव्य गुणी है। गुण और गुणी में प्रदेशभेद नहीं होता। सज्ञा, संख्या आदि की अपेक्षा जो भेद करके समझा जाता है; वह अतद्भावरूप अन्यता है, पृथकता नहीं। जो व्यक्ति अपनी आत्मवस्तु का स्वरूप उक्त प्रकार से विचार कर श्रद्धान नहीं करता; उस मिथ्यामति को परसमय कहा गया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"वास्तव में अनादि सत् द्रव्य होने से द्रव्यों से दूसरे द्रव्य की अथवा गुण की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभाव से ही अपने गुण-पर्याय से सिद्ध हुए हैं, किन्तु कोई ईश्वर कर्ता है; इसलिए वे हुए हैं – ऐसा नहीं है। ऐसा अनादि-अनत व्यवस्थितरूप स्वय अपनी सत्ता से है।

सभी द्रव्य अपने गुण-पर्याय से ही स्वयंसिद्ध हैं, कोई परमेश्वर उनका कर्ता नहीं है। अपितु उनकी नई-नई पर्याय का उत्पाद और पुरानी का व्यय करनेवाला स्वय वह द्रव्य है।[१]

अब, जैसा द्रव्य त्रिकाली होने से नया नहीं होता; वैसे ही सत्ता नाम का गुण भी गुणी – ऐसे द्रव्य में अनादि स्वभाव से ही सिद्ध है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का सत् है – ऐसा भाव द्रव्य के सत्तास्वरूप स्वभाव का ही बना हुआ है। द्रव्य से सत्ता पृथक् नहीं है कि जिसके जुडने से द्रव्य सत्तावान कहलाये।[२]

गुण-गुणी का प्रदेशभेद तो है ही नहीं; गुणभेद भी भेददृष्टि को मुख्य करने पर ही मालूम पडते हैं; किन्तु अभेददृष्टि से देखने पर ऐसा भेद नहीं दिखता। द्रव्य में डूब जाने पर भेद के भी विकल्प नहीं उठते तो फिर परद्रव्य-क्षेत्रादि को देखने की बात ही नहीं है।[३]

प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि पदार्थों की अनादि स्वसत्ता स्वभाव से रचित हैं; इसीलिए द्रव्य स्वयमेव सत् है – ऐसा जो नहीं मानता, वह आत्मा को नहीं मानता।

प्रत्येक परमाणु की क्रिया उसी परमाणु से होती है और आत्मा की क्रिया आत्मा से ही होती है। प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण सामर्थ्यवाला अनादि सत् होने से स्वयं ही अपना-अपना ईश्वर है; इसीलिए वह दूसरे किसी सयोग, क्षेत्र, काल आदि की अपेक्षा नहीं रखता और अपनी नई-नई अवस्थाओं को स्वयं करता है – इसका नाम सम्यक् एकान्त है और यही धर्म है – ऐसा जो नहीं मानता वह मिथ्या एकातवादी परसमय है, मूढ है। इसप्रकार माने बिना धर्म नहीं होता; उसके दया-दान, पूजा-भक्ति आदि सभी एक के बिना के शून्य है।[४]''

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१३१ २ वही, पृष्ठ-१३२
३ वही, पृष्ठ-१३४ ४ वही, पृष्ठ-१३४

इसप्रकार इस गाथा में यह बताया गया है कि प्रत्येक पदार्थ अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगा। उसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई उसका नाश कर सकता है। वस्तुत· बात यह है कि द्रव्य की तो उत्पत्ति ही नहीं होती। जो उत्पन्न और नष्ट होती हैं, वे तो पर्यायें हैं।

सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य का लक्षण है और वह द्रव्य स्वत.सिद्ध है। वह सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य से कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है। द्रव्यार्थिक नय से अभिन्न है और पर्यायार्थिक नय से भिन्न है।

जो व्यक्ति उक्त वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं करता, वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, परसमय है।

इसप्रकार यहाँ यही स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से सत् है और सिद्ध है अर्थात् स्वय से सिद्ध है, अकृत्रिम है। ●

सफलता सगठन और असफलता विघटन की जननी है। जब किसी काम मे एक के बाद एक सफलताएँ मिलती चली जाती है तो हमारा उत्साह बढ जाता है और अनेक लोग हमारे साथ हो जाते हैं, कार्यकर्ताओ का मनोबल बढता है, उनमे एक नई उमग जागृत हो जाती है। नए-नए लोगो के शामिल होते जाने से जहाँ सगठन विशालरूप धारण करने लगता है, वहीं उसमे दृढता का विकास भी होता है, किन्तु जब किसी सगठन को असफलता का सामना करना पडता है तो उसमे दरारे पडने लगती हैं। उसके सदस्य एक-दूसरे से कतराने लगते है, परस्पर एक-दूसरे की आलोचनाएँ ही नहीं करते, वरन् असफलता का दोष भी एक-दूसरे के सिर मढने लगते हैं। यह आरोप-प्रत्यारोप का सिलसिला यहाँ तक चलता है कि स्थिति कभी-कभी विघटन के कगार तक पहुँच जाती है।

– सत्य की खोज, पृष्ठ-१८६

प्रवचनसार गाथा ९९

विगत गाथा में कहा गया है कि द्रव्य स्वभाव से ही सत् है और स्वत:सिद्ध है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य सत् है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन द्रव्य का स्वभाव है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

(हरिगीत)

स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो।
उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है॥९९॥

स्वभाव मे अवस्थित होने से द्रव्य सत् है। द्रव्य का परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है, वह पदार्थों का स्वभाव है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सदा स्वभाव में ठहरा होने से द्रव्य सत् है और द्रव्य का स्वभाव ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय की एकतारूप परिणाम है।

जिसप्रकार द्रव्य का वास्तु समग्रपने एक होने पर भी, विस्तारक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अश हैं, वे प्रदेश हैं; उसीप्रकार द्रव्य की वृत्ति समग्रपने एक होने पर भी, प्रवाहक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अश हैं, वे परिणाम हैं।

जिसप्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है।

जिसप्रकार वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-सहार-ध्रौव्यात्मक हैं; उसीप्रकार वे

परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं।

जिसप्रकार वास्तु का छोटे से छोटा अंश पूर्वप्रदेश के विनाशस्वरूप है, बाद के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने अनुभयस्वरूप है। उसीप्रकार प्रवाह का छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाशस्वरूप है, बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने अनुभयस्वरूप है।

इसप्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में प्रवर्त्तमान द्रव्य, स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता; इसलिए सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए – मोतियों के हार की भाँति।

जिसप्रकार जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है – ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में, अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते – इसकारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचियता सूत्र अवस्थित होने से त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

उसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे परिणमित द्रव्य मे, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते हुए समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के अवसरों पर पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं – इसकारण तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।''

यहाँ यह कहा गया है कि जिसप्रकार द्रव्य के विस्तार का छोटे से छोटा अश प्रदेश है, उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे से छोटा अश परिणाम है।

प्रत्येक परिणाम स्व-काल में अपने रूप से उत्पन्न होता है, पूर्व-रूप से नष्ट होता है और सर्व परिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूप ध्रुव रहता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समय-भेद नहीं है, तीनों ही एक ही समय में हैं – ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य, स्वभाव से ही सदा रहता है; इसलिए द्रव्य स्वयं भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को मुक्तात्मा (सिद्धजीव) पर घटित करके समझाते हैं। अन्त में लिख देते हैं कि जिसप्रकार यह परमात्म द्रव्य एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से परिणमित होता हुआ ही सत्तालक्षणवाला कहा गया है; उसीप्रकार सभी द्रव्य एक ही समय में उत्पादादिरूप से परिणमित होते हुए सत्तालक्षणवाले हैं – यह अर्थ है।

कविवर वृन्दावनदासजी भी इस गाथा के भाव को बड़े ही विस्तार से छन्दोबद्ध करते हैं। वे इस संदर्भ में बडे-बडे ७ छन्द लिखते हैं; जो मूलत· पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ प्रदेशों का विस्तारक्रम क्षेत्र-अपेक्षा से है और परिणामों का प्रवाहक्रम परिणमन-अपेक्षा से है। यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त देकर आचार्यदेव परिणामों का स्वरूप समझाना चाहते हैं।[१]

प्रवाहक्रम कहने से समस्त परिणामो का क्रम व्यवस्थित ही है, कोई भी परिणाम अर्थात् कोई भी पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। इस प्रतीति में ही द्रव्यदृष्टि और वीतरागता है।[२]

जितने एक द्रव्य के परिणाम, उतने ही तीन काल के समय होते हैं और जितने तीन काल के समय, उतने ही एक द्रव्य के परिणाम होते हैं। बस ! इतना निश्चित करे तो अपने ज्ञायकपने की प्रतीति हो जाये।[३]

अहा ! देखो तो ! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गभीरता है ! द्रव्य की पर्याय पर से बदलती है – यह बात तो है ही नहीं; किन्तु द्रव्य स्वय अपनी पर्याय को उल्टा-सीधा करना चाहे तो वह भी नहीं हो सकती।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१३९ २ वही, पृष्ठ-१३९ ३ वही, पृष्ठ-१४४

जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नहीं होता; उसीप्रकार उसका प्रत्येक समय का परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नहीं होता।

जीव पलटकर कभी भी अजीवरूप नहीं होता और अजीव पलटकर कभी भी जीवरूप नहीं होता। जिसप्रकार त्रिकाली सत् नहीं बदलता, उसीप्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता, उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि-अनंत अवस्थाएँ भी जिन समयों मे जो होना है, उनमें फेरफार नहीं हो सकता।[१]

दृष्टान्त मे अमुक लम्बाईवाला हार था, सिद्धान्त में नित्यवृत्तिवाला द्रव्य है।

दृष्टान्त में लटकता हुआ हार था, सिद्धान्त मे परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

दृष्टान्त में मोतियों का अपना-अपना स्थान था, सिद्धान्त में परिणामो का अपना-अपना अवसर है-स्वकाल है।[२]"

उक्त कथन से क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है। यह सुनिश्चित होता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस विधि से, जिससमय होनी है, उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी विधि से, उसी समय, उत्पन्न होगी, आगे-पीछे नहीं।

उक्त सन्दर्भ मे 'क्रमबद्धपर्याय' नामक पुस्तक का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है –

"'उक्त प्रकरण मे 'सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह' वाक्य जो कि अनेक बार आया है, ध्यान देनेयोग्य है तथा मोतियो के हार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जिसप्रकार हार मे मोतियों का क्षेत्र अपने क्रम में नियमित है, उसीप्रकार झूलते हुए हार में उनके प्रगटने का काल भी नियमित है। जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में जैसे उसके प्रदेश (क्षेत्र) नियमित (निश्चित) हैं, उसीप्रकार उसका कालप्रवाह भी नियमित अर्थात् निश्चित है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१४८ २ वही, पृष्ठ-१६८

यहाँ क्षेत्र के नियमितक्रम के माध्यम से काल (पर्याय) संबंधी नियमित-क्रम को स्पष्ट किया गया है; क्योंकि क्षेत्र संबधी क्रमनियमितता आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्र से लक्ष्य में लिया जाय तो उसका सम्पूर्ण क्षेत्र एक ही है; उसीप्रकार द्रव्य को तीनोंकाल के परिणामों को एकसाथ लक्ष्य में लेने पर उसका काल त्रैकालिक एक है। फिर भी जिसप्रकार क्षेत्र में एक नियमित प्रदेशक्रम है, विस्तारक्रम है; उसीप्रकार काल (पर्याय) मे भी पर्यायों का एक नियमित पर्यायक्रम – प्रवाहक्रम है।

जिसप्रकार द्रव्य के विस्तारक्रम का अश प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अश पर्याय है।

यद्यपि यह कथन सम्पूर्ण द्रव्यो की अपेक्षा से है; पर यहाँ विस्तारक्रम को यदि आकाश द्रव्य की अपेक्षा समझें तो सुविधा रहेगी। जिसप्रकार अनन्तप्रदेशी आकाश का जो प्रदेश जहाँ स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सभी द्रव्यों मे प्रदेशो का क्रम नियिमत है। यही बात यहाँ मोतियो के हार के दृष्टान्त से स्पष्ट की गई है कि मोतियों के हार मे जो मोती जहाँ स्थित है, उसका स्थानक्रम परिवर्तन सम्भव नहीं है।

यद्यपि आकाश अचल (निष्क्रिय) द्रव्य है और जीव और पुद्गल सचल (सक्रिय) द्रव्य हैं, तथापि झूलते हुए हार की बात कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिसप्रकार झूलते हुए हार में भी मोतियों का स्थानक्रम नही बदल जाता, उसीप्रकार सक्रिय जीवो मे प्रदेशो का क्रम नहीं पलटता।

जिसप्रकार आकाशादि द्रव्यो का विस्तारक्रम नियमित है; उसीप्रकार उनका प्रवाहक्रम भी नियमित है। जिसप्रकार नियमित विस्तारक्रम में फेरफार सम्भव नहीं है; उसीप्रकार नियमित प्रवाहक्रम में भी फेरफार सम्भव नहीं है। जिसप्रकार प्रत्येक प्रदेश का स्वस्थान निश्चित है; उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम (पर्याय) का स्वकाल भी निश्चित है।

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लम्बाई है, उस लम्बाई में जहाँ जो

चित्र स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार चलती हुई रील में कौन-सा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमें भी फेरफार सम्भव नहीं है। आगे कौन-सा चित्र आएगा – भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयेगा तो वह अपने नियमितक्रम में ही।

जैसे सोपान (जीना) पर सीढियों का क्षेत्र अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चितक्रम होता है; उसीप्रकार उन पर चढने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है। जिसप्रकार उन पर क्रम से ही चला जा सकता है; उसीप्रकार उन पर चढने का कालक्रम भी है।

जिसप्रकार जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के प्रदेश हैं, उसीप्रकार तीनकाल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें है। एक-एक समय की एक-एक पर्याय निश्चित है। जिसप्रकार लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु खचित है, उसीप्रकार तीनोंकाल के एक-एक समय में प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय खचित है। गुणों की अपेक्षा से विचार करे तो तीनों कालों के एक-एक समय में प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय भी खचित है।

इसप्रकार जब प्रत्येक पर्याय स्वसमय मे खचित है-निश्चित है, तो फिर उसमें अदला-बदली का क्या काम शेष रह जाता है ? इस सन्दर्भ में टीका में समागत यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है कि 'प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर पर ही प्रगट होता है।'

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, जिस कारण से होनी है, वह तदनुसार ही होती है।[१]"

इसप्रकार इस गाथा में यही बताया गया है कि प्रत्येक पदार्थ का प्रदेश-क्रम और पर्यायक्रम पूर्णत: सुनिश्चित है। यदि इस सन्दर्भ में विशेष जिज्ञासा हो तो लेखक की अन्य कृति क्रमबद्धपर्याय का स्वाध्याय करना चाहिए।●

१ क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ २२-२४

प्रवचनसार गाथा १००

विगत गाथा में यह बताया गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का स्वभाव है; अब इस १००वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में अविनाभाव है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों एक साथ ही रहते हैं; एक के बिना दूसरा नहीं रहता।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ।।१००।।

(हरिगीत)

भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन ।।१००।।

उत्पाद, भग (व्यय) बिना नहीं होता और भंग, उत्पाद बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय, ध्रौव्य के बिना नहीं होते।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''वस्तुत. बात यह है कि सर्ग (उत्पाद) सहार (व्यय) के बिना नहीं होता और सहार सर्ग के बिना नहीं होता। इसीप्रकार सृष्टि (उत्पाद) और सहार, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते और स्थिति, सर्ग और संहार के बिना नहीं होती। अधिक क्या कहें – जो सर्ग है, वही संहार है; जो सहार है, वही सर्ग है; जो सर्ग और सहार हैं, वही स्थिति है तथा जो स्थिति है, वही सर्ग और सहार हैं।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – जो कुभ का सर्ग है, वह मृत्तिकापिंड का सहार है; क्योंकि भाव का भावान्तर के अभाव-स्वभाव से अवभासन है। तात्पर्य यह है कि भाव अन्यभाव के अभावरूप ही होता है।

जो मृत्तिकापिंड का सहार है, वह कुभ का सर्ग है; क्योंकि अभाव

का भावान्तर के भाव-स्वभाव से अवभासन है। तात्पर्य यह है कि नाश अन्यभाव के उत्पादरूप ही होता है।

जो कुंभ का सर्ग और पिण्ड का सहार है, वही मिट्टी की स्थिति है; क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नहीं करते। जो मिट्टी की स्थिति है, वही कुंभ का सर्ग और पिण्ड का संहार है; क्योंकि व्यतिरेकों द्वारा ही अन्वय प्रकाशित होता है।

यदि ऐसा न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि सर्ग अन्य है, सहार अन्य है और स्थिति अन्य है। ऐसा होने पर केवल सर्गशोधक कुंभ की, उत्पादन कारण का अभाव होने से उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा असत् का उत्पाद होगा।

यदि कुभ की उत्पत्ति न होगी तो समस्त भावो की उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा यदि असत् का उत्पाद हो तो आकाश पुष्प का भी उत्पाद होगा।

तात्पर्य यह है कि बात मात्र कुंभ की ही नहीं है, अपितु कोई भी कार्य सम्पन्न न होगा अथवा जिसकी लोक में सत्ता ही नहीं है – ऐसे आकाश के फूल और गधे के सींगों की उत्पत्ति भी होने लगेगी, क्योंकि उत्पन्न होने और नहीं होने का कोई नियम ही नहीं रहा।

यदि मिट्टी केवल स्थिति को ही धारण करे तो व्यतिरेकों सहित स्थिति का अभाव होने से स्थिति ही नहीं होगी अथवा क्षणिक को भी नित्यत्व आ जायेगा। तथा यदि मिट्टी की स्थिति न हो तो तो समस्त ही भावों की स्थिति नहीं होगी अथवा क्षणिक नित्य हो जाय तो चित्त के क्षणिक भावो को भी नित्यत्व का प्रसग आयेगा, इसलिए द्रव्य को उत्तरोत्तर व्यतिरेको के सर्ग के साथ, पूर्व-पूर्व के व्यतिरेकों के सहार के साथ और अन्वय के अवस्थान ध्रौव्य के साथ अविनाभाववाला और अबाधित भिन्न त्रिलक्षणवाला अवश्य मानना चाहिए।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका मे मिट्टी के पिण्ड और घडे का उदाहरण न देकर मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उदाहरण के माध्यम से इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव को छह छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को मात्र एक दोहा में इसप्रकार समेट लेते हैं –

(दोहा)

वय मझार उतपत्य है, उतपति सो वय मांहि।
वय उतपति दोउ सु पुनि सुथिर वस्तु विनु नांहि ।।१३।।

व्यय में उत्पत्ति है और उत्पत्ति में व्यय है। स्थिति से युक्त वस्तु के बिना उत्पाद और व्यय – दोनों संभव नहीं हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"९९वीं गाथा में द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला है – यह सिद्ध किया गया था और इस १००वीं गाथा में अधिक स्पष्टता करके द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को एक साथ बतलाते हैं। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रुव को एकसाथ ही न मानें तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होती।[१]

जिसने एकसमय मे वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को नहीं जाना, उसकी मान्यता मे अवश्य कुछ न कुछ दोष आता है।[२]

उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों को एकसाथ न मानें तो सत् की सिद्धि ही नहीं होती। पर के कारण उत्पाद-व्यय-ध्रुव माने वह तो मिथ्या है ही, साथ ही अपने मे भी उत्पाद-व्यय या ध्रुव को एक-दूसरे के बिना माने तो वह भी वस्तु को नहीं जानता है।[३]

जगत के चेतन और जड सभी पदार्थों मे प्रतिसमय उनके स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं। यदि कोई मात्र उत्पाद को ही माने तो वह पदार्थों की नवीन उत्पत्ति ही मानता है और यदि कोई व्यय को ही माने तो वह भी पदार्थों का नाश ही मानता है – ऐसा माननेवाला जीव सर्वज्ञ को, गुरु को, शास्त्र को या ज्ञेयों के स्वभाव को नहीं मानता और वह अपने

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१८९ २ वही, पृष्ठ-१९४ ३ वही, पृष्ठ-१९४

ज्ञानस्वभाव से आत्मा को भी नहीं मानता। देव-गुरु-शास्त्र भी ऐसी ही वस्तुस्थिति कहते हैं। ज्ञेय का स्वभाव भी ऐसा ही है और आत्मा का स्वभाव उन्हें जानने का है – ऐसी जो वस्तुस्थिति है, वह समझने योग्य है।[१]

अगली पर्याय का उत्पाद, पीछे की पर्याय का व्यय और अखण्ड संबंध की अपेक्षा से ध्रुवता – इन तीनों के साथ द्रव्य अविनाभावी है, ऐसा द्रव्य अबाधितरूप से उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप (त्रिलक्षणरूप) चिन्ह वाला है।[२]

यदि मात्र उत्पाद ही माना जाये तो पुरानी पर्याय के व्यय बिना नवीन पर्याय की उत्पत्ति नहीं होगी अथवा ध्रुव के आधार बिना असत् की उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिए एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव – तीनों साथ में हों तभी उत्पाद होगा। यदि मात्र व्यय ही माना जाये तो नवीन पर्याय के उत्पाद बिना पुरानी पर्याय का व्यय ही नहीं होगा अथवा ध्रुवपना रहे बिना ही व्यय होगा तो सत् का ही नाश हो जायेगा; इसलिए एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव – तीनों साथ ही हों तभी व्यय सिद्ध होगा। उत्पाद-व्यय के बिना मात्र ध्रुव को ही मानें तो उत्पाद-व्ययरूप व्यतिरेक के बिना ध्रुवपना ही नहीं रहेगा अथवा एक अंश ही सम्पूर्ण द्रव्य हो जायेगा। इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक समय में साथ ही हों तभी ध्रुवपना रह सकेगा।[३]

इसलिए द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला एकसाथ ही मानना युक्तियुक्त है। साराश यह है कि पूर्व-पूर्व परिणामों के व्यय के साथ, पीछे-पीछे के परिणामों के उत्पाद के साथ और अन्वय अपेक्षा से ध्रुव के साथ द्रव्य को अविनाभावीवाला मानना चाहिए। मात्र उत्पाद, मात्र व्यय या मात्र ध्रुवता द्रव्य का लक्षण नही है; किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रुव – ये तीनों एकसाथ ही द्रव्य का लक्षण है – ऐसा जानना।[४]''

इसप्रकार इस गाथा में यही बताया गया है कि सत्; उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक ही होता है, अत: ये तीनों प्रत्येक वस्तु में एक समय में एकसाथ ही होते हैं।

●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-१९५-१९६   २ वही, पृष्ठ-१९७
३ वही, पृष्ठ-१९७-१९८   ४ वही, पृष्ठ-१९८

प्रवचनसार गाथा १०१

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है और वह सत् ही द्रव्य का लक्षण है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक समय में, एक ही द्रव्य में एक साथ ही होते हैं और अब इस १०१वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि ये सब एक द्रव्य ही हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ।।१०१।।

(हरिगीत)

पर्याय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं।
बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं।।१०१।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों मे होते हैं और पर्यायें द्रव्य मे होती है – यह नियम है; इसलिए ये सब द्रव्य ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के आश्रय से हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं, इसलिए यह सब द्रव्य ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं।

प्रथम तो पर्यायें द्रव्याश्रित हैं, क्योंकि वृक्ष की भाँति समुदायी समुदाय-स्वरूप होता है। जिसप्रकार समुदायी वृक्ष, स्कन्ध, मूल और शाखाओं का समुदाय रूप होने से स्कन्ध, मूल और शाखाओं से आलम्बित दिखाई देता है, इसीप्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायों के समुदायस्वरूप होने से पर्यायो के द्वारा अवलम्बित भासित होता है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्कन्ध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रित ही हैं, उसीप्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं, द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं।

पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा अवलबित हैं अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बीज, अंकुर और वृक्षत्व की भाँति अंशों के धर्म हैं, अशी के नहीं।

जिसप्रकार अशी वृक्ष के बीज, अंकुर और वृक्षत्वरूप तीन अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यरूप निजधर्मों से आलंबित एकसाथ ही दिखाई देते हैं; उसीप्रकार अंशी-द्रव्य के नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहनेवाला भाव – ये तीनों अश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों के द्वारा आलबित एकसाथ ही दिखाई देते हैं; किन्तु यदि भग, उत्पाद और ध्रौव्य को द्रव्य का ही माना जाय तो सब कुछ प्रलय को प्राप्त होगा।

यदि द्रव्य का ही भग माना जाय तो क्षणभग से लक्षित समस्त द्रव्यों का एक क्षण में ही सहार हो जाने से द्रव्यशून्यता आ जायेगी अथवा सत् का उच्छेद हो जायेगा। यदि द्रव्य का ही उत्पाद माना जाय तो समय-समय पर होनेवाले उत्पाद के द्वारा चिन्हित द्रव्यों को प्रत्येक को अनतता आ जायेगी। यदि द्रव्य का ही ध्रौव्यत्व माना जाय तो क्रमश: होनेवाले भावों के अभाव के कारण द्रव्य का अभाव हो जायेगा अथवा क्षणिकपना होगा। इसलिए यही ठीक है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के आश्रय से हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं; इसलिए ये सब द्रव्य ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं।''

तत्त्वप्रदीपिका टीका के भाव को भावार्थ के रूप में इसप्रकार व्यवस्थित किया गया है–

''बीज, अकुर और वृक्षत्व – ये वृक्ष के अश है। बीज का नाश, अकुर का उत्पाद और वृक्षत्व का ध्रौव्य – तीनों एकसाथ ही होते हैं। इसप्रकार नाश बीज के आश्रित है, उत्पाद अकुर के आश्रित है और ध्रौव्य वृक्षत्व के आश्रित है। नाश, उत्पाद और ध्रौव्य बीज, अंकुर और

वृक्षत्व से भिन्न पदार्थरूप नहीं है तथा बीज, अंकुर और वृक्षत्व भी वृक्ष से भिन्न पदार्थरूप नहीं है। इसलिए यह सब एक वृक्ष ही हैं।

इसीप्रकार नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और ध्रौव्य भाव – ये सब द्रव्य के अंश हैं। नष्ट होते हुए भाव का नाश, उत्पन्न होते हुए भाव का उत्पाद और स्थायी भाव का ध्रौव्य एक ही साथ हैं। इसप्रकार नाश नष्ट होते भाव के आश्रित है, उत्पाद उत्पन्न होते भाव के आश्रित है और ध्रौव्य स्थायी भाव के आश्रित है।

नाश, उत्पाद और ध्रौव्य उन भावों से भिन्न पदार्थरूप नहीं है और वे भाव भी द्रव्य से भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं। इसलिए यह सब एक द्रव्य ही हैं।''

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का एकत्व आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त टीका में बीज, अकुर और वृक्षत्व के उदाहरण से समझाया है; किन्तु आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में स्वसंवेदनज्ञान के उत्पाद, अज्ञान पर्याय के व्यय और दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की स्थिति पर घटित करके समझाते हैं। अन्त में यह कहते हैं कि अन्वयद्रव्यार्थिकनय से ये सभी द्रव्य हैं। इसप्रकार वे नामोल्लेखपूर्वक नय का उल्लेख भी कर देते हैं।

उक्त गाथा का भाव कविवर वृन्दावनदासजी २ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें दूसरा छन्द इसप्रकार है –

(मनहरण)

जैसे वृच्छ अंशी ताके अंश बीज अंकुरादि,
तामें तीनों भेद भाव ऐसे लखि लीजिए।
बीज को विनाश उतपाद होत अंकुर को,
वृच्छ धुवताई ऐसी सरधा धरीजिए।।
नूतन दरव को न होत उतपाद कहूँ,
यह तौ असंभौ कभी चित में न दीजिए।
दर्व की स्वभावरूप परजाय पर्नति में,
तीनों दशा होत वृन्द याही को पतीजिये।।

जिसप्रकार अंशी वृक्ष के अंश बीज, अकुर आदि हैं; उनमें तीनों भेदों को इसप्रकार देखा जा सकता है कि बीज का विनाश, अंकुर का उत्पाद और वृक्षत्व की ध्रुवता रहती है – ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

नये द्रव्य का उत्पाद नहीं होता, क्योंकि यह असभव है; अत: इस बात की चित्त मे कल्पना भी नहीं करना चाहिए। द्रव्य की पर्यायरूप परिणति में ही ये तीनों दशाये होती हैं। अत: वृन्दावन कवि कहते हैं कि इस बात को ही श्रद्धा में धारण करो।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है–

(कवित्त)

वय उत्पत्य ध्रौव्यता इन्हि कौ परजायनि के विषैं निवास।
परजायनि कौ सदा प्रवर्तन तथा अवस्य दर्व के पास।।
तिहि कारन उत्पाद आदि दै अरु परजाय एक ही रास।
सो सब ही सु दरव निश्चै करि भेद अवर दुसरौ न जास।।१४।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का निवास पर्यायो में है और पर्यायो का निरन्तर पलटना द्रव्य मे होता है; इसलिए ये उत्पाद आदि पर्यायें निश्चय से द्रव्य ही हैं; इनमे कोई दूसरा भेद नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जिसप्रकार समुदायी वृक्ष; स्कन्ध, मूल और शाखाओ के समुदायस्वरूप होने से स्कन्ध, मूल और शाखाओं से आलम्बित ही भासित होता है, उसीप्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायों के समुदायस्वरूप होने से पर्यायो द्वारा आलम्बित ही भासित होता है। जिसप्रकार तना, मूल और डालियाँ – ये तीनो वृक्ष के अश हैं और ये तीनों मिलकर पूरा वृक्ष है; उसीप्रकार पर्याये वस्तु के अश हैं, वे पर्यायें वस्तु के आश्रय से ही हैं। वस्तु के अश वस्तु से पृथक् नहीं हैं।[1]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२०२

उत्पाद-व्यय-ध्रुव – तीनों एकसाथ हैं; यह बात १००वीं गाथा में सिद्ध की है। यहाँ १०१वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि उत्पाद, व्यय और ध्रुव अश (पर्याय) हैं और वे पर्यायें (अश) द्रव्य की हैं। ऐसा कहकर उन तीनों को एक द्रव्य में ही समा दिया है।[१]

मात्र उत्पाद में, व्यय मे या ध्रुव में पूरा द्रव्य नहीं समा जाता; इसलिए वे द्रव्य के आश्रय से नहीं; किन्तु पर्यायों के आश्रय से हैं – ऐसा कहा है। उत्पाद धर्म किसी पर्याय के आश्रय से है, व्ययधर्म भी किसी पर्याय के आश्रय से है और ध्रौव्यरूप धर्म भी किसी पर्याय के आश्रय से है, इसलिए उन्हे पर्याय का धर्म कहा है और पर्यायें द्रव्य के आश्रय से हैं, इसप्रकार अभेदरूप से द्रव्य मे सब समा जाते हैं।[२] वस्तु में उत्पाद भी अश का है, व्यय भी अश का है और ध्रुवता भी अंश की है। उस एक-एक अश में सम्पूर्ण वस्तु का समावेश नहीं हो जाता अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति, द्रव्य का ही नाश या द्रव्य की ध्रुवता नहीं है।

जिसप्रकार एक वृक्ष मे बीज, अकुर और वृक्षत्व ऐसे तीन अश हैं; उनमे बीज अश का व्यय, अकुर अश का उत्पाद और वृक्षत्व अश की ध्रुवता है। जिसप्रकार ये तीनों अश मिलकर झाड का (वृक्ष का) अस्तित्व है, उसीप्रकार आत्मवस्तु में - सम्यक्त्व अश का उत्पाद, मिथ्यात्व अश का व्यय और श्रद्धापने की ध्रुवता है।

इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव अशो के हैं, अशी के नहीं हैं। द्रव्य की अपेक्षा से उत्पाद नहीं है, किन्तु द्रव्य में उत्पन्न होनेवाले भाव की अपेक्षा से उत्पाद है; द्रव्य की अपेक्षा से व्यय नहीं है, किन्तु पूर्व के नष्ट होनेवाले भाव की अपेक्षा से व्यय है और सम्पूर्ण द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुवता नहीं है, किन्तु द्रव्य के अखण्ड स्थायी भाव की अपेक्षा से (द्रव्यत्व की अपेक्षा से) ध्रुवता है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२०३-२०४
२ वही, पृष्ठ-२०४

इसप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव, प्रत्येक अंश के आश्रित हैं। जि
क्षण वस्तु नवीन भाव से उत्पन्न होती है, उसी क्षण पूर्व भाव से व्यय व
प्राप्त होती है और उसी क्षण द्रव्यरूप से ध्रुव रहती है – इसप्रकार उत्पाद
व्यय-ध्रुव तीनों एक साथ ही अंशों के अवलम्बन से हैं; किन्तु अंशी
ही उत्पाद, व्यय अथवा ध्रुव नहीं हैं।

यहाँ ध्रुव को भी अश की अपेक्षा से पर्याय कहा है; किन्तु उसमें द्र
का सामान्य भाग है। मात्र उस ध्रुव में ही सम्पूर्ण वस्तु का समावेश न
होता। इसलिए उसे भी अश कहा है और अंश होने से पर्याय कहा है। इ
अपेक्षा से ध्रुवता भी पर्याय के आश्रित कही गई है।[१]

यदि पूर्व के अश का व्यय न मानकर द्रव्य का ही व्यय माना जाये त
समस्त द्रव्य एक क्षण में नाश को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् सत् का ही ना
हो जायेगा।[२]

यदि द्रव्य का ही उत्पाद माना जाये तो क्षणिक पर्याय ही द्रव्य ह
जायेगी और प्रतिक्षण नवीन-नवीन द्रव्य ही उत्पन्न होने लगेगा। द्रव्य व
अनन्त पर्यायों में से प्रत्येक पर्याय स्वय द्रव्य हो जायेगी; इसलिए ए
द्रव्य को ही अनन्त द्रव्यपना हो जायेगा अथवा वस्तु के बिना असत् व
ही उत्पाद होने लगेगा।[३]

यदि सम्पूर्ण द्रव्य को ही ध्रुव मान लिया जाये तो क्रमशः होनेवा
उत्पाद-व्यय भावों के बिना द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा अथवा द्र
को क्षणिकपना हो जायेगा।[४]

उत्पाद, व्यय और ध्रुव – यह तीनों एकसाथ हैं, किन्तु वे अशों के है
द्रव्य के नहीं हैं।[५]

इस गाथा में आचार्यदेव को यह सिद्ध करना है कि उत्पाद, व्य

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२०५-२०६
२ वही, पृष्ठ-२०६ ३ वही, पृष्ठ-२०६-२०७
४ वही, पृष्ठ-२०७ ५ वही, पृष्ठ-२०८

और ध्रुव ये द्रव्य से पृथक् कोई पदार्थ नहीं हैं; किन्तु द्रव्य में ही इन सबका समावेश हो जाता है।

(१) यदि द्रव्य का ही उत्पाद मान लिया जाये तो व्यय और ध्रुव का समावेश द्रव्य में नहीं होगा। (२) यदि द्रव्य का ही व्यय मान लिया जाये तो उत्पाद और ध्रुव का समावेश द्रव्य में नहीं होगा। (३) यदि द्रव्य का ही ध्रौव्य मान लिया जाये तो उत्पाद और व्यय का समावेश द्रव्य में नहीं होगा। इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा पर्याय आलम्बित हो, जिससे यह सब एक ही द्रव्य हो।[१]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों के ही होते हैं, द्रव्य के नहीं; क्योंकि द्रव्य तो अनादि-अनंत ध्रुव पदार्थ है; उसका उत्पाद और नाश कैसे सभव है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि उत्पादादि की आधारभूत पर्यायें द्रव्य की ही हैं; इसकारण ये सब द्रव्य ही हैं। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२०८-२०९

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है। जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भग कर देती है; वहीं सफलता भी सतुलन को कायम नहीं रहने देती। वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है। कभी-कभी तो विपक्ष को तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्ववाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं। **–सत्य की खोज, पृष्ठ-२३३**

प्रवचनसार गाथा १०२

१००वीं गाथा में 'उत्पाद, व्यय बिना नहीं होता; व्यय, उत्पाद बिना नहीं होता और उत्पाद-व्यय, ध्रुवत्व बिना नहीं होते; इसप्रकार इनमें वस्तुभेद नहीं है' – यह बताया था। १०१वीं गाथा में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं; अत: वे सभी द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं – यह बताया था और अब इस १०२वीं गाथा मे यह बताया जा रहा है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक ही समय में हैं, इनमें कालभेद नहीं है।

गाथा मूलत. इसप्रकार है –

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ।।१०२।।

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय-थिति द्रव्य मे समवेत हो प्रत्येक पल।
बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय है द्रव्य सब ।।१०२।।

द्रव्य एक ही समय मे उत्पाद, व्यय और स्थिति नाम के अर्थों (पदार्थों) के साथ एकमेक ही हैं; इसलिए ये तीनो द्रव्य ही है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''वस्तु का जो जन्मक्षण है, वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, जो स्थितिक्षण है, वह उत्पाद और व्यय के बीच में मजबूती से स्थापित है, इसकारण जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है और जो नाशक्षण है, वह वस्तु उत्पन्न होकर व स्थिर रहकर फिर नाश को प्राप्त होती है, इसकारण जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है।

इसप्रकार युक्ति से विचार करने पर उत्पादादिक में क्षणभेद है – यह बात चित्त में उत्पन्न होती है।

यदि कोई इसप्रकार की आशका उपस्थित करता है तो उससे कहते

हैं कि उत्पादादि में इसप्रकार का क्षणभेद तभी संभव है कि जब यह माना जाय कि द्रव्य स्वय ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है और स्वय ही स्थिति को प्राप्त रहता है; परन्तु ऐसा तो नहीं माना है। माना तो यह गया है कि उत्पादादि पर्यायों के ही हैं। ऐसी स्थिति में क्षणभेद कैसे हो सकता है?

अब इस बात को सोदाहरण विस्तार से समझाते हैं –

जिसप्रकार कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर और डोरी द्वारा किये जानेवाले संस्कार की उपस्थिति में जो रामपात्र का जन्मक्षण होता है, वही मिट्टी के पिण्ड का नाशक्षण होता है और वही दोनों कोटियों में रहनेवाले मिट्टीपन का स्थितिक्षण होता है।

इसीप्रकार अतरग और बहिरग साधनों द्वारा किये जानेवाले सस्कारों की उपस्थिति मे जो उत्तरपर्याय का जन्मक्षण होता है, वही पूर्वपर्याय का नाशक्षण होता है और वही दोनो कोटियों मे रहनेवाले द्रव्यत्व का स्थितिक्षण होता है।

जिसप्रकार रामपात्र, मिट्टी का पिण्ड और मिट्टीपन में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् रहते हुए भी त्रिस्वभावस्पर्शी मिट्टी मे वे सभी एकसाथ एकसमय मे ही देखे जाते हैं; उसीप्रकार उत्तरपर्याय, पूर्वपर्याय और द्रव्यत्व में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् होने पर भी त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्य मे वे तीनो एकसाथ एक समय मे ही देखे जाते हैं।

जिसप्रकार रामपात्र, मिट्टी का पिण्ड और मिट्टीपन में रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही है, अन्य वस्तु नहीं। उसीप्रकार उत्तरपर्याय, पूर्वपर्याय और द्रव्यत्व मे रहनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका मे इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए 'उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का एक काल है' – यह समझाने के लिए आत्मानुभूति पर्याय के उत्पाद, मिथ्यात्व परिणति के नाश तथा दोनों के आधारभूत आत्मद्रव्यत्व की अवस्थिति का उदाहरण देते हैं। साथ में टेढी अगुली, ऋजुगति, क्षीणकषाय के अन्तिम समय में केवलज्ञान की उत्पत्ति के उदाहरणों से भी इस विषय को समझाते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा को ६ छन्दों में व्यक्त करते हैं; उनमें से कुछ दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

यहाँ प्रश्न कोई करत उतपादादिक तीन।
जुदे-जुदे समयनि विषैं क्यों नहिं कहत प्रवीन।।
तीन काज एकै समै कैसे हो हैं सिद्ध।
समाधान याको करौ हे आचारज वृद्ध।।
उतपादादिक के पृथक-पृथक दरव जो होय।
तब तो तीनों समय में तीन संभवै सोय।।
जहाँ एक ही दरव है तहँ इक समय मँझार।
तीनों होते संभवत दरवदिष्टि के द्वार।।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि यदि तुम चतुर हो तो ये उत्पादादिक जो तीन हैं, उन्हें एक समय में ही क्यों कहते हो, अलग-अलग क्यों नहीं कहते।

एकसाथ तीन कार्य किसप्रकार हो सकते हैं ? हे ज्ञानवृद्ध आचार्यदेव! इस बात का समाधान करिये।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि भिन्न-भिन्न द्रव्यों के उत्पादादि हों, तभी तीनों को भिन्न-भिन्न समय में कहा जा सकता है।

जहाँ एक द्रव्य में तीनों घटित करना हों तो द्रव्यदृष्टि से एक समय में तीनों होना सभव है।

पण्डित देवीदासजी ने भी इस गाथा के भाव को इसी रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

"द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, स्थिति और नाश नाम के अर्थों के साथ वास्तव में एकमेक है; इसीलिए इन तीनों का समुदाय वास्तव मे द्रव्य ही है।[१]

बालक जन्मता है, कुछ वर्ष जीता है अर्थात् टिकता है और पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होता है; इसप्रकार उत्पाद-ध्रुव-व्यय का समय पृथक्-पृथक् है – ऐसा अज्ञानी कहता है।[२]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२१६ २ वही, पृष्ठ-२१७

अब उपरोक्त शका का समाधान करते हुए अज्ञानी को कहा जाता है कि यदि उत्पाद होने के समय सम्पूर्ण द्रव्य उत्पन्न होता हो तो तथा व्यय होने के समय सम्पूर्ण द्रव्य का नाश होता हो तो और ध्रुव रहने के समय सम्पूर्ण द्रव्य केवल ध्रुवत्व ही हो तो तुम्हारा तर्क उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व के समय भेद की बात सही ठहरे।[१]

यदि सम्पूर्ण द्रव्य एक अश में आ जाता हो तो अज्ञानी की उक्त बात बराबर है; किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य अकेले उत्पाद में अथवा अकेले व्यय में अथवा अकेले ध्रुव में नहीं आता, अपितु तीनों एक होकर एक द्रव्य हैं, इसीलिए उनमें समय-भेद नहीं है। इसीतरह आत्मा में भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, मिथ्यादर्शन का व्यय और आत्मा का ध्रुवत्व एक ही समय में है, इनमें समयभेद नहीं है। इसतरह प्रत्येक आत्मा और परमाणु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक ही समय में हैं।[२]

जो उत्पाद का लक्षण है, वह व्यय तथा ध्रुव का लक्षण नहीं है।

जो व्यय का लक्षण है, वह उत्पाद तथा ध्रुव का लक्षण नहीं है।

जो ध्रुव का लक्षण है, वह उत्पाद तथा व्यय का लक्षण नहीं है।

लक्षण पृथक्-पृथक् हैं, इसीलिए लक्ष्य भी पृथक्-पृथक् हैं। यदि तीनों का एक लक्षण हो तो तीनों एक हो जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं है। एक लक्षणवाले को दूसरे के लक्षण से पहिचानना उपचार कथन है।[३]

इसमें से दो न्याय निकलते हैं – १ उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व का क्षणभेद दूर किया है अर्थात् तीनों का एक ही समय है।

२ तीनों एक होकर एक द्रव्य हैं, अन्य द्रव्य नहीं।[४]''

देखो, यहाँ प्रत्येक पर्याय के जन्मक्षण की बात कही है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का क्षण सुनिश्चित है। जिस क्षण में जो पर्याय होनी है, उस समय वही पर्याय होगी, कोई अन्य नहीं। जन्मक्षण के समान व्ययक्षण भी सुनिश्चित है। जब पर्याय का जन्मक्षण और व्ययक्षण सुनिश्चित है तो फिर क्या शेष रह जाता है ?

उक्त कथन से सहज ही क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि होती है। •

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२१८
२ वही, पृष्ठ-२१८-२१९
३ वही, पृष्ठ-२३१
४ वही, पृष्ठ-२३२

प्रवचनसार गाथा १०३

विगत गाथा में यह बताया गया है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में काल-भेद नहीं है और अब इस गाथा में अनेकद्रव्यपर्यायों द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये जा रहे हैं –

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं॥१०३॥

(हरिगीत)

उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही।
पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो॥१०३॥

द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है; फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार एक तीन अणुवाली त्रि-अणुक समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी चार अणुवाली (चतुरणुक) समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है; परन्तु वे तीन या चार पुद्गल परमाणु तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसीप्रकार सभी समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है।

जिसप्रकार एक मनुष्यत्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है; परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते है।

इसीप्रकार सभी असमानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट हो जाती है और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसप्रकार द्रव्य अपने द्रव्यरूप से ध्रुव और द्रव्यपर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप है; इसप्रकार द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए मोक्षपर्याय के उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पर्याय के व्यय और शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य के ध्रुव रहने का उदाहरण देते हैं। साथ में अथवा के रूप आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों को भी प्रस्तुत कर देते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र समानजातीय और असमानजातीय द्रव्यपर्यायों पर घटित करते हैं तथा आचार्य जयसेन द्रव्यपर्यायो के साथ-साथ गुणपर्यायो पर भी घटित करते है।

कविवर वृन्दावनदासजी एव पण्डित देवीदासजी भी बडी ही सहजता से इस गाथा के भाव को भलीभाँति प्रस्तुत कर देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ कोई तर्क करता है कि पहले दस परमाणु का स्कध था; फिर उसमे पाँच परमाणु मिले तो वह पन्द्रह परमाणुओं का स्कध हुआ; इसीलिए पर्याय में से पर्याय हुई है। उसकी यह बात असत्य है; क्योंकि दस परमाणुओं की पूर्व की स्कधरूप अवस्था का व्यय हुआ है, पाँच परमाणुओं के मिलने पर पन्द्रह परमाणुओ की नयी स्कधरूप अवस्था का उत्पाद हुआ और परमाणु द्रव्य में से नयी पर्याय आई है, किन्तु पूर्व की पर्याय में से नयी पर्याय नहीं आई है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि उत्पन्न और नष्ट तो पर्याये होती है, द्रव्य तो सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट ही रहता है। दूसरी बात यह है कि पर्याय मे से पर्याय का उत्पाद नहीं होता; पर्याय की उत्पत्ति तो द्रव्य में से ही होती है।

ध्यान रहे, यहाँ उदाहरण के रूप में सम्पूर्ण चर्चा द्रव्यपर्यायों की हो रही है, अत. सभी बातो को द्रव्यपर्यायों पर घटित करना ही अधिक उचित है। गुण-पर्यायो की चर्चा अगली गाथा मे की ही जा रही है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२३७

प्रवचनसार गाथा १०४

विगत गाथा में अनेकद्रव्यपर्यायों (द्रव्यपर्यायों) द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये थे और इस गाथा में एकद्रव्यपर्यायों (गुण-पर्यायों) द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये जा रहे हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति।।१०४।।

(हरिगीत)

गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव स्वयं सत्ता अपेक्षा।
इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा।।१०४।।

सत्तापेक्षा अविशिष्टरूप द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तररूप परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्याय में से अन्य गुणपर्यायरूप परिणमित होता है और द्रव्य की सत्ता गुणपर्यायों की सत्ता के साथ अभिन्न ही रहती है। इससे गुणपर्यायें द्रव्य ही कही गई हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एकद्रव्यपर्यायें गुणपर्यायें हैं, क्योंकि गुणपर्यायों को एकद्रव्यपना है। उनका एकद्रव्यत्व आम्रफल की भाँति सिद्ध होता है; जो इसप्रकार है–

जिसप्रकार आम (आम्रफल) स्वय ही हरेपन से पीलेपन रूप परिणमित होता हुआ पहले और बाद में हरेपन और पीलेपन के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है; इसकारण हरेपन और पीलेपन के साथ अभिन्न सत्तावाला होने से एक ही वस्तु है; अन्य वस्तु नहीं।

इसीप्रकार द्रव्य स्वय ही पूर्वावस्था में स्थित गुणों से उत्तरावस्था में स्थित गुणरूप परिणमित होता हुआ पूर्व और उत्तर अवस्था में स्थित उन गुणों के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है; इसकारण पूर्व और उत्तर

अवस्था में स्थित गुणों के साथ अभिन्न सत्तावाला होने से एक द्रव्य ही है, द्रव्यान्तर नहीं।

जिसप्रकार पीलेपन से उत्पन्न होता, हरेपन से नष्ट होता और आमरूप से स्थिर रहता होने से आम एक वस्तु की पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। उसीप्रकार उत्तरावस्था में स्थित गुण से उत्पन्न, पूर्वावस्था में स्थित गुण से नष्ट और द्रव्यत्व गुण से स्थित होने से द्रव्य एकद्रव्यपर्याय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।''

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि अनेक द्रव्यों की मिली हुई पर्यायों को द्रव्यपर्याय या व्यंजनपर्याय कहते हैं और एक द्रव्य की पर्यायों को गुणपर्याय या अर्थपर्याय कहते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; पर साथ में रंगों के उदाहरण के साथ ससारी जीव की विभावगुणपर्यायों पर भी घटित कर देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हुए गाथा और टीका की विषयवस्तु को सहजभाव से प्रस्तुत कर देते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को अत्यन्त सरल भाषा में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(दोहा)

जैसें फल इक आम कौ हरित लखै सब कोइ।
समै पाइ करि सो कछु पीत वरन पुनि होइ।।१९।।
पूरव उत्तर आम के विषैं अवस्था दोइ।
तिन्हि करिकैं वह आम पुनि और वस्तु नहिं होई।।२०।।
पीतता सु करि उपजही विनसै हरित सुभाय।
आम दसा करि थिर लियैं दरव सुगुन परजाय।।२१।।

जिसप्रकार आम के फल को प्रारंभिक अवस्था में सभी लोग हरे के रूप में देखते हैं, वही आम का फल समय बीतने पर काल पाकर पीला हो जाता है। आम में पूर्वावस्था और उत्तरावस्था – इसप्रकार दो अवस्थायें होती हैं; उनके कारण आम अन्यवस्तु नहीं हो जाता। एक आम पीलेपन

से उत्पन्न होता है, हरितपने से नष्ट होता है और आम रूप में स्थिर रहता है। इसीप्रकार द्रव्य को गुण-पर्यायों से जानना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"गुणपर्यायें एकद्रव्यपर्यायें हैं; क्योंकि गुणपर्यायों को एकद्रव्यपना है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि अनेक गुणों की पर्यायें हैं, इसीलिए द्रव्य पृथक्-पृथक् है – ऐसा नहीं है। परमाणु की लाल, हरी आदि भिन्न-भिन्न वर्णवाली तथा भिन्न-भिन्न रसवाली अवस्था होती है; इसीलिए परमाणु अनेक हो जाते हैं – ऐसा नहीं है; किन्तु लाल, हरी आदि अवस्थायें पदार्थ के ही अश है; इसलिए वे अनेक द्रव्य नहीं होते।[१]

गाथा १०२ में उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वतत्र बताया था। गाथा १०३ में समानजातीय अथवा असमानजातीय जो द्रव्यपर्यायें होती है, वे पूर्व की पर्याय के कारण नहीं होतीं; अपितु द्रव्य में से आती हैं – ऐसा कहा था।

गुणों का परिणमन अनेकरूप होने पर भी द्रव्य एकरूप रहता है और वह परिणमन द्रव्य की ही अवस्था है – यह गाथा १०४ में बताया गया है।[२]

गाथा १०३ मे समानजातीय और असमानजातीय द्रव्यपर्याय द्वारा द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को बताया था और स्कध मे से स्कधरूप अवस्था नहीं होती – ऐसा कहा था। इस गाथा में गुणपर्याय द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को बताया है।[३]"

विगत गाथा में अनेकद्रव्यपर्याय अर्थात् स्कन्ध व मनुष्यादि पर्यायों की बात की थी और अब इस गाथा में एकद्रव्यपर्याय अर्थात् मतिज्ञानादि गुणपर्यायो की बात की जा रही है।

यहाँ गुण-पर्यायों की चर्चा करते हुए इस बात को विशेषरूप से स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक गुणपर्याय गुणों मे से उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय में से नहीं। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२४२-२४३
२ वही, पृष्ठ-२४३ ३ वही, पृष्ठ-२४५

प्रवचनसार गाथा-१०५

विगत गाथाओं में एकद्रव्यपर्यायों और अनेकद्रव्यपर्यायों के द्वारा एक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये हैं और अब इस गाथा में यह बताते हैं कि द्रव्य और सत्ता एक ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता॥१०५॥

(हरिगीत)

यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से।
किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं॥१०५॥

यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो वह नियम से असत् होगा और जो असत् हो, वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? सत्ता से द्रव्य का भिन्न होना सभव नहीं है। इसलिए द्रव्य स्वय सत्ता ही है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो दूसरी गति यह होगी कि वह असत् होगा अथवा सत्ता से पृथक् होगा ?

यदि वह असत् हो तो ध्रौव्य के असभव होने के कारण स्वयं स्थिर न होने से द्रव्य ही असत् हो जायेगा।

दूसरे यदि द्रव्य सत्ता से पृथक् हो तो सत्ता के बिना भी स्वय रहता हुआ; इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है; ऐसी सत्ता को ही अस्त कर देगा।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् हो तो ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वय स्थिर रहता हुआ द्रव्य सिद्ध होता है और सत्ता से अपृथक् रहकर स्वय स्थिर रहता हुआ, इतना मात्र जिसका प्रयोजन है – ऐसी सत्ता को ही सिद्ध करता है।

इसीलिए द्रव्य स्वयं ही सत्ता है, सत्तास्वरूप है – ऐसा स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि भाव और भाववान का अपृथकत्व द्वारा अनन्यत्व है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए उक्त संदर्भ में बौद्ध और नैयायिक मतों को प्रस्तुत कर उनका निराकरण भी करते हैं। कहते हैं कि सत्ता के समवाय के कारण द्रव्य सत् नहीं है; अपितु सत्ता स्वयं ही द्रव्य है। वे यह भी कहते हैं कि द्रव्य उपचार से सत्तास्वरूप नहीं है, अपितु परमार्थ से सत्तास्वरूप है।

ध्यान रहे नैयायिक यह मानते हैं कि द्रव्य सत्ता के समवाय से सत् है, स्वय सत् नहीं और बौद्ध यह मानते हैं कि द्रव्य का अस्तित्व उपचार से है, परमार्थ से नहीं। द्रव्य स्वय सत्तास्वरूप है और द्रव्य का अस्तित्व वास्तविक है, परमार्थ है; उपचार से नहीं – यहाँ यह कहकर नैयायिक और बौद्ध – दोनों मतों का खण्डन कर दिया।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(छप्पय)

जो यह दरव न होय आपु सत्ता को धारक।
तौ तामें ध्रुवभाव कहा आवै थितिकारक।।
जो ध्रुवता नहिं धरै कहो तब दरब होय किमि।
तातैं सत्तारूप दरब स्वयमेव आपु इमि।।
है दरव गुनी सत्ता सुगुन सदा एकता भाव धरि।
परदेशभेद इनमें नहीं यों भवि वृन्द प्रतीत करि।।

यदि यह द्रव्य स्वय ही सत्ता का धारक नहीं है तो उसमें स्थिति करनेवाला ध्रुवभाव कैसे आ सकता है ? यदि द्रव्य ध्रुवता को धारण नहीं करे तो वह द्रव्य ही कैसे होगा ? इसलिए द्रव्य स्वयमेव सत्तास्वरूप है।

अरे भाई ! द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है और ये दोनों सदा एक भावरूप ही हैं; इसमें प्रदेशभेद नहीं है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! इस बात का विश्वास करो।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जौ न होहि दर्व सत्तारूप तौ सु सत्तारूप
दर्व ताहि भयौ सो असत्तारूप चहिए।
सत्ता विना वस्तु है सु कैसैं दर्व रूप होहि
अथवा सु वस्तु सत्ता तैं सु भिन्न लहिये।।
तार्थे दर्व आप ही अभेद एक सत्ता रूप
जानि जिन उकति प्रमान सरदहिये।
द्रव्य है सु गुनी जाकौ गुन है स्वरूप सत्ता
गुन गुनी भेद न प्रदेस भेद कहिये।।२२।।

यदि द्रव्य सत्तास्वरूप न हो तो उस सत्तावाले द्रव्य को असत्तारूप होना चाहिए; परन्तु सत्ता के बिना कोई भी वस्तु द्रव्यरूप कैसे हो सकती है ? अथवा वस्तु को सत्ता से भिन्न मानना होगा। इसलिए जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि द्रव्य स्वयं ही एक अभेदरूप है – ऐसा ही श्रद्धान कर लेना चाहिए। द्रव्य गुणी है और उसका गुण है सत्ता – इसप्रकार इनमें यद्यपि गुण-गुणी भेद है; तथापि इनमें प्रदेश भेद नहीं है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यदि गुण-गुणी भिन्न हैं – ऐसा माना जावे तो गुणी का ही नाश होगा। अत: जब से वस्तु है, तभी से सत्ता है। इस जीव को अथवा किसी भी पदार्थ को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है अर्थात् किसी की सत्ता से अपनी सत्ता नहीं है और कोई भी द्रव्य अपनी सत्ता से स्वय भिन्न नहीं है।

गुण और गुणी में नाम, सख्या तथा लक्षणभेद है, किन्तु प्रदेशभेद नहीं है। अपने सत्तास्वरूप द्रव्य के ऊपर नजर करने से धर्म होता है।

१. यदि द्रव्य स्वय से ही सत् न हो तो ध्रुवत्व के असंभव होने के कारण द्रव्य स्वय ही नाश को प्राप्त होता है, वस्तु ही नहीं रहती।

२. यदि द्रव्य अपने सत्ता गुण से भिन्न हो तो सत्ता गुण का प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि सत्ता का कार्य तो द्रव्य के अस्तित्व को रखना है।

यदि द्रव्य उसके सत्ता गुण से भिन्न रहे तो सत्ता गुण का प्रयोजन नहीं रहता और इससे सत्ता गुण के अभाव का प्रसग आता है।[१]

प्रश्न – क्या स्वप्न की पर्याय भी सत्तावाली होगी ?

उत्तर – हाँ, वह पर्याय भी सत्तावाली है। ज्ञान की पर्याय में अस्तित्व का अभाव नहीं होता। अपनी ज्ञान की पर्याय में राग की पर्याय तथा अन्य पदार्थ जो स्वप्न में भासित होते हैं, वे जानने में आते हैं; इसीलिए वह अस्तित्ववाली पर्याय है। स्वप्न भ्रम नहीं, अवस्तु नहीं; वह भी एक वस्तु है। जीव के क्षायोपशमिक ज्ञान की पर्याय की उस समय की योग्यता है, तब वह स्वप्न देखता है।

इस गाथा में गुण-गुणी अभेद हैं – ऐसा सिद्ध किया है। द्रव्य और सत्ता का प्रदेशभेद नहीं है – ऐसा कहा है।[२]

यहाँ अस्तित्व गुण की बात कही है, किन्तु सभी गुणों की सत्ता से द्रव्य अभेद है – ऐसा समझ लेना चाहिए।[३]

दूसरे की सत्ता से अपनी सत्ता है – ऐसा माननेवाला सत्ता गुण और सत्तावान द्रव्य को भिन्न-भिन्न मानता है।[४] भाव तथा भाववान पृथक् नहीं है, शक्ति तथा शक्तिवान पृथक् नहीं, स्वभाव व स्वभाववान पृथक नहीं है। इसीलिए द्रव्य स्वय ही सत्ता है अथवा गुण-गुणी अभेद हैं, उनमें पृथकत्व नहीं है – ऐसा निर्णय करना चाहिए।[५]''

इस गाथा और उसकी टीका में विविध तर्कों से यही सिद्ध किया गया है कि सत्ता और द्रव्य अभिन्न ही हैं, एक ही हैं।

यद्यपि यह परमसत्य है कि सत्ता गुण है, अस्तित्व नामक सामान्य गुण है और द्रव्य गुणी है, इसप्रकार इनमें गुण-गुणी भेद है; लक्षणभेद है; तथापि प्रदेशभेद नहीं है।

जबतक प्रदेशभेद न हो, तबतक गुण-गुणी को भिन्न नहीं माना जाता, अभिन्न ही माना जाता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२४७ २ वही, पृष्ठ-२४८
३ वही, पृष्ठ-२४८ ४ वही, पृष्ठ-२४९ ५ वही, पृष्ठ-२४९

प्रवचनसार गाथा-१०६

विगत गाथा में यह कहा गया था कि सत्ता और द्रव्य अभिन्न ही हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यद्यपि सत्ता और द्रव्य में पृथकता नहीं है; तथापि उनमें परस्पर अन्यता अवश्य है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं।।१०६।।

(हरिगीत)

जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों।।१०६।।

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है – ऐसा भगवान महावीर का उपदेश है। जो उसरूप न हो, वह उससे अभिन्न कैसे हो सकता है ?

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

''विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। अत: यह पृथकत्व तो सत्ता और द्रव्य में संभव नहीं है; क्योंकि गुण और गुणी में सफेदी और दुपट्टे के समान विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है। वह इसप्रकार है –

जिसप्रकार सफेदीरूप गुण के जो प्रदेश हैं, वे ही दुपट्टेरूप गुणी के भी हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है। इसीप्रकार सत्तागुण के जो प्रदेश हैं, वे ही प्रदेश गुणी द्रव्य के भी हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

ऐसा होने पर भी सत्ता और द्रव्य में अन्यत्व है; क्योंकि इनमें अन्यत्व का लक्षण घटित होता है। अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य में है ही; क्योंकि गुण और गुणी में सफेदी और दुपट्टे के समान तद्भाव का अभाव होता है।

वह इसप्रकार है कि जिसप्रकार एक चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला और अन्य सभी इन्द्रियों के गोचर न होनेवाला जो सफेदीरूप गुण है; वह समस्त इन्द्रियों को गोचर होनेवाले दुपट्टेरूप गुणी नहीं हैं और जो समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होनेवाला दुपट्टा है, वह एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के विषय में नहीं आनेवाला सफेदीरूप गुण नहीं है। इसलिए उनके तद्भाव का अभाव है।

इसीप्रकार किसी के आश्रय रहनेवाली, स्वय निर्गुण, एक गुणमय, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप जो सत्ता (सत्ता गुण-अस्तित्व गुण) है; वह किसी के आश्रय बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणमय, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य नहीं है तथा जो किसी के आश्रय बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणमय, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है; वह किसी के आश्रित रहनेवाली, निर्गुण, एक गुणमय, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नहीं है। इसलिए इनके तद्भाव का अभाव है।

ऐसा होने से यद्यपि सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (अभिन्नता) है; तथापि उनके सर्वथा एकत्व होगा – ऐसी शका नहीं करना चाहिए; क्योंकि तद्भाव एकत्व का लक्षण है। जो तद्भावरूप नहीं हो, वह सर्वथा एक कैसे हो सकता है ? वह तो गुण-गुणी भेद से अनेक ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुसरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी ने इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करने के लिए २ मनहरण, १ छप्पय और १ दोहा – इसप्रकार ४ छन्दों का प्रयोग किया है; जिनमें गाथा और टीका की विषयवस्तु को सोदाहरण प्रस्तुत कर दिया है; जो मूलत. पठनीय है।

पण्डित देवीदासजी ने भी प्रवचनसारभाषाकवित्त में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करने के लिए ६ दोहे, २ चौपाई, १ कवित्त और १ सवैया

– इसप्रकार १० छन्द लिखे हैं; जो सभी मूलतः पठनीय हैं। विस्तार भय से उन्हें यहाँ देना संभव नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्रदेशों का पृथक्-पृथक् होना पृथक्त्व का लक्षण है। आत्मा और शरीर के प्रदेश बिल्कुल पृथक् हैं, आत्मा और कर्म के प्रदेश भी पृथक् हैं। शरीर के एक परमाणु का दूसरे परमाणु से प्रदेशभेद है; इसीलिए कोई आत्मा दूसरे आत्मा अथवा शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता।[१]

गुण-गुणी में प्रदेशभेद नहीं है – ऐसा बराबर समझे तथा निश्चय का भान हो; फिर भी यदि अस्थिरता का राग होता है तो उससे धर्म नष्ट नहीं हो जाता। गुण-गुणी में प्रदेश की अभेदता को समझे बिना शुभभाव करे तो उसे धर्म नहीं होता।

इसतरह सत्ता और द्रव्य में प्रदेशभेद से भेद नहीं होने पर भी सत्ता गुण और द्रव्य गुणी को परस्पर अन्यत्व है; क्योंकि सत्ता और द्रव्य में अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है।[२]

सम्पूर्ण वस्तु एक गुण में नहीं आती; इसकारण वस्त्र और सफेदी में एकत्व नहीं है अर्थात् वस्त्र और सफेदी में अतद्भाव है। इसीप्रकार सत्ता गुण और द्रव्य गुणी के स्वभाव में अन्तर है।[३]

१. सत्ता द्रव्याश्रित है और द्रव्य निराश्रित है।

२ सत्ता निर्गुण है और द्रव्य गुणवाला है।

३ सत्ता एक गुणरूप है और द्रव्य अनन्त गुणरूप है।

४. सत्ता विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है।

५. सत्ता विधायक है और द्रव्य विधीयमान है।

६. सत्ता वृत्तिस्वरूप है और द्रव्य वृत्तिमान है।[४]

इसप्रकार किसी के आश्रय से रहनेवाली, निर्गुण, एक गुण की बनी हुई, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप ऐसी जो सत्ता है, वह किसी के

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२५२-२५३
२ वही, पृष्ठ-२५३
३ वही, पृष्ठ-२५४
४ वही, पृष्ठ-२५४-२५५

आश्रय के बिना रहनेवाले, गुणवाले, अनेक गुणों का बना हुआ, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य नहीं है। उपर्युक्त छह लक्षणवाला द्रव्य वह उपर्युक्त छह लक्षणवाली सत्ता नहीं है।

यहाँ तो एक सत्ता गुण का दृष्टान्त दिया है। इसीतरह एक-एक गुण वह द्रव्य नहीं है और द्रव्य वह गुण नहीं है। आत्मा, ज्ञान नहीं और ज्ञान, आत्मा नहीं है। गुण द्रव्य नहीं और द्रव्य, गुण नहीं है; इसलिए उन्हें तद्भाव का अभाव है।[१]

इससे निश्चित होता है कि द्रव्य और अस्तित्व आदि गुणों के प्रदेशभेद नहीं होने पर भी उनमें अन्यत्व है; क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश भिन्न नहीं होने पर भी द्रव्य और गुण में सज्ञा, सख्या और लक्षण आदि भेद होने से द्रव्य कथचित् गुणरूप नहीं और गुण कथचित् द्रव्यरूप नहीं है।[२]

अनेक प्रकार की विविधतारूप ज्ञान राग का कारण नहीं है, अनेक प्रकार के ज्ञेयों की विविधता राग का कारण नहीं है, अनेक प्रकार के कर्मों की विविधता भी राग का कारण नहीं है। राग का कारण तो रागी जीव के राग की उस समय की योग्यता है। शास्त्र में कहा है कि परद्रव्यानुसारी बुद्धि राग का कारण है; किन्तु परद्रव्य राग का कारण नहीं है।

गुण-गुणी के भेद का अथवा द्रव्य-गुण-पर्यायो का विचार करना तो ज्ञान की पर्याय है, इसके कारण राग नहीं होता, किन्तु रागी जीव को रागाश है, इसलिए राग होता है।

आत्मा मे जो गुण-गुणी भेद है, वह राग का कारण नहीं है। गुण-गुणी भेद है – ऐसा ज्ञान होना भी राग का कारण नहीं है। जिसतरह द्रव्य-गुण-पर्याय राग का कारण नहीं है, उसीतरह द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान भी राग का कारण नहीं है।[३]"

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२५६

२ वही, पृष्ठ-२५८

३ वही, पृष्ठ-२५९-२६०

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि सत्ता और द्रव्य में पृथक्तारूप भिन्नता नहीं होने पर भी अन्यतारूप भिन्नता विद्यमान है।

भिन्नता दो प्रकार की होती है – एक पृथकतारूप भिन्नता एवं दूसरी अन्यतारूप भिन्नता। पृथकता अर्थात् दो पदार्थ जुदे-जुदे हैं एवं अन्यता अर्थात् जिनकी सत्ता तो एक है, पर स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। जिनकी सत्ता पृथक् है, उनमें पृथक्ता होती है एव जिनकी सत्ता एक है, पर लक्षणादि भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अन्यता होती है।

द्रव्य तथा गुणों के मध्य एव द्रव्य तथा पर्याय के मध्य अन्यता होती है, पृथकता नहीं। दो द्रव्यों के मध्य पृथकता होती है, अन्यता नहीं। एक द्रव्य की दो पर्यायों में अन्यता होती है, पृथकता नहीं। एक द्रव्य के दो गुणो में अन्यता होती है, पृथकता नहीं।

एक द्रव्य, गुण व पर्याय में जहाँ मात्र भाव से ही भिन्नता होती है एव द्रव्य-क्षेत्र व काल से अभिन्नता होती है, वहाँ अन्यता है। ज्ञान का जाननेरूप भाव है एव दर्शन का देखनेरूप भाव है। इसप्रकार भावभिन्नता होने से ज्ञान और दर्शन में अन्यता है।

मैं देह से इसलिए पृथक् हूँ; क्योंकि देह व आत्मा – ये दो पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं। राग से आत्मा इसलिए अन्य है; क्योंकि इसमें दो द्रव्य नहीं हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि 'भिन्नता' शब्द का प्रयोग पृथकता और अन्यता – इन दोनों के स्थान पर खुलकर समान रूप से किया जाता रहा है; अत: यह ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि भिन्नता का अर्थ प्रकरण के अनुसार किया जावे।

प्रश्न – उत्पाद भी सत् है, व्यय भी सत् है एव ध्रौव्य भी सत् है। तीनों यदि सत् हैं तो तीनों में तीन सत् हैं या दो सत् हैं या एक सत् है ?

उत्तर – अस्तित्व नामक जो गुण है, वह तीनों में एक ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों में तीन सत् नहीं हैं, एक ही सत् है।

सत् के अंश को भी सत् कहा जाता है; इसलिए उत्पाद भी सत् है,

व्यय भी सत् है एवं ध्रौव्य भी सत् है। जो सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य – इन तीनों में व्याप्त है, वही सत्ता द्रव्य में व्याप्त है।

हम कहते हैं कि ज्ञान का अस्तित्व है, दर्शन का अस्तित्व है; इसप्रकार अनंत गुणों का अस्तित्व है। यह ऐसी विचित्र बात है कि अनंत का अस्तित्व होकर भी सम्पूर्ण अस्तित्व मिलाकर एक ही है।

गुरुदेवश्री ने ४७ शक्तियों को समझाते हुए यह कहा है कि सत्तागुण का रूप सब में है; जिसकी वजह से वह सब में है। सत्ता तो स्वयं से सत्तास्वरूप है, परन्तु शेष सभी गुणों में सत्ता का रूप होने से वे भी सत्तास्वरूप हैं। ज्ञान का अस्तित्व है, चारित्र का अस्तित्व है। उनमें अस्तित्व गुण का रूप होने से सभी गुणों का अस्तित्व है।

सब द्रव्यों में सत्ता नामक गुण पृथक्-पृथक् हैं; परतु आत्मा के सभी गुणों में सत्ता नामक एक ही गुण है। आत्मा की सभी पर्यायों में एक ही सत्ता गुण है।

स्वरूपास्तित्व नामक जो सत्ता है, वह एक ही है। वह हमारे सम्पूर्ण द्रव्य, गुणों और पर्यायों में व्याप्त होती है; लेकिन सादृश्यास्तित्वरूप महासत्ता सभी द्रव्यों में व्याप्त है। वह एक नहीं है, अनेक है। आचार्य ने जाति के अपेक्षा उसे एक है – ऐसा कहा है।

एक द्रव्य के दो गुणों के मध्य अतद्भाव होता है, परन्तु दो द्रव्यों के मध्य अतद्भाव नहीं होता, अत्यताभाव होता है। जिसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप चतुष्टय भिन्न-भिन्न हों, उसे अत्यताभाव कहते हैं।

एक द्रव्य की पर्यायों के मध्य परस्पर अतद्भाव होता है और गुणों के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और गुण के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है और गुण और पर्याय के मध्य भी परस्पर अतद्भाव होता है। द्रव्य और पर्याय के मध्य भी अतद्भाव होता है; परतु दो द्रव्यों के मध्य अत्यंताभाव होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि एक द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायों के बीच परस्पर अतद्भाव है और दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव होता है।●

प्रवचनसार गाथा १०७

विगत गाथा में प्रदेशभेदवाले पृथक्त्व और अतद्भाववाले अन्यत्व का स्वरूप स्पष्ट किया गया है; अब इस १०७वीं गाथा में अतद्भाव को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेच य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

(हरिगीत)

सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है।
तदरूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है॥१०७॥

सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इसप्रकार सत्ता गुण का विस्तार है। इनमें जो उसका अभाव अर्थात् उसरूप होने का अभाव है; वह तद्-अभाव अर्थात् अतद्भाव है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार एक मोतियों की माला हार के रूपमें, धागों के रूप में और मोती के रूप में – इसप्रकार तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है; उसीप्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – इसप्रकार तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

जिसप्रकार एक मोतियों की माला का सफेदी गुण; सफेद हार, सफेद धागे और सफेद मोती के रूप में तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है; उसीप्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय – ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

जिसप्रकार एक मोतियों की माला में जो सफेदी नामक गुण है; वह हार नहीं है, धागा नहीं है, मोती नहीं है और जो हार, धागा या मोती है, वह सफेदी गुण नहीं है – इसप्रकार एक-दूसरे में जो उसका अभाव

अर्थात् उसरूप होने का अभाव है, वह तद्-अभाव लक्षण अतद्भाव है; जो कि अन्यत्व का कारण है।

उसीप्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है; वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं है और जो द्रव्य, अन्य गुण या पर्याय है, वह सत्ता गुण नहीं है – इस प्रकार एक-दूसरे में जो तद्रूप होने का अभाव है, वह तद्-अभाव लक्षण अतद्भाव है, जो कि अन्यत्व का कारण है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में पहले तो उक्त उदाहरण के माध्यम से ही बात को स्पष्ट करते है; किन्तु बाद में उसे सिद्ध परमात्मा पर भी घटित करके बताते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(छप्पय)

सत्ता तीन प्रकार सहित विस्तार कहा है।
दरवसत्त गुनसत्त सत्त परजाय गहा है।।
जो तीनों के माहिं परस्पर भेद विराजै।
सोई है अन्यत्व भेद इमि जिन धुनि गाजे।।
है दरवसत्त गुन-परज-गत गुनसत एक सुधरम-रत।
परजायसत्त क्रम को धरै, यातैं भेद प्रमानियत।।

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् – इसप्रकार सत्ता का विस्तार तीन रूपो में होता है और इन तीनों में परस्पर जो भेद है, वह भेद अन्यत्व कहलाता है। गुण-पर्यायगत द्रव्य सत्, सब धर्मों में व्याप्त गुण सत् और क्रमभावी पर्यायों में व्याप्त पर्याय सत् इसप्रकार के भेदों से प्रमाणित करना चाहिए।

(मनहरण)

जैसे एक मोतीमाल तामें तीन भांत सेत,
सेत हार सेत सूत सेतरूप मनिया।
तैसे एक दर्वमाहिं सत्ता तीन भांत सोहै,
दर्वसत्ता गुनसत्ता पर्जसत्ता भनिया।।

दरव की सत्ता है अनंत धर्म सर्वगत,
गुन की है एक ही धरमरूप गनिया।
परज की सत्ता क्रमधारी ऐसी भेदाभेद,
साधी मुनि वृन्द श्रुतसिंधु के मथनिया।।

आगमरूपी समुद्र का मंथन करनेवाले मुनिराजों ने सत्ता और द्रव्य के कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद को इसप्रकार सिद्ध किया है कि जिसप्रकार एक मोती की माला में सफेद हार, सफेद सूत और सफेद मणियाँ – इसप्रकार तीन प्रकार का सत् देखने में आता है; उसीप्रकार एक द्रव्य में द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत् – इसप्रकार तीनप्रकार का सत् कहा गया है।

इनमें द्रव्य सत् अनत धर्मों में व्याप्त होने से सर्वगत है, गुण सत् एक ही धर्म में होता है और पर्याय सत् क्रमधारी पर्यायें होती हैं। इसप्रकार यह सत्तागुण द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।

पण्डित देवीदासजी ने भी मोतियों की माला के उदाहरण से उक्त बात समझाई है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एक आत्मा की सत्ता दूसरे आत्मा और अन्य द्रव्यों की सत्ता से भिन्न है, वह किसी के साथ एकमेक नहीं है।

सत्ता गुण का तीन प्रकार से विस्तार किया गया है। शक्तिवान, शक्तियाँ और अश – तीनों एक होकर सत् अखण्ड द्रव्य है; फिर भी उनमें परस्पर अतद्भाव है। जो द्रव्य है, वह गुण अथवा पर्याय नहीं है; जो गुण है, वह द्रव्य अथवा पर्याय नहीं है और जो पर्याय है, वह द्रव्य अथवा गुण नहीं है।

उसरूप होने का अभाव ही अतद्भाव है।

ऐसा वस्तु का स्वभाव यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान का कारण है। अनन्त द्रव्य, गुण और पर्यायों का ज्ञान करना राग का कारण नहीं है।[1]

सम्यग्दृष्टि जीवों को अन्तर अनुभव के समय गुण-गुणी में कथचित्

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२६३

भेद है – ऐसा सम्यग्ज्ञान वर्तता है; किन्तु गुण-गुणी सर्वथा एक हैं – ऐसा ज्ञान नहीं वर्तता। द्रव्य में अनेक ज्ञेय जानने में आते हैं, इस अनेकता का ज्ञान राग का कारण नहीं है।[१]

जीव ज्ञान से सभी ज्ञेयों को जाने इसमें आपत्ति नहीं है। ज्ञान का स्वभाव तो जानने का ही है। एक अभेद आत्मा को जाने तो राग न हो; किन्तु अनेक को जाने तो राग हो – ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है।[२]

प्रश्न – इतना सब ज्ञान करें तो ज्ञान को आराम कब मिलेगा ?

उत्तर – भाई ! अपने अमर्यादित ज्ञानस्वभाव को संकुचित करके अल्प करना आराम नहीं है। वह जीव तो अपने ज्ञान को ढंकता है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो अखण्डरूप से अपने को परिपूर्ण जानने का है और तीनों काल, तीनों लोक के पदार्थों को एक ही समय में जानने का है – ऐसे स्वभाव की सामर्थ्य की महिमा आना चाहिए।

इतनी शक्तिवाला ज्ञानस्वभाव है – ऐसी श्रद्धा करना दृष्टि का आराम है और परिपूर्ण स्वभाव मे अभेद होना परिपूर्ण आराम है।[३]

इस ज्ञान के बिना सच्चा ध्यान नहीं होता। आत्मा सामान्य द्रव्यरूप से, ज्ञानादि गुणरूप से और सिद्धत्व आदि पर्यायरूप से त्रिधा विस्ताररूप कहा गया है। इसीप्रकार सभी द्रव्यों का स्वरूप समझना चाहिए।[४]

यह ज्ञेय अधिकार है, इसीलिए स्वज्ञेय और परज्ञेय का भेद करके यथार्थ ज्ञान करना सम्यग्दर्शन तथा वीतरागता का कारण है – ऐसा यहाँ बताया गया है।[५]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अर्थात् सत्ता गुण अपने-अपने में है; जिसे हम अवान्तरसत्ता या स्वरूपास्तित्व भी कहते हैं।

जिसप्रकार भारतीय मुद्रा की इकाई रुपया है। पैसो का जो भेद है, वह रुपये के अन्तर्गत ही है, इसीकारण ५० पैसे के सिक्के पर १/२ रुपया लिखा रहता है। उसीप्रकार स्वरूपास्तित्व या अवान्तरसत्ता जैनदर्शन की

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२६५　　२ वही, पृष्ठ-२६६
३ वही, पृष्ठ-२६९　　४ वही, पृष्ठ-२७१　　५ वही, पृष्ठ-२७३

इकाई है। द्रव्य-गुण-पर्याय के जो भेद हैं; वे इसके अन्तर्गत ही आते हैं।

महासत्ता का दूसरा नाम सादृश्यास्तित्व भी है; जो अपने नाम से ही यह सूचित करता है कि यह सत्ता सभी में समानता के आधार पर ही मानी गई है। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्यों का अस्तित्व समान ही है; इसकारण सभी महासत्ता के अन्तर्गत आ जाते हैं।

यह एकता उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से है और स्वरूपास्तित्व के अन्तर्गत द्रव्य-गुण-पर्याय के जो भेद किये जाते हैं; वे सब अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं।

तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्यों की एकता असद्भूत है, उपचरित है और एक द्रव्य में भेद करना सद्भूत है, अनुपचरित है; इसलिए सादृश्यास्तित्व के आधार पर अपनी सत्ता के समान अन्य सभी की सत्ता स्वीकार करते हुए अपना अपनापन अपने स्वरूपास्तित्व में स्थापित करना ही उचित है।

प्रश्न – सभी द्रव्यों की एकता उपचरित-असद्भूत और एक द्रव्य में भेद करना अनुपचरित-सद्भूत क्यों है, कैसे है ?

उत्तर – सादृश्यास्तित्व के आधार पर की गई विभिन्न द्रव्यों की एकता वास्तविक नहीं है; इसलिए असद्भूत है और वे सभी द्रव्य एकक्षेत्रावगाही नहीं हैं; इसलिए उनमें परस्पर दूर का सबध होने से उपचरित है।

एकवस्तु में होनेवाले द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद वास्तविक हैं; इसलिए सद्भूत हैं और वे एकक्षेत्रावगाही हैं; इसलिए अनुपचरित हैं।

वास्तविक बात यह है कि भिन्न-भिन्न द्रव्यों में सदृशता के आधार पर जो एकता की जाती है; उनमें परस्पर अत्यन्ताभाव होता है और एक वस्तु के द्रव्य, गुण, पर्यायों के बीच अतद्भाव होता है। जहाँ अत्यन्ताभाव होता है, वहाँ असद्भूतव्यवहारनय लगता है और जहाँ अतद्भाव होता है, वहाँ सद्भूतव्यवहारनय लगता है।

उक्त सन्दर्भ में विशेष जानकारी करने के लिए लेखक की अन्य कृति 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' के **व्यवहारनय : भेद-प्रभेद** सबधी प्रकरण का स्वाध्याय करना चाहिए। ●

प्रवचनसार गाथा १०८

विगत गाथा में अतद्भाव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि सर्वथा अभाव का नाम अतद्भाव नहीं है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

(हरिगीत)

द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह।
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है॥१०८॥

स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है – यह अतद्भाव है, सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है। ऐसा जिनदेव ने कहा है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एक द्रव्य में जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है – इसप्रकार जो द्रव्य का गुणरूप से अभवन (नहीं होना) अथवा गुण का द्रव्यरूप से अभवन है; वह अतद्भाव है; क्योंकि इतने से ही अन्यत्वरूप व्यवहार सिद्ध हो जाता है।

'द्रव्य का अभाव गुण है और गुण का अभाव द्रव्य है' – ऐसे लक्षणवाला अभाव अतद्भाव नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो एक द्रव्य को अनेकत्व आ जावेगा, उभयशून्यता (दोनों का अभाव) आ जावेगी अथवा अपोहरूपता आ जावेगी।

अब इसी बात को विस्तार से समझाते हैं –

चेतनद्रव्य का अभाव अचेतनद्रव्य है और अचेतनद्रव्य का अभाव चेतनद्रव्य है – इसप्रकार का अभाव तो भिन्न-भिन्न अनेक द्रव्यों में पाया

जाता है। इसकारण 'द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य' यदि ऐसा माना जाय तो जिसप्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अनेकत्व है, उसीप्रकार का अनेकत्व द्रव्य और गुण में भी तो हो जायेगा।

जिसप्रकार सोने का अभाव होने पर सोनेपन का अभाव हो जाता है और सोनेपन का अभाव होने पर सोने का अभाव हो जाता है – इसप्रकार उभयशून्यता (दोनों का अभाव) हो जाती है; उसीप्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव और गुण का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जावेगा अर्थात् दोनों का अभाव हो जायेगा, उभयशून्यता हो जावेगी।

जिसप्रकार पटाभाव (वस्त्र का अभाव) मात्र घट (घडा) है और घटाभाव मात्र पट है; इसप्रकार दोनों के अपोहरूपता (केवल नकारात्मकता) है; उसीप्रकार द्रव्याभाव मात्र गुण है और गुणाभाव मात्र द्रव्य है – इसप्रकार इसमे भी अपोहरूपता आ जावेगी।

इसप्रकार द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य मानने पर द्रव्य और गुण को अनेकत्व, उभयशून्यता और अपोहरूपता (केवल नकारात्मकता) के प्रसग उपस्थित होगे। इसलिए द्रव्य और गुण में एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व को चाहनेवाले अतद्भाव का वही लक्षण स्वीकार करे, जो कि यहाँ कहा गया है।''

आचार्य जयसेन भी इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी २ मनहरण कवित्त और १ दोहा – इसप्रकार ३ छन्दो के माध्यम से इस गाथा और उसकी टीका के भाव को प्रस्तुत करते हैं, जिनमें से दोहा इसप्रकार है –

(दोहा)

दरव और गुन के विषैं है अन्यत्व विभेद।
जुदे दोउ नहिं सरवथा, श्रीगुरु करी निषेद॥

द्रव्य और गुण में अन्यत्व का भेद ही है, पृथकता का भेद नहीं; दोनो सर्वथा पृथक् हों – इसका निषेध श्रीगुरु ने कठोरतापूर्वक कर दिया है।

पण्डित देवीदासजी भी दो दोहों में इस बात को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(दोहा)

जो है दरव सु गुन नहीं, गुन सु न दरव स्वरूप।
दरव सुगुन दोऊ सदा अपनैं अपनैं रूप ॥३४॥
यहु सु गुन गुनी भेद है दुधा सरवथा नांहि।
सम्यक दिष्टि जगैं सहज प्रगट होइ घट मांहि ॥३५॥

जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्यरूप नहीं है। द्रव्य और गुण – दोनों हमेशा अपने-अपने रूप में रहते है।

यह गुण-गुणी रूप दो प्रकार का भेद सर्वथा नहीं है। जब दृष्टि में सम्यक्पना आता है; तब हृदय में यह बात सहज प्रगट हो जाती है अर्थात् सहजता से समझ में आ जाती है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एक आत्मा का अन्य आत्माओं के साथ तथा एक आत्मा का शरीर के साथ सर्वथा अभाव है; परन्तु अन्य द्रव्य और गुण को तथा गुण और पर्याय को अथवा द्रव्य और पर्याय को एक-दूसरे के साथ सर्वथा अभाव नहीं है।[१]

आत्मा और जड दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं, दोनों के बीच अभावस्वभाव की मोटी दीवार खडी है – ऐसा अभावस्वभाव द्रव्य तथा गुण के बीच में नहीं है। आत्मा और शरीर के बीच जैसा अभावस्वभाव है, वैसा द्रव्य और गुण के बीच माना जाये तो इसमें तीन दोष आते हैं – १. द्रव्य और गुण के सर्वथा अनेकत्व का प्रसग, २ उभय शून्यता का प्रसग और ३ अपोहरूपता का प्रसग।[२]"

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२७६
२ वही, पृष्ठ-२७७

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि द्रव्य और सत्ता गुण में परस्पर सर्वथा अभाव नहीं है, अतद्भाव है। इस बात को सिद्ध करते हुए टीका में यह कहा गया है कि यदि द्रव्य और सत्ता गुण में परस्पर सर्वथा अभाव मानोगे तो तीन दोष उपस्थित होंगे; जो इसप्रकार है –

१. जिसप्रकार दो द्रव्यों में परस्पर पृथक्ता है, अनेकत्व है; उसीप्रकार की पृथक्ता या अनेकत्व द्रव्य में और सत्ता गुण में भी हो जायेगा।

२ द्रव्य के अभाव में गुण का सद्भाव संभव नहीं है और गुण के अभाव में द्रव्य का सद्भाव संभव नहीं; इसप्रकार एक के अभाव होने पर दोनों का ही अभाव हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि दोनों की शून्यता (उभयशून्यता) हो जावेगी।

३ द्रव्य या सत्ता गुण को परस्पर में एक-दूसरे के अभावरूप स्वीकार करने पर अपोहता अर्थात् सर्वथा पूर्णतः अभावात्मकता आ जावेगी।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य और गुण मात्र अभावरूप (निगेटिव) ही रहेंगे, उनका कोई भावात्मक (पॉजिटिव) स्वरूप नहीं रहेगा।

इसलिए यही ठीक है कि हम द्रव्य और सत्ता गुण को पृथक्-पृथक् तो न माने, पर अन्य-अन्य तो मानना ही चाहिए। इसप्रकार इन दोनों में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता सिद्ध होती है। ●

इन देहादि परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दुःखों को दूर करने और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-५१

प्रवचनसार गाथा १०९

विगत गाथा में यह बताया गया था कि सर्वथा अभाव का नाम अतद्भाव नहीं है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है – इसप्रकार इनमें गुण-गुणी का संबंध है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्वं त्ति जिणोवदेसोयं ॥१०९॥

(हरिगीत)

परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा।
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ॥१०९॥

जो द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वभावभूत परिणाम है; वह परिणाम सत्ता से अभिन्न गुण है। स्वभाव में स्थित होने से द्रव्य सत् है – ऐसा जिनदेव का उपदेश है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य सत् है – ऐसा पहले (९९वीं गाथा मे) कहा था और वहीं यह भी कहा था कि परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। अब यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है, वही सत् से अभिन्न गुण है।

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा सत् शब्द से कहा जाता है, उस अस्तित्व से अनन्य गुण ही द्रव्यस्वभावभूत परिणाम है; क्योंकि द्रव्य की वृत्ति तीन काल के समय को स्पर्श करती होने से प्रतिक्षण उस-उस स्वभावरूप परिणमित होती है।

इसप्रकार द्रव्य का स्वभावभूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम द्रव्य की अस्तित्वभूत वृत्तिस्वरूप होने से सत् से अभिन्न द्रव्यविधायक गुण ही है। इसप्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणीपना सिद्ध होता है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट

करते हुए तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जैसी कि उनकी शैली है, तदनुसार वे सभी प्रकरणों को आत्मद्रव्य पर घटित करके समझाते हैं; इस गाथा में भी ऐसा ही हुआ है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

द्रव्य को सुभाव परिनाम जु है निश्चैकरि,
अस्तित स्वरूप सोई सत्ता नाम गुन है।
सर्व गुन में प्रधान फहरै निशान जाको,
उतपाद-वय-धुवसंजुत सुगुन है॥
ताही असतित्तरूप सत्ता में विराजै दर्व,
यातैं सत नाम द्रव्य पावत अपुन है।
ऐसे सत्ता गुन औ दरव गुनी एकताई,
साधी कुन्दकुन्द वृन्द वन्दत निपुन है॥

निश्चय से द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम अस्तित्व है। वह अस्तित्व ही सत्ता नामक गुण है। यह गुण सर्व गुणों में प्रधान है और इसकी ध्वजा फहराती ही रहती है। यह गुण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है। इस अस्तित्व रूप सत्ता में ही द्रव्य विराजमान रहता है और इसीकारण द्रव्य का सत् नाम पडा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ऐसे सत्ता गुण और गुणी द्रव्य में एकता सिद्ध की है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि मैं उन निपुण कुन्दकुन्दाचार्य को वदन करता हूँ।

पण्डित देवीदासजी भी एक छन्द में इस गाथा के भाव को इसीप्रकार प्रस्तुत कर देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''उत्पाद-व्यय-ध्रुव के परिणाम धारावाही निरतर चला करते हैं। यदि वे परिणाम न हों तो सत्ता भी न हो और सत्ता न हो तो गुणी द्रव्य भी नहीं रहता।[१]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२८४

द्रव्य के स्वरूप को बनाये रखने का कारण अस्तित्व गुण है। इस अस्तित्व गुण को द्रव्यप्रधान कथन द्वारा सत् शब्द से कहा गया है। द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुव उस सत् से भिन्न नहीं है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों होकर जो परिणाम हुआ, वही सत्ता है।[१]

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम में द्रव्य स्थित है, ऐसा कहो अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणाम जो कि अस्तित्व गुण है, उसमें द्रव्य स्थित है – ऐसा कहो – दोनों का अभिप्राय एक ही है; क्योंकि अस्तित्व गुण स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रुवपरिणामरूप ही है; इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम सत् शब्द से कहा गया है।[२]

सभी जड पदार्थ और आत्मा समय-समय किसतरह परिणमन कर रहे हैं, उस परिणाम को बताकर वह परिणाम स्वय ही सत्ता है और सत्ता द्रव्य से भिन्न नहीं है – ऐसा सिद्ध करते हैं।[३]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त जो परिणाम है, वह सत् है और वह सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् के ही दूसरे नाम अस्तित्व और सत्ता हैं। सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। इसप्रकार इनमें गुण-गुणी सम्बन्ध है।

और आगामी गाथा में यह कहेंगे कि द्रव्य का जो मूलभूत लक्षण है, वह सत्ता गुण अर्थात् अस्तित्व है; वह गुण और द्रव्य अन्य-अन्य नहीं हैं, अनन्य ही हैं।

यदि भेदनय से देखें तो सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है; इसप्रकार इनमें गुण-गुणी का भेद होने से दोनों अन्य-अन्य हैं, किन्तु अभेदनय से देखें तो दोनों एक ही हैं।

इसप्रकार गुण और गुणी कथचित् अन्य-अन्य अर्थात् अनेक और कथचित् अनन्य अर्थात् एक हैं। जिनधर्म स्याद्वादरूप है और स्याद्वाद में यह सब सहज घटित होता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२८५
२ वही, पृष्ठ-२८५
३ वही, पृष्ठ-२८६

प्रवचनसार गाथा ११०

विगत गाथा में सत्ता और द्रव्य में गुण-गुणीपना सिद्ध किया है और अब इस गाथा में यह बताते हैं कि इनमें गुण-गुणी संबंध होने पर भी गुण और गुणी – दोनों एक ही हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता॥११०॥

(हरिगीत)

पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं।
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं॥११०॥

इस विश्व में द्रव्य से पृथक् गुण या पर्यायें नहीं होतीं। द्रव्यत्व ही भाव है अर्थात् अस्तित्व गुण है; इसलिए द्रव्य स्वय सत्ता ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार पीलापन और कुण्डलादि सोने से पृथक् नहीं होते; उसीप्रकार गुण और पर्यायें द्रव्य से पृथक् नहीं होतीं।

द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व नाम से कहा जानेवाला द्रव्यत्व; द्रव्य का भाव नाम से कहा जानेवाला गुण होने से क्या वह अस्तित्व द्रव्य से पृथक् होगा ? नहीं होगा, तो फिर द्रव्य स्वय ही सत्ता क्यों न हो ? तात्पर्य यह है कि द्रव्य स्वय सत्तास्वरूप ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में मुक्तात्मद्रव्य का उदाहरण देते हुए इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कुण्डलिया)

ऐसो गुन कोऊ नहीं दरव बिना जो होय।
विना दरव परजाय हू जग में लखै न कोय।।
जग में लखै न कोय बहुरि दिढतर ऐसे सुन।
दरवहि का अस्तित्वभाव सोई सत्ता गुन।।
तिस कारन स्वयमेव दरव सत्ता ही है सो।
अनेकांत तैं सधत वृन्द निरदूषन ऐसो।।

जो द्रव्य के बिना होता हो, ऐसा कोई गुण नहीं होता। इसीप्रकार पर्यायें भी द्रव्य के बिना नहीं देखी जातीं। जग में आजतक किसी ने भी गुण-पर्याय से रहित द्रव्य नहीं देखा।

इस बात को दृढता से सुनो कि द्रव्य का अस्तित्वभाव ही सत्ता गुण है। इस कारण द्रव्य स्वय ही सत्तास्वरूप है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि यह सब अनेकान्त से निर्दोष सिद्ध होता है।

इस गाथा के भाव को पण्डित देवीदासजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

यह लोक मांहिं कोई और अैसौ गुन नांहि
तासौं द्रव्य सौं जुदागी करिकैं बताइये।
तैसैं ही सु अैसौ और पुनि परजाय नांहीं
दरव सौ जासौं भिन्न भिन्नता लगाइये।।
द्रव्य गुन परजाय तीन ही अभेद जाथैं
वस्तु आपु सत्ता के स्वरूप समुझाइये।
गुन पीततादि कुंडलादि परजाय जैसैं
कंचन स्वरूप तैं जुदे न कहूँ पाइये।।३७।।

जिसप्रकार पीतादि गुण और कुण्डलादि पर्यायों से भिन्न कोई सोना नहीं है, उसीप्रकार इस लोक में ऐसा कोई गुण नहीं है; जिसे द्रव्य से जुदा किया जा सकता हो। इसीप्रकार ऐसी कोई पर्याय नहीं है, जिसे द्रव्य से

भिन्न किया जा सके। द्रव्य, गुण और पर्याय – तीनों अभेद हैं; इसलिए वस्तु स्वय सत्तास्वरूप है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ द्रव्यत्व शब्द का अर्थ जो कि द्रव्यत्व नाम का सामान्य गुण है, उस अर्थ में नहीं लेना है, अपितु जो सत् है, वह द्रव्य है और सत्ता है, वह द्रव्यत्व है। द्रव्य और द्रव्यत्व अर्थात् सत् और सत्ता भिन्न नहीं है।[१]

आत्मा और पुद्गल द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में रह रहे हैं, यह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणाम है, जिसे सत्तागुण कहा है।[२]

प्रत्येक आत्मा और जड पदार्थों की सत्ता पृथक्-पृथक् है और प्रत्येक पदार्थ की सत्ता अपने-अपने में है, अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने परिणाम से पृथक नहीं हैं और वे अन्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव परिणाम से पृथक् हैं – ऐसा भेदज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है।[३]''

इस गाथा में सोने का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि सत्ता गुण और सत् द्रव्य – ये अनन्य ही हैं, अन्य-अन्य नहीं। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२८७
२ वही, पृष्ठ-२८८ ३ वही, पृष्ठ-२८९

> त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोडो, मान छोडो, लोभ छोडो। यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोडो। जो दु खस्वरूप हैं, दु खकर हैं, आत्मा का अहित करनेवाले हैं – वे मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है। इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं – ऐसे पुत्रादि चेतन एव धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है। पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है, किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारटी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे। **– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१२२**

प्रवचनसार गाथा १११

विगत गाथा में गुण-गुणी में अनेकत्व का निषेध कर एकता स्थापित की थी और अब इस गाथा में यह बताते हैं कि द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद में कोई विरोध नहीं है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि॥१११॥

(हरिगीत)

पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से।
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा॥१११॥

ऐसा द्रव्य द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा स्वभाव में सद्भावसबद्ध और असद्भावसंबद्ध उत्पाद को सदा प्राप्त करता है।

सत् अर्थात् जो वस्तु पहले से ही विद्यमान हो, उसके उत्पाद को सत्-उत्पाद कहते हैं और जो वस्तु पहले से विद्यमान न हो, उसके उत्पाद को असत्-उत्पाद कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय से प्रत्येक वस्तु का सत् उत्पाद होता है और पर्यायार्थिकनय से प्रत्येक वस्तु का असत् उत्पाद होता है।

कार्य तो एक ही हुआ है; उसे ही द्रव्यार्थिकनय से सत्-उत्पाद और पर्यायार्थिक-नय से असत्-उत्पाद कहते हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"निर्दोष लक्षणवाला, अनादिनिधन, पूर्वकथित यह द्रव्य अपने सत्स्वभाव में उत्पन्न होता है। द्रव्य का यह उत्पाद द्रव्यार्थिकनय से कथन करते समय सद्भावसबद्ध ही है और पर्यायार्थिकनय से कथन करते समय असद्भावसबद्ध ही है।

अब इसी बात को विशेष समझाते हैं –

जब द्रव्य की चर्चा होती है, पर्यायों की नहीं; तब उत्पत्ति-विनाश

रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य को उत्पन्न करनेवाली अन्वय शक्तियों के द्वारा; उत्पत्ति-विनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्त्तमान, पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सोने की भाँति सद्भावसंबद्ध ही उत्पाद है।

वह इसप्रकार है कि जब सोने की चर्चा होती है; बाजूबद आदि पर्यायों की नहीं; तब सोने के समान जीवित, युगपद् प्रवर्तमान, सोने की उत्पादक अन्वय-शक्तियों द्वारा, बाजूबद आदि पर्यायों के समान जीवित, क्रमशः प्रवर्त्तमान, बाजूबद आदि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होनेवाले सोने का सद्भावसबंद्ध ही उत्पाद होता है।

जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं; तब उत्पत्ति-विनाशलक्षण, क्रमशः प्रवर्त्तमान, पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली उन-उन व्यतिरेक पर्यायों के द्वारा; उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होनेवाले द्रव्य को सोने की भाँति असद्भावसबंद्ध ही उत्पाद होता है।

वह इसप्रकार है कि जब बाजूबद आदि पर्यायें कही जाती हैं; सोना नहीं; तब बाजूबद आदि पर्यायों के समान जीवित, क्रमश. प्रवर्त्तमान, बाजूबद आदि पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा, सोने के समान जीवित युगपद् प्रवर्त्तमान सोने की उत्पादक अन्वय शक्तियो को प्राप्त सोने के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है।

अब पर्यायों की चर्चा के समय भी असत्-उत्पाद में पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेक व्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपने को प्राप्त होती हुई पर्यायों को द्रव्य करता है।

जिसप्रकार बाजूबंद आदि पर्यायों को उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेक व्यक्तियाँ युगपद् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तिपने प्राप्त करती हुई बाजूबद आदि पर्यायों को सोना करता है; उसीप्रकार द्रव्य की चर्चा के समय भी सत्-उत्पाद में द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति को प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेकव्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, द्रव्य को पर्यायें (पर्यायरूप) करती हैं।

जिसप्रकार सोने की उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस-उस व्यतिरेक-व्यक्तित्व को प्राप्त होती हुई, सोने को बाजूबंद पर्यायरूप करती हैं; उसीप्रकार द्रव्य के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए।

इसलिए द्रव्यार्थिकनय के कथन से सत्-उत्पाद है और पर्यायार्थिक-नय के कथन से असत्-उत्पाद है – यह बात निर्दोष है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिससमय द्रव्यार्थिकनय से देखते हैं तो यह स्पष्ट ही है कि कडे में जो सोना है, कंकण में भी वही सोना है; इसकारण सत्-उत्पाद कहा जाता है और जब पर्यायार्थिकनय से देखते हैं तो कंकण पर्याय जो अभी उत्पन्न हुई है, वह पहले नहीं थी; अत: यह असत्-उत्पाद है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए वे गृहत्याग और मुनिदीक्षा का भी उदाहरण देते हैं।

सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद के स्वरूप को कविवर वृन्दावनजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(दोहा)

दो प्रकार उतपादजुत दरव रहत सब काल।
सत उतपाद प्रथम कह्यो दुतिय असत की चाल॥
दरव अनादि अनंत जो निज परजै के मांहि।
उपजत है सो दरवदृग सद उतपाद कहाहिं॥
जो पूरव ही थो नहीं ताको जो उतपाद।
सो परजय-नयद्वार तैं असदभाव निरवाद॥

द्रव्य सदा ही दो प्रकार के उत्पाद से सहित होता है। उनमें पहला सत्-उत्पाद है और दूसरा असत्-उत्पाद है।

अनादि-अनत जो द्रव्य है, वह अपनी पर्यायों में पैदा होता है; वह द्रव्यदृष्टि से सत्-उत्पाद कहा जाता है।

जो पहले नहीं था और अब जिसका उत्पाद हुआ है; पर्यायार्थिकनय से वह असत्-उत्पाद है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"उत्पाद तो एक ही है, कथन शैली दो प्रकार की है। दोनों में उत्पाद का सम्बन्ध तो द्रव्य के साथ है। मूल गाथा में है कि द्रव्य स्वय ही सद्भावसम्बद्ध और असद्भावसम्बद्ध उत्पाद को सदा प्राप्त होता है।[१]

जिसका पहले अस्तित्व हो, उसकी ही उत्पत्ति को सत् उत्पाद कहते हैं और जिसका पहले अस्तित्व न हो, उसकी उत्पत्ति को असत् उत्पाद कहा गया है। जब अवस्था को गौण करके द्रव्य का मुख्यरूप से कथन किया जाता है अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि अवस्था को गौण करके आत्मद्रव्य का कथन किया जावे तो जो अस्तित्व है, वही उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि शक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं।[२]

एक ही उत्पाद को दो सबंध लागू पडते हैं। द्रव्य के साथ सबध कहना हो, तब सत्-उत्पाद और पर्याय के साथ सबध कहना हो, तब द्रव्य को असत्-उत्पाद हुआ कहा गया है।[३]"

उक्त गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जब कोई कार्य होता है तो वह पहले से था या एकदम नया उत्पन्न होता है ?

उक्त सन्दर्भ में जैनदर्शन का कहना है कि जिससे वस्तु बनती है, वह मूल सामग्री तो पहले भी थी और अभी भी है, उसमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं। सोना तब भी था, जब वह कडे के रूप में था और अब भी है, जब कगन बन गया है, अत. सोने का ही पूर्वपर्यायरूप से नाश हुआ है और सोने का ही उत्तरपर्यायरूप से उत्पाद हुआ है; अत: सत् का ही उत्पाद हुआ है। पर जिसकी दृष्टि कडे पर है, उसका तो सब कुछ नष्ट ही हो गया है और जिसकी दृष्टि कगन पर है, उसे सब कुछ मिल गया।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि पर्यायदृष्टि से देखने पर असत् का उत्पाद हुआ है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर सत् का उत्पाद हुआ है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-२९४

२ वही, पृष्ठ-३०४-३०५ ३ वही, पृष्ठ-३०५

प्रवचनसार गाथा ११२-११३

१११वीं गाथा में सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद में कोई विरोध नहीं है – यह सिद्ध किया गया था; अब इन ११२ व ११३वीं गाथाओं में सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा तथा असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं –

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि॥११२॥
मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि॥११३॥

(हरिगीत)

परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह॥११२॥
मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं।
ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह॥११३॥

परिणमित होता हुआ जीव, मनुष्य, देव या अन्य तिर्यंच, नारकी या सिद्ध होगा; परन्तु क्या वह मनुष्यादिरूप होने से जीवत्व को छोड देगा ? नहीं, कदापि नहीं, तो फिर वह अन्य कैसे हो सकता है ?

मनुष्य देव नहीं है अथवा देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है – ऐसी स्थिति में वे अनन्य कैसे हो सकते हैं ?

एकसाथ समागत ये दोनों गाथायें एकदम परस्पर विरुद्ध दिखाई देती हैं। एक कहती है कि वे अन्य-अन्य कैसे हो सकते हैं और दूसरी कहती है कि वे अनन्य कैसे हो सकते हैं ? असल बात यह है कि उक्त गाथाओं में सत्-उत्पाद में अनन्यपना और असत्-उत्पाद में अन्यपना सिद्ध किया गया है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तियों को कभी न छोड़ता हुआ द्रव्य सत् ही है, विद्यमान ही है। द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेक व्यक्तित्व का उत्पाद होता है; उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति अच्युत रहती है; इसकारण द्रव्य अनन्य ही है। इसलिए अनन्यपने से द्रव्य का सत् उत्पाद निश्चित होता है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं– जीव द्रव्य होने से और द्रव्य पर्यायों में वर्तने से जीव नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व में से किसी एक पर्याय में अवश्यमेव परिणमित होगा; परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोडता है क्या ?

यदि नहीं छोडता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (त्रैकालिक-अस्तित्व) जिसके प्रगट है –ऐसा वह जीव वही न हो ?

पर्यायें पर्यायभूत व्यतिरेक व्यक्तित्व के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं। पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति के साथ गुंथा हुआ जो क्रमानुसार उत्पाद होता है, उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति का पूर्व में असत् पना होने से पर्यायें अन्य ही है। इसलिए पर्यायों की अन्यता द्वारा पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण और अधिकरण होने से पर्यायों से अपृथक् द्रव्य का असत् उत्पाद निश्चित होता है।

अब इसी बात को उदाहरण द्वारा विशेष स्पष्ट करते हैं–

मनुष्य देव या सिद्ध नहीं है और देव मनुष्य या सिद्ध नहीं है; इसप्रकार न होता हुआ जीव अनन्य कैसे हो सकता है ? ककण आदि पर्यायों में उत्पन्न होनेवाले स्वर्ण की भाँति जीव भी मनुष्यादि पर्यायों में उत्पन्न होता हुआ पर्यायापेक्षा अन्य-अन्य ही है।"

उक्त गाथाओं का भाव यह है कि जिसप्रकार सोने की दृष्टि से देखने पर ककणादि पर्यायों में परिणमित होता हुआ सोना सोना ही रहता है,

अनन्य ही रहता है; अन्य-अन्य नहीं हो जाता। उसीप्रकार द्रव्य की दृष्टि से देखने पर मनुष्यादि पर्यायों में परिणमित होता हुआ जीवद्रव्य जीव ही रहता है, अनन्य ही रहता है; अन्य-अन्य नहीं हो जाता है। इस अपेक्षा सत् का ही उत्पाद होता है।

जिसप्रकार कंकणादि गहनों की दृष्टि से देखने पर ककणादि पर्यायों में परिणमित सोना ककणादि ही हो जाता है, अन्य-अन्य ही हो जाता है, अनन्य नहीं रहता। उसीप्रकार मनुष्यादि पर्यायो की दृष्टि देखने पर मनुष्यादि पर्यायों में परिणमित जीव मनुष्यादि ही हो जाता है, अन्य-अन्य ही हो जाता है, अनन्य नहीं रहता। इस अपेक्षा से असत् का ही उत्पाद होता है।

कविवर वृन्दावनदासजी ने उक्त दोनों गाथाओ के भाव को एक एक मनहरण कवित्त में बडी ही सरलता से प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है–

(मनहरण कवित्त)

जीव दर्व आपने सुभाव प्रनवंत संत,
मानुष अमर वा अपर पर्ज धारैगो।
तिन परजायनिसों नानारूप होय तऊ,
कहा तहाँ आपनी दरवशक्ति छाँरैगो।।
जो न कहूँ आपनी दरवशक्ति छोड़ैं तब,
कैसे और रूप भयो निहचै बिचारैगो।
ऐसे दर्वशक्ति नानारूप परजाय व्यक्त,
जथारथ जाने वृन्द सोई आप तारैगो।।७१।।

यह जीव द्रव्य अपने स्वभावरूप परिणमित होता हुआ मनुष्य, देव अथवा अन्य किसी पर्याय को धारण करेगा और उन पर्यायो की अपेक्षा अनेकप्रकार का होगा; तथापि वह वहाँ अपनी द्रव्यशक्ति को छोड देगा क्या ? अर्थात् कभी नहीं छोडेगा। और यदि वह अपनी द्रव्यशक्ति को नहीं छोडता है तो फिर अन्यरूप कैसे होगा ? – इस बात को निश्चयनय से विचार करके देखना चाहिए। इसप्रकार अनेक पर्यायों में व्यक्त ऐसी द्रव्यशक्ति को जो यथार्थरूप से जानेगा, कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि वह व्यक्ति निश्चितरूप से स्वय को ससारसागर से पार अवश्य उतारेगा।

एक परजाय जिहिकाल परिनवै जीव,
तिहिकाल और परजायरूप नहीं है।
मानुष परज परिनयौ तब देव तथा,
सिद्धपरजाय तहाँ कहां ठहराही है॥
देव परजाय में मनुष-सिद्ध पर्ज कहाँ,
ऐसे परजाय द्वार भेद विलगाही है।
या प्रकार एकता न आई तब कैसे नाहिं,
पर्जद्वार नाना नाम दरव लहाही है॥७२॥

जिससमय जो जीव जिस पर्यायरूप परिणमित होता है; उस समय अन्य पर्यायरूप नहीं है। जब मनुष्य पर्यायरूप परिणमित है, तब देव या सिद्ध पर्यायरूप कैसे हो सकता है ? देव पर्याय में मनुष्य या सिद्ध पर्याय कहाँ है ? इसप्रकार पर्यायापेक्षा भेद दिखाई देता है। इसप्रकार यदि एकता नहीं आती है तो फिर द्रव्य पर्यायापेक्षा अनेक नाम धारण क्यों नहीं करेगा ?

पण्डित देवीदासजी भी इन गाथाओं के भाव को १ इकतीसा सवैया और १ छप्पय में बडी ही सहजता से इसीप्रकार प्रस्तुत कर देते हैं।

स्वामीजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"समयसार में दृष्टि का विषय बताने के लिए ध्रुवस्वभाव की बात की है; वहाँ जीवस्थान, गुणस्थान जीव का कायमी स्वरूप नहीं होने के कारण उसे अजीव बताया है और यहाँ प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि क्रोधरूप, मानरूप, मिथ्यात्वरूप, अज्ञानरूप, मार्गणास्थानरूप अलग-अलग गुणस्थानों की दशारूप जीव स्वय रहता है; इसप्रकार अखण्ड ज्ञेय बताकर अशी ऐसे द्रव्य को बताया है। वह का वही द्रव्य ध्रुव शक्तिवान रहता है – ऐसा ध्रुव द्रव्य बताना है। शक्तिवान पर वजन है। द्रव्य-गुण-पर्याय इन तीनों का ज्ञान कराकर द्रव्यदृष्टि करवाना है।[1]

प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है। यदि द्रव्य अकेला परिणामी ही हो तो नित्य के बिना परिणाम किसका ? और यदि द्रव्य अकेला (मात्र)

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३०९-३१०

नित्य हो तो विकार अथवा अविकार सिद्ध नहीं होता और विकार पलटकर सिद्धदशा प्रगट करना भी नहीं रहता।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है; इसमें समय-समय अन्य-अन्य अवस्था होती है; उस समय जीव भी पर्यायदृष्टि से उसरूप अन्य-अन्य होता है; किन्तु ध्रुव पृथक् नहीं रहता।

ध्रुव वस्तुस्वभाव की दृष्टि से देखो तो आत्मा वैसे का वैसा ही है अर्थात् जड चेतन नहीं होता और चेतन जड नहीं होता; किन्तु अपने में अपनी अवस्था के समय पर्यायदृष्टि से सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायरूप होता है। जब पर्याय अन्य-अन्य होती है, तब द्रव्य भी सम्पूर्ण अन्य-अन्य होता है। यदि पर्याय के समान ध्रुव अन्य-अन्य न हो तो पर्याय और द्रव्य पृथक्-पृथक् हो जावेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता।[१]

वस्तु स्वतत्र है और समय-समय स्वतत्र अवस्था करने के लिए समर्थ है। प्रत्येक वस्तु ध्रुव रहकर बदलती है, भावान्तररूप होती है, किन्तु अपना सर्वथा अभाव करके वह रूपान्तर नहीं होती।[२]

सामान्य स्वभाव की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु ऐसी की ऐसी रहती है और पर्याय अपेक्षा से अपने पर्याय स्वभाव के कारण अन्य-अन्य होती है।

यदि शुद्ध स्वभाव प्रगटरूप हो तो वर्तमान में परमानन्द प्रगट होना चाहिए, परन्तु वर्तमान में ससार है, इसीलिए आकुलता है और यदि स्वभाव शक्तिरूप सुख का सागर न हो तो आकुलता मिटकर निराकुलता प्रगट नहीं होगी। शुद्ध स्वभाव शक्ति कायम (ध्रुव) रहकर अवस्था मे परिणमन हुआ करता है और पर्याय होते समय ध्रुव पृथक् नहीं रहता। तथा ध्रुव अकेला रहे और पर्याय दूसरी हो जावे – ऐसा भी नहीं होता।[३]

मिथ्यात्व की पर्याय का व्यय होकर सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट हुई है; किन्तु मिथ्यात्व की पर्याय सम्यक्त्व की पर्याय का कर्ता, करण और आधार नहीं है। इसीतरह देव-गुरु-शास्त्र भी सम्यक्त्व की पर्याय के कर्ता, करण और आधार नहीं हैं। ध्रुव स्वभाव भाव, गुण, शक्ति,

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३१४　२ वही, पृष्ठ-३१४　३ वही, पृष्ठ-३१५

सदृश्य भाव स्वयं ही सम्यग्दर्शन का कर्ता है, वही करण है और वही आधार है।[१]

सत्-उत्पाद कहो तो उसी ध्रुव में से उत्पाद हुआ है और असत्-उत्पाद कहो तो भी पहले नहीं था और हुआ तो यही ध्रुव अन्यरूप हुआ है। यह का यही ध्रुव अन्यरूप हुआ है, अन्य कोई नहीं।[२]

प्रश्न – चारित्र गुण शुद्ध है, उसे विकार का कर्ता कैसे कहते हैं ?

उत्तर – भाई ! गुण में अशुद्धता द्रव्यदृष्टि से नहीं है – यह तेरी बात सही है; किन्तु पर्यायार्थिकनय से गुण स्वय एक समय मात्र अशुद्ध परिणमित होता है; इसलिए विकार का कर्ता, करण और आधार चारित्रगुण है; क्योंकि वह उसी की पर्याय है। गुण तीनों काल की पर्यायों का पिण्ड है, उसमे से वर्तमान रागवाली पर्याय उसकी नहीं, यदि ऐसा कहकर एक पर्याय का अभाव करोगे तो गुण सम्पूर्ण सिद्ध नहीं होता।[३]

यहाँ जो गुण, शक्ति, समान, ध्रुव, सादृश्य कहा है; उसे सामान्य द्रव्य भी कहने में आया है, यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और सादृश्यरूप जो पर्याय है – जो उत्पाद-व्यय होता है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। गुण और पर्याय होकर सम्पूर्ण द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव सहित सम्पूर्ण द्रव्य प्रमाणज्ञान का विषय है।[४]"

इन गाथाओं में अनेक तर्क व उदाहरण देकर यही बात समझाने की कोशिश की है कि द्रव्य और पर्याय कथंचित् अन्य-अन्य हैं और कथंचित् अनन्य। जिस अपेक्षा से वे अनन्य हैं, उस अपेक्षा से सत्-उत्पाद है और जिस अपेक्षा से अन्य-अन्य हैं, उस अपेक्षा से असत्-उत्पाद है।

जैनदर्शन का सम्पूर्ण प्रतिपादन नय सापेक्ष है, स्याद्वादरूप है; उसमें एकान्तवाद को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, सर्वत्र अनेकान्तवाद का ही साम्राज्य है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३२६
२ वही, पृष्ठ-३२७
३ वही, पृष्ठ-३२८
४ वही, पृष्ठ-३२८

प्रवचनसार गाथा ११४

गाथा ११२ में सत्-उत्पाद को अनन्यपना सिद्ध किया और गाथा ११३ में असत्-उत्पाद को अन्यपना सिद्ध किया; अब ११४वीं गाथा में एक ही द्रव्य में अन्यपना और अनन्यपना होने से जो विरोध मालूम पड़ता है; उसका निराकरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि अब यह बताते हैं कि अपेक्षा से देखें तो दोनों में कोई विरोध नहीं है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो।।११४।।

(हरिगीत)

द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है।
पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है।।११४।।

द्रव्यार्थिकनय से सब द्रव्य हैं और पर्यायार्थिकनय से वे द्रव्य अन्य-अन्य हैं; क्योंकि उस समय तन्मय होने से द्रव्य पर्यायों से अनन्य है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुतः सभी वस्तुयें सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को देखनेवाली-जाननेवाली दो ऑंखें हैं – १. द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को एकान्ततः (पूर्णतः, सर्वथा, पूरी तरह, अच्छी तरह) बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनारूप पर्याय विशेषों में व्यवस्थित (सुनिश्चित रहनेवाले) एक जीव सामान्य को देखनेवाले (जाननेवाले) और विशेषों को नहीं देखने (जानने) वाले जीवों को 'यह सब जीव द्रव्य ही है' – ऐसा भासित होता है।

और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को एकान्ततः (पूर्णतः सर्वथा, पूरीतरह, अच्छीतरह) बद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु को देखा जाता

है; तब जीवद्रव्य में व्यवस्थित (सुनिश्चित रहनेवाले) नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनारूप पर्याय विशेषों को देखने (जानने) वाले और सामान्य को न देखने (जानने) वाले जीवों को वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि जिसप्रकार कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठ की अग्नि कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय है; इसलिए इनसे अनन्य है, पृथक् नहीं है; उसीप्रकार जीव द्रव्य भी उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय उन विशेषों से तन्मय होने से उनसे अनन्य है, पृथक् नहीं।

और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर दोनों के द्वारा देखा जाता है; तब नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनेरूप पर्यायों में व्यवस्थित (सुनिश्चितरूप से रहनेवाला) जीव सामान्य तथा जीव सामान्य में व्यवस्थित नारकपना, तिर्यंचपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपनेरूप पर्याय, तुल्यकाल में ही एकसाथ दिखाई देते हैं, जाने जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि एक आँख से देखा जाना एकदेशावलोकन है और दोनों आँखों से देखना सर्वावलोकन है; इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका का पूर्णतः अनुकरण करते हैं। यहाँ तक कि उदाहरण भी वे ही देते हैं।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

दर्वार्थिकनय नैन खोलकर देखिये तो,
सोई दर्व और रूप भयो नाहिं कबही।
फेर परजायनय नैन तैं निहारिये तो,
सोई नानारूप भयो जैसो पर्ज जब ही।।
जातैं नर नारकादि काय जिहि काल लहै,
तासों तनमई होय रहै तैसो तबही।
जैसे आगि एक पै प्रवेश नाना ईंधन में,
ईंधन अकार तैं भयो है भेद सब ही।।७३।।

द्रव्यार्थिकनय की आँख से खोलकर देखें तो वह द्रव्य अन्यरूप कभी नहीं हुआ है। यदि पर्यायार्थिकनय की आँख से निहारें तो वही द्रव्य जब जैसी पर्याय होती है, तब तैसा परिणमित होता है; इसलिए द्रव्य जिस समय जिस पर्याय से तन्मय है, उससमय उसी पर्यायमय है।

जिसप्रकार अग्नि तो एक ही है; पर अनेक प्रकार के ईंधन में प्रवेश करते हुए ईंधन के आकार हो जाती है; उसीप्रकार एक आत्मा भिन्न-भिन्न पर्यायों से भिन्न-भिन्न रहते हुए भी द्रव्य से अभिन्न ही रहता है।

इस गाथा के भाव को पण्डित देवीदासजी मात्र १ दोहे में इसप्रकार प्रस्तुत कर देते हैं –

(दोहा)

दरव दिष्टि करिकैं सवै वस्तु स्वरूप सु एक।
पुनि परजाय सुदिष्टि करि सो परकार अनेक॥४१॥

द्रव्यदृष्टि से देखने पर सभी वस्तुएँ स्वरूप से एकरूप ही हैं और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे अनेकरूप हैं।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पर्यायार्थिकनय को गौण करके अकेले द्रव्यार्थिकनय से जब वस्तु का ज्ञान किया जाता है; तब नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धत्व इन सभी अवस्थाओं में जीव सामान्यपने से देखने पर ये सभी जीव हैं – ऐसा निश्चित होता है अर्थात् ये अन्य जीव नहीं, अजीव भी नहीं हैं। जीव एक गति में से दूसरी गति में जाये तो वह दूसरा जीव नहीं हो जाता।[१]

जब द्रव्यार्थिकनय को गौण करके पर्यायार्थिकनय से देखा जाता है, तब पृथक्-पृथक् अवस्था को देखनेवाले नय से वह द्रव्य पृथक्-पृथक् भासित होता है। जैसे कि मनुष्य पर्याय देव पर्याय नहीं है, देव पर्याय सिद्ध पर्याय नहीं है। इसप्रकार अवस्था से देखा जाए तो जीव अन्य-अन्य भासित होता है; क्योंकि वह विशेषों के समय उनमें तन्मय होने के कारण वह उनसे पृथक् नहीं, अपितु अनन्य है।[२]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३३४-३३५ २ वही, पृष्ठ-३३५

विशेषों में रहे हुए द्रव्य को जानना वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्य में रहे हुए विशेषों को जानना वह पर्यायार्थिकनय है।[१]

स्व का ज्ञान होने पर, पर का ज्ञान अपने निश्चय ज्ञान से होता है। **स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव अपना है; इसलिए निश्चय है, पर्याय भी निश्चय है। सामान्य ध्रुव भी निश्चय है।** वस्तु का सर्वदेश प्रमाण ज्ञान से अवलोकन करने पर स्वतत्र एक-एक द्रव्य में उनका भेद-अभेदपना विरोध को प्राप्त नहीं होता। विरोध तो परद्रव्य की जरूरत (आवश्यकता) स्वीकार करनेवाले अज्ञान में है।[२]

चैतन्य स्व-परप्रकाशक है। स्व-पर ज्ञायक शक्ति स्वतत्ररूप से रहकर परिणमित होती है – ऐसा जिसने नहीं माना; उसने आत्मा को ही नहीं माना। जड पदार्थ, जड पदार्थ की सर्व शक्तियों से जडेश्वर है और चैतन्य आत्मा चैतन्यरूप से पूर्ण ईश्वर है।[३]''

इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। उसे जानने के लिए दो आँखें चाहिए – एक द्रव्यार्थिकनय की आँख, जो वस्तु के सामान्यस्वरूप को देखती है और दूसरी पर्यायार्थिकनय की आँख, जो वस्तु के विशेषस्वरूप को देखती है। इसप्रकार प्रमाणज्ञान से दोनों आँखें मिलकर सामान्यविशेषात्मक वस्तु को अच्छी तरह जान लेती हैं।

ध्यान रहे यहाँ ऐसा नहीं कहा है कि मात्र एक द्रव्यार्थिकनय की आँख को सदा खोलना है, पर्यायार्थिकनय की आँख को बद ही रखना है।

अन्त में आचार्यदेव ने प्रमाणदृष्टि की चर्चा की है, जिसमें दोनो आँखें एकसाथ खुली रखी जाती हैं। अत: इस गाथा में से ऐसा अर्थ निकालना कि सदा एक द्रव्यार्थिक आँख को ही खुली रखना, एकदम गलत है; क्योंकि वस्तुस्वरूप समझने के लिए उसे प्रत्येक दृष्टि से देखना अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान देने की बात यह है कि इस गाथा के प्रवचन में स्वामीजी ने आत्मा के स्व-परप्रकाशक स्वभाव को निश्चय कहा है।●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३३६ २ वही, पृष्ठ-३३७ ३ वही, पृष्ठ-३३९

प्रवचनसार गाथा ११५

११४वीं गाथा में सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद अथवा एक ही द्रव्य में अन्यपना और अनन्यपने में दिखाई देनेवाले विरोध का नयविवक्षा से शमन किया था, अब इस ११५वीं गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए समस्त विरोध को समाप्त करनेवाली सप्तभंगी की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है –

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ।।११५।।

(हरिगीत)

अपेक्षा से द्रव्य 'है' 'है नहीं' 'अनिर्वचनीय' है।
'है है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं ।।११५।।

द्रव्य किसी पर्याय से अस्ति, किसी पर्याय से नास्ति और किसी पर्याय से अवक्तव्य है। इसीप्रकार किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति अथवा किसी पर्याय से अन्य तीन भंगरूप कहा गया है।

ध्यान रहे यहाँ पर्याय शब्द अपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्य स्वरूप की अपेक्षा से **स्यात्-अस्ति**; पररूप की अपेक्षा से **स्यात्-नास्ति**; स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से **स्यात्-अवक्तव्य**; स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से **स्यात्-अस्ति-नास्ति**; स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से **स्यात् अस्ति-अवक्तव्य**; पररूप और स्वरूप-पररूप की अपेक्षा से **स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य** और स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से **स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य** है।

द्रव्य का कथन करने में जो स्वरूप से **सत्** है; पररूप से **असत्** है; जिसका स्वरूप और पररूप से युगपत् **कथन अशक्य** है; जो स्वरूप से पररूप से क्रमश: **सत्-असत्** है; जो स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् **सत्-अवक्तव्य** है; जो पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् **असत्-अवक्तव्य** है; और जो स्वरूप से, पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् **सत्-असत्-अवक्तव्य** है।

ऐसे अनंत धर्मों वाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षितता और अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्काररूपी अमोघ मंत्र पद के द्वारा 'एवकार' में रहनेवाले समस्त विरोध-विष के मोह को दूर करती है।''

इस महत्त्वपूर्ण गाथा एवं उसकी टीका के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी एक छप्पय और एक मनहरण कवित्त – इसप्रकार दो छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

(छप्पय)

दरब कथंचित अस्तिरूप राजै इमि जानो।
बहुर कथंचित नास्तिरूप सोई परमानो॥
होत सोई पुनि अवक्तव्य ऐसे उर धरनी।
फिर काहू परकार सोइ उभयातम वरनी॥
पुनि और सुभंगनि के विषैं जथाजोग सोई दरव।
निरबाध बसत निजरूपजुत श्रीगुरु भेद भने सरव॥७४॥

द्रव्य कथंचित् अस्तिरूप और कथंचित् नास्तिरूप शोभायमान हो रहा है – इस बात को प्रमाणित करो। वही द्रव्य किसी अपेक्षा अवक्तव्य है तथा किसी अपेक्षा उभयरूप होता है – यह बात हृदय में धारण करो।

इसीप्रकार अन्य भंगों के बारे में जानना चाहिए। श्रीगुरु ने समस्त रहस्य को उद्घाटित किया है कि यह निजरूप आत्मा निर्बाधरूप से रहता है।

(मनहरण कवित्त)

आपनी चतुष्टै दर्व-क्षेत्र-काल-भावकरि,
तिहूँकालमाहिं दरव अस्तितसरूप है।
सोई परद्रव्य के चतुष्टै करि नास्ति सदा,
फेर सोई एकै काल उभैरूप भूप है।।
एकै काल नाहिं जात कह्यो तातैं अकथ है,
फेर सोई अस्ति अवक्तव्य सु अनूप है।
फेर नास्ति अकथ औ अस्ति नास्ति अकथ है,
कथंचितवानी सो सुधारस को कूप है।।७५।।

प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप चतुष्टय की अपेक्षा त्रिकाल अस्तिरूप है और वही द्रव्य परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप परचतुष्टय की अपेक्षा सदा नास्तिरूप है; वही द्रव्य दोनों की अपेक्षा सदा एकसाथ उभय (अस्ति-नास्ति) रूप है।

एक काल में एकसाथ कहा नहीं जा सकता – इसकारण अवक्तव्य है। इसीप्रकार वही द्रव्य अस्ति-अवक्तव्यरूप, नास्ति-अवक्तव्यरूप और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप भी है। यह कथचित्‌वाणी अर्थात् स्याद्वादवाणी का अमृतकूप है।

पण्डित देवीदासजी उक्त सप्तभंगी को एक इकतीसा सवैया में ठीक इसीप्रकार स्पष्ट कर देते हैं।

इसीप्रकार स्वामीजी भी इस गाथा के भाव को सोदाहरण विस्तार से स्पष्ट कर देते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि सप्तभगी दो प्रकार की होती है – प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभगी। नयसप्तभगी में अपेक्षा स्पष्ट कर दी जाती है और प्रमाणसप्तभगी में अपेक्षा स्पष्ट न करके उसके स्थान पर स्यात् या कथचित् पद का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त सप्तभगी नयसप्तभंगी है; क्योंकि उसमें अपेक्षा स्पष्ट कर दी गई है कि स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है आदि।

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में स्पष्ट लिखते हैं कि यह नयसप्तभंगी है। वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि पचास्तिकाय की १४वीं गाथा की टीका में 'स्यादस्ति' आदि प्रमाण वाक्यों द्वारा प्रमाणसप्तभंगी बताई गई है।

नयसप्तभंगी में 'एव' अर्थात् 'ही' शब्द का प्रयोग होता है और प्रमाणसप्तभंगी में 'भी' शब्द का प्रयोग होता है।

वस्तु किसी अपेक्षा सत् भी है और किसी अपेक्षा असत् भी है – यह प्रमाण सप्तभंगी के प्रयोग हैं और स्वरूप की अपेक्षा सत् ही है और पररूप की अपेक्षा असत् ही है – यह नयसप्तभंगी के प्रयोग हैं।

बिना अपेक्षा बताये 'ही' शब्द का प्रयोग करना दुर्नयसप्तभंगी है। स्याद् या कथंचित् लगाये बिना ही 'भी' लगाना दुष्प्रमाणसप्तभंगी है।

आचार्य जयसेन लिखते हैं कि 'द्रव्य है' – यह दुष्प्रमाणसप्तभंगी है और 'द्रव्य है ही' – यह दुर्नयसप्तभंगी है।[१]

वस्तुस्वरूप समझने और समझाने के लिए सप्तभंगी न्याय जैनदर्शन का अद्भुत अनुसंधान है, अनुपम निधि है। जैनदर्शन के मर्म को समझने के लिए इस सप्तभंगी न्याय को समझना न केवल अत्यन्त आवश्यक है, अपितु अनिवार्य है।

सप्तभंगी का स्वरूप गहराई से समझने के लिए लेखक की अन्य कृति परमभावप्रकाशक नयचक्र के सप्तभंगी नामक छटवें अध्याय का अध्ययन बारीकी से करना चाहिए।

यहाँ उसकी चर्चा विस्तार से करना सम्भव नहीं है। ●

१ पचास्तिकाय, गाथा १४ की तात्पर्यवृत्ति टीका

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है. यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा अधर्म है। – **आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

प्रवचनसार गाथा ११६

विगत गाथा ११५ में सप्तभंगी का स्वरूप स्पष्ट करके अब इस गाथा में यह समझाते हैं कि मनुष्यादि पर्यायरूप विविध दशायें रागादिभावों का फल हैं; क्योंकि ये अनेकरूप दशायें वीतराग भावों का फल तो हो ही नहीं सकती।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ।।११६।।

(हरिगीत)

पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो।
है अफल परमधरम परन्तु क्रिया अफल नहीं कही ।।११७।।

मनुष्यादि पर्यायों में 'यही' ऐसी कोई शाश्वत पर्याय नही है; क्योंकि ससारी जीवों के स्वभावनिष्पन्न क्रिया नहीं है – ऐसी बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि ससारी जीवों के विभावस्वभाव से उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेषमय क्रिया होती ही है।

यदि परम धर्म अफल है तो राग-द्वेषमय क्रिया अवश्य अफल नहीं है। तात्पर्य यह है कि वीतरागभावरूप क्रिया तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती नहीं है; पर राग-द्वेषरूप क्रिया तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती ही है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इस लोक में अनादि कर्म पुद्गल की उपाधि के सद्भाव के कारण जिसके प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है – ऐसे ससारी जीव की राग-द्वेषरूप क्रिया वस्तुत. स्वभाव (विभावस्वभाव) निष्पन्न ही है; इसलिए उसके मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही है' – ऐसी टकोत्कीर्ण नहीं है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया के फलस्वरूप होने से उत्तर-उत्तर पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं।

राग-द्वेषरूप क्रिया का फल तो मोह के साथ मिलन का नाश न हुआ होने से मानना चाहिए; क्योंकि प्रथम तो वह क्रिया चेतन की पूर्वोतर दशा से विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है।

दूसरे जिसप्रकार दूसरे अणु के साथ युक्त किसी अणु की परिणति द्वि-अणुक कार्य की निष्पादक है; उसीप्रकार मोह के साथ मिलित आत्मा के संबध में मनुष्यादि कार्य की निष्पादक होने से सफल ही है।

जिसप्रकार जिसका सबध दूसरे अणु के साथ नष्ट हो गया है – ऐसे अणु की परिणति द्वि-अणुककार्य की निष्पादक नहीं है; उसीप्रकार मोह के साथ मिलन का नाश होने पर द्रव्य की परमस्वभावभूत होने से परमधर्म कही जानेवाली क्रिया मनुष्यादि कार्य की निष्पादक न होने से अफल ही है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अनुकरण करते हैं, पर अन्त में मतार्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इससे साख्यमत का निराकरण भी हो जाता है। साख्य आत्मा को रागादि भावों का सर्वथा अकर्ता मानते हैं; पर जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादि का कर्ता नहीं है; तथापि अशुद्ध-निश्चयनय से आत्मा रागादि भावों का कर्ता है और वे रागादि भाव भी अफल नहीं हैं; क्योंकि उनसे मनुष्यादि पर्यायरूप विविध पर्यायों की उत्पत्ति होती है।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

ऐसी परजाय कोऊ नाहीं है जगत में जो,
रागादि विभाव बिना भई उतपन है।
रागादि विभाव क्रिया अफल न होय कहूं,
याको फल चारों गतिमाहिं भरमन है।।
जैसे परमानू रूछ चीकन सुभाव ही सों,
बंध खंध माहिं तैसे जानो जगजन है।
जातैं वीतराग आतमीक पर्म धर्म सो तो,
बंधफल सों रहित तिहूँकाल धन है।।८९।।

इस लोक में ऐसी कोई सांसारिक पर्याय नहीं है, जो रागादि विभावभावों के बिना उत्पन्न हुई हो; क्योंकि रागादिभावरूप क्रिया अफल नहीं होती, उसका फल चारों गतियों मे परिभ्रमण है।

जिसप्रकार रूक्ष और स्निग्ध परमाणु स्वभाव से स्कध में बंधन को प्राप्त होते हैं; उसीप्रकार संसारी जीवों को भी जानना चाहिए। किन्तु आत्मा का वीतरागतारूप परमधर्म तो सदा ही बधफल से रहित है; अत: आत्मा का वह सर्वोत्कृष्ट धन है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए पण्डित देवीदासजी ने १ दोहा और १ सवैया इकतीसा लिखा है, जिसमें से दोहा इसप्रकार है –

(दोहा)

असद्भूत परजाय जो लखौ आतमा पास।
मोह क्रिया तिहि कौ सु फल सो है जगत विलास ॥४४॥

यदि आत्मा के पास असद्भूत पर्याय दिखाई दे तो यह समझना चाहिए कि यह मोह की क्रिया है और इसका फल संसार परिभ्रमण है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“प्रत्येक आत्मा और परमाणु आदि अनादि-अनत, स्वत सिद्ध होने से स्वचतुष्टय से हैं, किन्तु परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं हैं, इसीलिए कोई किसी दूसरे का कुछ कर दे – ऐसी वस्तुस्थिति किसी भी प्रकार से सभव नहीं है, क्योंकि एक में दूसरे का अत्यत अभाव है।[१]

ससारी जीव की विकारी क्रिया वास्तव में स्वभाव ही है, क्योकि यह स्वय से ही प्राप्त हुई है, पर से नहीं। निश्चयकारण कार्यरूप हो तो दूसरे को व्यवहारकारण कहा जाता है, अनारोप हो तो आरोप दिया जा सकता है।[२]

जितना राग, उतनी स्वरूप में असावधानी है और भगवान आत्मा में जितनी सावधानी है, उतना धर्म है और उससे च्युत होकर जितना बहिर्मुख है, उतना मोह के साथ मिला हुआ राग-द्वेषमय परिणाम है; यह जीव का वर्तमान पर्यायस्वभाव है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३४७ २ वही, पृष्ठ-३५३

जिसप्रकार दूसरे अणु के साथ जुडे हुऐ किसी अणु की परिणति दो अणु के बने हुए स्कंधरूप कार्य को उत्पन्न करनेवाली है; उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में स्व को छोडकर परभावरूप मोह के साथ मिले हुए आत्मा को राग की उत्पत्ति होती है और वह मनुष्य आदि कार्य को उत्पन्न करनेवाली होने से सफल ही है।[१]

अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के साथ अभेद होकर जो अविकारी शात दशा प्रगट हुई; वह परमधर्म कहलाती है और यह मुक्ति का कारण है। इस क्रिया के उत्पन्न होने से भव नहीं रहता; इसकारण वह गति की निष्पादक नहीं है, संसार का फल नहीं देती, इसीलिए उसे अफल कहा है।[२]

जिसे ऐसी अतरग दशा प्रगट होती है; उसे गति नहीं फलती अर्थात् वह ससार के लिए अफल है। ज्ञानस्वभावी क्रिया मोह रहित होने के कारण गति के फल को उत्पन्न नहीं करती अर्थात् ससार नहीं फलता और दर्शनमोह सहित क्रिया चार गति का फल देती है। मोह सहित भाव एक प्रकार के नहीं होते, अपितु अनेक प्रकार के होते हैं, इसकारण उनके फलरूप मनुष्यगति, देवगति आदि पर्यायें टंकोत्कीर्ण शाश्वत एकरूप नहीं होतीं, अपितु अनेकरूप होती हैं, मोक्षगति टकोत्कीर्ण शाश्वत एकरूप है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि आत्मा की चैतन्यपरिणतिरूप क्रिया यदि मोह रहित हो तो मनुष्यादि संसारी पर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करती और मोहसहित हो तो मनुष्यादि पर्यायरूप फल उत्पन्न करती है।

चूँकि मोह सहित भाव अनेकप्रकार के होते हैं, इसलिए उनके फल मे उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि पर्यायें भी टंकोत्कीर्ण, शाश्वत और एकरूप नहीं होतीं, अनेकप्रकार की होती हैं।

तात्पर्य यह है कि ससार में जीवों की परिणति में सयोगों की जो विविधता दिखाई देती है; उसका कारण उनके होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों की विविधता है। मुक्तदशा में सभी जीवों के एकसा वीतरागभाव होने से उनके सयोगों में विविधता नहीं होती। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३५५ २ वही, पृष्ठ-३५८ ३ वही, पृष्ठ-३६१

प्रवचनसार गाथा ११७

विगत गाथा में यह समझाया गया था कि वीतराग भावों का फल तो सिद्धदशारूप एक मुक्त दशा ही है; ये मनुष्यादि पर्यायों रूप विविध दशायें तो रागादि क्रिया का ही फल हैं और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि यह नाम नामक कर्म ही अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव – इन पर्यायों को करता है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइय वा सुरं कुणदि।।११७।।

(हरिगीत)

नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को।
नर नारकी तिर्यंच सुर पर्याय में दाखिल करे।।११७।।

नाम नामक कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव पर्यायों को धारण करता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''वस्तुत: आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से मोह सहित क्रिया ही आत्मा का कर्म है, कार्य है; उसके निमित्त से द्रव्यकर्मरूप परिणमन करता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उस पुद्गल कर्म की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें मूल-कारणभूत जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से क्रियाफल ही हैं; क्योंकि क्रिया के अभाव में पुद्गलों को कर्मपने का अभाव होने से उस पुद्गल कर्म की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायों का अभाव होता है।

जिसप्रकार दीपक की लौ के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योति का कार्य है; उसीप्रकार कर्मस्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को दीपक के उदाहरण के माध्यम से सर्वांग इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जिसप्रकार अग्निरूपी कर्ता, कर्मरूपी तैल के स्वभाव का तिरस्कार कर बत्ती के माध्यम से दीपक की ज्योतिरूप से परिणमन करता है; उसीप्रकार कर्माग्निरूपी कर्ता शुद्धात्मस्वभावरूप तैल का तिरस्कार करके बत्तीरूपी शरीर के माध्यम से दीप शिखा के समान मनुष्य, नारक आदि पर्यायरूप परिणमन करता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यादि पर्यायें निश्चयनय से कर्मजनित हैं।"

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

नाम कर्म आपनै सुभाव सों चिदातमा के,
सहज सुभाव को आच्छाद करि लेत है।
नर तिरजंच नरकौर देवगति माहिं,
नाना परकार काय सोई निरमेत है।।
जैसे दीप अगनि सुभाव करि तेल को सु-
भाव दूर करिके प्रकाशित धरेत है।
ज्ञानावरनादि कर्म जीव को सुभाव घाति,
मनुष्यादि परजाय तैसे ही करेत है।।९०।।

नाम नामक कर्म अपने स्वभाव के द्वारा आत्मा के सहज स्वभाव को आच्छादित कर लेता है और मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देवगति में अनेक प्रकार के शरीर का निर्माण करता है।

जिसप्रकार दीपक अपने जलाने के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके प्रकाश बिखेरता है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव के स्वभाव का घात कर मनुष्यादि पर्याय को करता है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कवित्त)

नामकर्म तिहि कौ सुभाव गति नारकादि परिनमन अनादि।
जासौं सुद्ध स्वरूप जीव कौ राख्यौ निज स्वभाव आछादि।।
नर नारक तिरजंच देव के करि स्वरूप गति गति उतपादि।
यह संसार रूप दुखदाइक अचल वोझु सिर दियो सु लादि।।४६।।

नामकर्म का यही स्वभाव है कि वह जीव को अनादि से चार गतियों में परिभ्रमण करा रहा है। इसकारण जीव का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है। इसने मनुष्य, देव, नरक और तिर्यंचगति में उत्पन्न कराके आत्मा के ऊपर दुखदायक ससाररूप अचल बोझ लाद दिया है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जडकर्म का फल चारगतिरूप संसार है। ससार की चार गतियो का मूल कारण तो 'पुण्य-पाप मेरे हैं' – ऐसा अज्ञान भाव ही है। जितने प्रमाण में जीव मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम करता है, उतने प्रमाण (परिमाण) मे जडकर्म स्वय उनके कारण से बधते हैं और उनके प्रमाण में गति जाति आदि प्रकृतियाँ भी बधती है।[१] सपूर्ण ज्ञान सिद्धदशा का कारण है और तीव्र अज्ञान निगोददशा का कारण है।[२]

विभाव सयोग में नहीं है, विभाव निमित्त मे (कर्म मे) नहीं तथा विभाव अपने त्रिकाली स्वभाव में भी नहीं; अपितु विभाव तो अपनी एक समय की अवस्था में अपने भाव के कारण है।[३] आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलता है और पर-पदार्थ मे मेरापना मानकर मोहरूपी क्रिया करता है; इसका निमित्त पाकर जड-कर्म बधते है और जडकर्म के फल मे मनुष्यादि पर्यायें मिलती है, इसीलिए कर्म के स्वभाव से जीव के स्वभाव का पराभव हुआ – ऐसा कहा जाता है।[४]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि ये मनुष्यादि पर्याये राग-द्वेषमय क्रिया के फल में प्राप्त हुई है, क्योंकि उस क्रिया से कर्मबध होता है और कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादि पर्यायो को उत्पन्न करते है। इसप्रकार इस जीव का यह समस्त ससार चल रहा है। यदि हमे इस ससार-समुद्र से पार होना है तो हम परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले इन मोह-राग-द्वेष भावों को आत्मा के आश्रय से निराश्रय करें, इनका अभाव करें, क्योंकि ससार दु.खों से मुक्त होने का यही एकमात्र उपाय है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६३
२ वही, पृष्ठ-३६४
३ वही, पृष्ठ-[illegible]
४ वही, पृष्ठ-३६७

प्रवचनसार गाथा ११८

विगत गाथा में यह कहा था कि कर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके मनुष्यादि पर्यायों को उत्पन्न करते हैं और अब इस गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव कैसे होता है?

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥११८॥

(हरिगीत)

नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गती में।
स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं ॥११८॥

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव वस्तुत नामकर्म से निष्पन्न है। वे अपने कर्मरूप से परिणमित होते है, इसलिए उन्हें स्वभाव की उपलब्धि नहीं है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार कनकबद्ध (सुवर्ण में जडे हुए) माणिक के कगनों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता; उसीप्रकार ये मनुष्यादिपर्यायें नामकर्म से निष्पन्न हैं, किन्तु इतने से भी वहाँ जीव के स्वभाव का पराभव नहीं है। वहाँ जीव जो स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, अनुभव नहीं करता, सो पानी के पूर (बाढ) की भाँति स्वकर्मरूप परिणमित होने से है।

जिसप्रकार पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्बचन्दनादि-वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पक्तिरूप) परिणमित होता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित

होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।''

यहाँ आचार्यदेव ने 'माणिक की भाँति' एवं 'पानी के पूर की भाँति' – इसप्रकार दो उदाहरण दिए हैं।

माणिक को सोने में जड़ दो तो माणिक का पराभव नहीं होता है। सोना भी दिखता रहता है और माणिक भी दिखता रहता है। इसीप्रकार मनुष्यपर्याय में भगवान आत्मा मानो सोने में जडा हुआ माणिक है; उसमें मनुष्य पर्याय और भगवान आत्मा दोनों पृथक्-पृथक् चमक रहे हैं।

जिसप्रकार सोने में जडने से माणिक का पराभव नहीं होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मनुष्यादि पर्यायों में रहने से पराभव नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पराभव का मूल कारण क्या है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने पानी के पूर का उदाहरण दिया है।

हिमालय से निकला हुआ पानी निर्मल होता है; परतु वह बहते-बहते जगल में बहुत सारे नीम, चदनादि पेडों से गुजरता है। वह चदन के वन में से निकलता है तो सुगधित हो जाता है और वह नीम के वृक्षों में से निकलता है तो कडवा हो जाता है। इसमें उस पानी की मूल गध नहीं रहती और न ही उसका मूल स्वभाव रहता है। इसप्रकार उस पानी का पराभव हुआ; क्योंकि उसका मूलस्वभाव तिरोहित हो गया है। इसीप्रकार इस आत्मा का पराभव इस मनुष्य पर्याय में जुड जाने से है। यह आत्मा मोह-राग-द्वेषभावों में से निकला है; इसलिए इसका पराभव हुआ है। ध्यान रहे आचार्यदेव ने यहाँ संयोग पर अपराध नहीं मडा है।

आचार्यदेव यहाँ कह रहे हैं कि पानी, नीम में अथवा चन्दन के वृक्ष में चढा हुआ है अर्थात् नीम और चन्दन में भी पानीपन है, गीलापन है। यदि हम नीम की पत्तियों का रस निकालें, चन्दन का रस निकालें तो इसमें उसने तीन चीजें खोई हैं। पानी ने अपना स्वाद खोया है, अपनी गध खोई है और प्रवाही स्वभाव खोया है; क्योंकि वह पानी वृक्ष में गया और

उसी में रम गया। पानी का जो बहना स्वभाव था, वह बंद हो गया; जितना पानी उन वृक्षों ने सोख लिया, उस पानी का प्रवाही स्वभाव खतम हो गया। पानी का मूल स्वाद नहीं रहा, नीम के सयोग से कडवा हो गया। इसीप्रकार गध में भी परिवर्तन हो जाता है। उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व से मूर्तत्व हो गया; तब वह अमूर्तत्व, निरुपराग विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता। यही इस जीव की समस्या का मूल कारण है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्मस्वभाव के पराभव का कारण शरीरादि का संयोग नहीं है; अपितु शरीरादि सयोगों में आत्मा का अपनापन है, उन्हे अपना जानना-मानना है, उन्हीं से जुड जाना है, उन्हीं में रम जाना है।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए पूर्णत तत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण किया है। उदाहरण भी वे ही दिये हैं।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को भी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

(मनहरण कवित्त)

नामकर्म निश्चे यह जीव को मनुष्य पशु,
नारकी सु देवरूप देह को बनावै है।
तहां कर्मरूप उपयोग परिनवै जीव,
सहज सुभाव शुद्ध कहूँ न लहावै है।।
जैसे जल नीम चंदनादि माहिं गयौ सो,
प्रदेश और स्वाद निज दोनों न गहावै है।
तैसे कर्मभाव परिनयौ जीव अमूरत,
चिदानंद वीतराग भाव नाहिं पावै है।।९१।।

यह बात सुनिश्चित है कि नाम नामक कर्म जीव की मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवरूप देह को बनाता है। वहाँ जीव अपने उपयोग को भी उसीरूप परिणमित करता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा ही जानने-मानने लगता है कि मैं मनुष्य हूँ आदि। इसप्रकार सहज स्वाभाविक शुद्धता को

प्राप्त नहीं करता है। जिसप्रकार नीम और चन्दनादि वृक्षों में गया हुआ जल प्रदेश और स्वाद – दोनों को ही प्राप्त नहीं करता; उसीप्रकार कर्मभाव से परिणमित अमूर्तिक जीव वीतरागभाव को प्राप्त नहीं करता।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(छप्पय)

नरगति गति तिरजंच देव गति गति सु नारकिय।
नाम कर्म तिहि के निमित्त करि कैं सु होत जिय ॥
निश्चयकरि जे करे कर्म आपु करि कै सु छांही।
तिनि स्वरूप परिनमन जीव परिनाम सु नाहीं ॥
ज्यौं नीम चंदनादिक विषैं सहज स्वाद जलु परिहरै।
त्यौं चिदानंद तजि कैं सु पद कर्मरूप परनति धरै॥४७॥

इस जीव के मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक गति गतिनामकर्म के निमित्त से होती हैं। निश्चयनय से देखे तो जीव स्वय मोहादि से आच्छादित होकर जो कर्म करता है, उसी के अनुसार ही इन मनुष्यादि गतियो रूप परिणमित होता है। मनुष्यादिरूप परिणमन करना जीव का स्वभाव नहीं है। जिसप्रकार नीम और चन्दनादि वृक्षों में गत पानी अपने स्वाद को छोड देता है, उसीप्रकार यह चिदानन्द अपने स्वभाव को छोडकर कर्मानुसार परिणमित होता है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

"जिसतरह सोने में जडे हुए माणिकवाले ककडो में माणिक सोने में जडा हुआ है, किन्तु इससे माणिक का स्वभाव नहीं बदल जाता। इसीतरह जीव को मनुष्य आदि शरीर एकक्षेत्रावगाह सबध से मिला है, इसकारण से जीव विकारी नहीं होता अर्थात् शरीर के कारण से उसका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता।[१]

जिसतरह पानी के पूर की व्यजनपर्याय अर्थात् आकृति का स्वभाव

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३६९-३७०

तो पूररूप बहना है और अर्थपर्याय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध आदि की पर्याय तो स्वादिष्टरूप रहना है; फिर भी वह स्वयं की योग्यता के कारण नीम और चंदन आदि वृक्षों के साथ परिणमित होता है।

पानी ऊँचा व चौडेरूप आकार और कडवे अथवा सुगंध आदि पर्यायरूप स्वयं के कारण परिणमित होता है। नीम के झाड़ के कारण पानी ऊपर नहीं चढता अथवा कडवेरूप नहीं होता; किन्तु पानी स्वय की योग्यता से उसरूप परिणमित होता है। इसकारण प्रवाहरूप रहना पानी की मूल आकृति है तथा स्वादिष्टरूप होना पानी का मूल स्वभाव है; उसे वह प्राप्त नहीं करता।

इसीतरह आत्मा स्वय अपनी योग्यता से विभावव्यजनपर्यायरूप अर्थात् पृथक्-पृथक् आकार से मनुष्य देव आदि आकाररूप परिणमित होता है और ज्ञान-दर्शन की कम अवस्थारूप तथा राग-द्वेष अवस्थारूप स्वय की योग्यता से परिणमित होता है; इसकारण अपने अरूपित्व और निर्विकार विशुद्धिवाले स्वभाव को प्राप्त नहीं होता।[१]

गाथा ११६ व ११७ में जीव की अर्थपर्याय बताई थी और ११८वीं गाथा में व्यजनपर्याय और अर्थपर्याय दोनों को बताया है।[२]

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय की एक-एक समय की व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय कैसी स्वतत्र होती है, उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं।[३]''

इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीकाओं मे सोने में जडे हुए माणिक और पानी के पूर (बाढ) के उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि भगवान आत्मा की यह ससारावस्थारूप दुर्दशा देहादि के सयोगों के कारण नहीं हुई है; अपितु उसके विभावस्वभाव में ही ऐसी योग्यता विद्यमान थी, उसी के कारण यह सब हुआ है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के कारण सुख-दुख नहीं हैं; स्वय के कारण ही हैं। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३७०
२ वही, पृष्ठ-३७१
३ वही, पृष्ठ-३७१

प्रवचनसार गाथा ११९

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जीवद्रव्य द्रव्यरूप से अवस्थित होने पर भी पर्यायरूप से अनवस्थित है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ।।११९ ।।

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययमय लोक में।
अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी ।।११९।।

प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीव लोक में न कोई उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट होता है; क्योंकि जो उत्पाद है, वही विनाश है। इसप्रकार वे उत्पाद तथा विनाश – एक भी हैं और अनेक भी हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“यद्यपि इस लोक में न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता है; तथापि मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण परिणामी होने से क्षण-क्षण में होनेवाले विनाश और उत्पाद के साथ भी जुड़ा हुआ है।

इसमें कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि उद्भव और विलय में एकपना और अनेकपना है। जब उत्पाद और विनाश के एकपने की अपेक्षा ली जावे; तब यह पक्ष फलित होता है कि न तो कोई उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट होता है और जब उत्पाद और विनाश के अनेकपने की अपेक्षा ली जावे; तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है।

वह इसप्रकार है – जिसप्रकार ‘जो घड़ा है, वही कूँडा है’ – ऐसा कहे जाने पर घडे और कूँडे के स्वरूप का एकपना असभव होने से, उन दोनों की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है; उसीप्रकार ‘जो उत्पाद है, वही विनाश है’ – ऐसा कहे जाने पर उत्पाद और विनाश के स्वरूप का

एकपना असंभव होने से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है; इसलिए देवपर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है, वही विलय है' – इस अपेक्षा से उन दोनों का आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य प्रगट होता है, लक्ष्य में आता है; इसलिए सर्वदा द्रव्यपने से जीव टंकोत्कीर्ण रहता है।

जिसप्रकार 'घडा अन्य है और कूडा अन्य है' – ऐसा कहे जाने पर उन दोनों की आधारभूत मिट्टी का अन्यपना असंभवित होने से घड़े का और कूँडे का भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रगट होता है; उसीप्रकार 'उत्पाद अन्य है और व्यय अन्य है' – ऐसा कहे जाने पर, उन दोनों के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यपना असभवित होने से उत्पाद और व्यय का भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रगट होता है; इसलिए देवादि पर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'उत्पाद अन्य है और व्यय अन्य है' – इस अपेक्षा से उत्पाद और व्ययवाली देवादि पर्यायें और मनुष्यादि पर्यायें प्रगट होती हैं, लक्ष्य में आती हैं; इसलिए जीव प्रतिक्षण पर्यायों से अनवस्थित है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए नयों का प्रयोग करते हैं और निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य होने पर भी पर्यायार्थिकनय से विनाशशील है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए वे तत्त्वप्रदीपिका में दिये गये उदाहरणों के साथ-साथ मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय पर भी इस बात को घटित करते हैं।

इस गाथा के भाव को वृन्दावनदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(छप्पय)

इमि संसार मझार दरव के द्वार जु देखा।
तौ कोऊ नहिं नसत न उपजत यही विशेखा॥
जो परजै उतपाद होत सोई वय हो है।
उतपत वय की दशा विविध परजय में सोहै॥
धुव दरव स्वांग बहु धारिके गत गत में नाचत विगत।
परजय अधार निरधार यह दरव एक निजरस पगत॥

इस लोक में द्रव्यदृष्टि से देखने पर न कोई उत्पन्न होता है और न कोई

नष्ट होता है; क्योंकि पर्याय का जो उत्पाद है, वही व्यय है। उत्पाद और व्यय की दशा तो अनेक पर्यायों में ही शोभायमान है। ध्रुव द्रव्य उनके स्वाग धरिके गति-गति में नाचता-फिरता है। पर्यायार्थिकनय के आधार से ऐसा निर्धार होता है; किन्तु द्रव्यार्थिक नय से तो द्रव्य एकमात्र निजरस में पगा हुआ है।

पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में इस गाथा का भाव १ कुण्डलिया में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(कुण्डलिया)

विनसै छिन छिन प्रति सु जिय जाकी ही उतपत्य।
पुनि उपजै विनसै नहीं निश्चयनय करि सत्य।।
निश्चयनय करि सत्य जो सु उतपाद बताई।
सोई वस्तु विनास रूप तार्थे थिरताई।।
भेद लगै व्यवहार सौं सु जग मैं जिय जिन सै।
विविध भांति परजाय लियै उपजै अरु विनसै।।४८।।

जिस जीव का उत्पाद और विनाश क्षण-क्षण में होता है; वही जीव निश्चयनय से न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है – यही परमसत्य है। निश्चयनय से जो वस्तु उत्पन्न होती है, वही वस्तु विनाशरूप है; इसलिए स्थिर है। निश्चयनय से यही सत्य है, पर व्यवहारनय से भेद खडा किया जाता है; तब अनेक प्रकार की पर्यायें उत्पन्न और नाश को प्राप्त होती हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जीव ऐसे का ऐसा रहता है अर्थात् ध्रुवदृष्टि से जीव अवस्थित है और क्षण-क्षण में अवस्था बदलती है, इसीलिए अवस्थादृष्टि से अनवस्थित है अर्थात् अस्थिर है। ऐसा अवस्थादृष्टि से कहा है; किन्तु कर्म के कारण अस्थिर है – ऐसा नहीं कहा।[1]

जीव ऐसे का ऐसा रहे – यह जीव का द्रव्यस्वभाव है और पूर्व अवस्था दूर होकर नई अवस्था हुई – यह जीव का पर्यायस्वभाव है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३७६

आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव और पर्यायस्वभाव को यथार्थ समझे तो अपना बंधु है और अज्ञान के कारण पराधीनता माने और नहीं समझे तो स्वयं अपना बैरी है।[1]

'जो घडा है, वही सुराही है' – यदि ऐसा कहना हो तो घडे का स्वरूप और सुराही का स्वरूप तो पृथक्-पृथक् है, उसे एकत्व लागू नहीं पड़ता। यदि घडे और सुराही में एकत्व सिद्ध करना हो तो मिट्टी की अपेक्षा उनमें एकत्व है; क्योंकि मिट्टी उनमें अवस्थित है।

'जो उत्पाद है, वही व्यय है' – यदि ऐसा कहना हो, तब उत्पाद और नाश में द्वैत सिद्ध होता है, एकत्व सिद्ध नहीं होता; किन्तु उत्पाद और नाश का आधारभूत ध्रुव दोनों में एक है। ध्रुव में एकत्व सिद्ध होता है, वह ऐसे का ऐसा स्थिर रहता है।[2]

'तथा घडा अन्य है और सुराही अन्य है' – ऐसा कहना हो तब दोनों का आधार जो मिट्टी है, उसमे अनेकत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु घडे और सुराही का अनेकत्व प्रगट होता है। मिट्टी में पर्यायदृष्टि से अनवस्थितपना होता है, मिट्टी घडेरूप, सुराहीरूप उसके पर्यायस्वभाव के कारण हुई है, किन्तु कुम्हार, चक्र, दण्ड आदि के कारण अन्यरूप नहीं हुई।[3]

'अन्य उत्पाद है और अन्य विलय है' – ऐसा कहना हो तब उन दोनो का आधार जो ध्रुव है, उसमें अनन्यपना है, अन्यत्व असम्भावित है। उत्पाद और व्यय दोनों को लिया जाए तो दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप निश्चित होता है।[4]

जीव के स्वयं के अनवस्थित पर्यायस्वभाव के कारण पूर्व अवस्था का नाश होता है और नई अवस्था का उत्पाद है, किन्तु पर-पदार्थों के कारण उत्पाद अथवा व्यय होते ही नहीं। उत्पाद-व्ययरूप होना यह सभी द्रव्यों का पर्याय अपेक्षा से अनवस्थित धर्म है। यहाँ तो स्वभाव की ही बात है।[5]

जीव में एकत्व देखना हो तो उसमें ध्रुवस्वभाव से एकत्व है और जीव में अनेकत्व देखना हो तो उसके अध्रुवस्वभाव से अनेकत्व है।[6]''

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३७६
२ वही, पृष्ठ-३७७
३ वही, पृष्ठ-३७७
४ वही, पृष्ठ-३७८
५ वही, पृष्ठ-३७८
६ वही, पृष्ठ-३७९

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अवस्थित भी है और अनवस्थित भी है; द्रव्यदृष्टि से अवस्थित है और पर्यायदृष्टि से अनवस्थित है। एक ही द्रव्य के एकसाथ अवस्थित और अनवस्थित होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ये दोनों प्रत्येक द्रव्य के सहज स्वभाव हैं। एक द्रव्यस्वभाव है और दूसरा पर्यायस्वभाव है।

द्रव्यों के अवस्थित और अनवस्थित होने में परद्रव्य का कोई सहयोग नहीं है, हस्तक्षेप नहीं है। इस बात को ऐसे भी कहा जाता है कि द्रव्य के स्वभाव की ओर से देखा जाय तो उत्पाद और नाश एक ही हैं; क्योंकि वे द्रव्य के सहज स्वभाव हैं। द्रव्य में उत्पाद-व्यय होने के लिए न तो पर के सहयोग की आवश्यकता है और न किसी कर्मोदय की अपेक्षा है।

अब यदि दोनों को पर्यायस्वभाव की ओर से देखें तो अलग-अलग ही हैं, एक नहीं; क्योंकि एक का स्वभाव उत्पन्न होनेरूप है और दूसरे का स्वभाव नष्ट होनेरूप है, एक आनेरूप है और दूसरा जानेरूप है।

यह सब हम सभी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है; अत· इसमें किसी भी प्रकार की शंका-आशका करने की जरूरत नहीं है। ●

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें। स्वय को क्षमा करने और स्वय से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वय के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१८५

प्रवचनसार गाथा १२०

विगत गाथा में यह कहा था कि द्रव्य द्रव्यस्वभाव से अवस्थित होने पर भी पर्यायस्वभाव से अनवस्थित भी है और अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि ऐसा क्यों है ? तात्पर्य यह है कि द्रव्य के अनवस्थित होने का हेतु क्या है ?

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स॥१२०॥

(हरिगीत)

स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं।
संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है॥१२०॥

इसलिए इस लोक में स्वभाव से अवस्थित कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि ससार में किसी का भी स्वभाव सदा एकरूप रहनेवाला नहीं है; क्योंकि ससार ससरण का ही नाम है। यह ससार ससरण करते हुए परिवर्तनशील द्रव्य की क्रिया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुत: जीव द्रव्यपने से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है। इससे प्रतीत होता है कि ससार में कोई भी स्वभाव से अवस्थित नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी भी द्रव्य का स्वभाव अकेला एकरूप रहने का ही नहीं है और इस अनवस्थितता का मूल हेतु ससार ही है, क्योंकि वह मनुष्यादि पर्यायात्मक है, वह स्वरूप से ही वैसा है। उसमें परिणमन करते हुए द्रव्य की पूर्वोत्तर दशा के त्याग-ग्रहणरूप क्रिया का नाम ही ससार है, यही ससार का स्वरूप है।"

इस गाथा के भाव को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ छप्पय और १ मनहरण कवित्त – इसप्रकार २ छंदों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

(छप्पय)

तिस कारन संसार माहिं थिर दशा न कोई।
अथिररूप परजैसुभाव चहुंगति में होई॥
दरवनि की संसरनक्रिया संसार कहावै।
एक दशा को त्यागि, दुतिय जो दशा गहावै॥
या विधि अनादि तैं जगत में तन धरि चेतन भमत है।
निज चिदानंद चिद्रूप के ज्ञान भये दुख दमत है॥८३॥

विगत गाथा में कहे गये कारणों से यह बात सिद्ध होती है कि ससार में कोई भी दशा स्थिर नहीं है; क्योंकि चतुर्गति में पर्याय का स्वभाव अस्थिर ही होता है। एक दशा को छोडकर दूसरी दशा को ग्रहण करनेरूप द्रव्यों की ससरणक्रिया का नाम ही तो ससार है।

इसप्रकार इस ससार में अनादि से यह चेतन आत्मा शरीर धारण करके परिभ्रमण कर रहा है और चैतन्यस्वरूप निज चिदानन्द आत्मा के ज्ञान होने पर दुखों का दमन हो जाता है।

(मनहरण कवित्त)

ताही तैं जगतमाहिं ऐसो कोऊ काय नाहिं,
जाको अवधारि जीव एकरूप रहैगो।
याको तो सुभाव है अथिररूप सदा ही को,
ऐसो सरधान धरै मिथ्यामत बहैगो॥
जीव की अशुद्ध परनतिरूप क्रिया होत,
ताको फल देह धारि चारों गति लहैगो।
याको नाम संसार बखाने सारथक जिन,
जाकी भवथिति घटी सोई सरदहैगो॥९४॥

इसीकारण इस जगत में ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है; जिसके आधार पर जीव की एकरूपता निर्धारित की जा सके; क्योंकि इसका स्वभाव तो सदा अस्थिरतारूप ही है। ऐसा श्रद्धान करनेवाला मिथ्यामान्यता को छोड देगा। जीव की जो अशुद्धपरिणतिरूप क्रिया होती है, उसका फल

देहधारी प्राणी चारों गतियों में घूम-घूमकर प्राप्त करेगा। इसी का नाम संसार है और यह नाम सार्थक है; क्योंकि ससरण को ही तो संसार कहते हैं। इस बात का विश्वास वही करेगा; जिसका ससार में रहने का काल कम हो गया होगा।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जीव द्रव्य है सु जार्थै जद्यपि सु थिर आप
परजाय भेदसौं तथापि सो अथिर है।
कोई भी सुभाव विधि कौन हुँ न थिर रूप
न ही नर-नारकादि की सु गति चिर है।।
भ्रम्यौ जीव पर्यो सो विभावता के चक्रमांहि
पाटि वांधि जैसे कोल्हू कौ सु बैल फिर है।
पीछिली दसा कौं त्यागि आगली दसा सौं लागि
जल मैं कलोल ज्यों झकोर तव हि रहै।।४९।।

यद्यपि जीव द्रव्य द्रव्यस्वभाव से स्वय सुस्थिर (अवस्थित) है; तथापि पर्यायभेद से अस्थिर (अनवस्थित) भी है। स्वभाव से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है; क्योंकि नर-नारकादिपर्याये चिरकाल से नहीं हैं। विभावता के चक्कर में पडकर यह ससारी जीव चारगतिरूप ससार में उसीप्रकार भ्रमण कर रहा है कि जिसप्रकार आँखों पर पट्टी बाधकर कोल्हू में जुता बैल एक ही चक्कर में गोल-गोल घूमता रहता है।

जिसप्रकार दरिया के पानी में पत्थर मारने से कल्लोले बनती-बिगडती रहती हैं; उसीप्रकार यह जीव पूर्वपर्याय को छोडकर, नई पर्याय को धारण करके परिभ्रमण करता रहता है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"आत्मा का शुद्धस्वभाव तो ज्ञानानन्द है। इस स्वभाव को भूलकर अपनी पर्याय में विकारी भाव करता है, वह ससार है। स्त्री, कुटुम्ब आदि ससार नहीं है; इसीतरह अपने द्रव्य व गुण मे भी ससार नहीं है। द्रव्य व गुण तो शुद्ध ही है, स्वय की पर्याय में चार गति होना वह ससार है।[1]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३८०

संसार दो समय का नहीं है, एक ही समय का है। पूर्व के संसार का व्यय होता है और नया संसार उत्पन्न होता है। ससार स्थित एकरूप रहे – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।[१] निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक संसार है, यह अपने आत्मा के अपराध के कारण है; किन्तु कर्म या शरीर आदि संसार का कारण है ही नहीं। द्रव्यदृष्टि से आत्मा में संसार है ही नहीं और पर्यायदृष्टि से अवस्था में ससार है। यहाँ जीव का एकरूप नहीं रहना ही ससार का कारण है। मनुष्य का शरीर मनुष्य गति नहीं है, अपितु आत्मा में मनुष्यरूप होने की योग्यता का नाम ही मनुष्यपर्याय है।[२]

परवस्तु तो आत्मा में अत्यंत अभावस्वरूप है, वह तो छूटी हुई पडी है। कर्म, शरीर, पुत्रादि अभावस्वरूप ही हैं, उनका क्या त्याग करना ? ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्रादि मेरे हैं – ऐसे ममताभाव पर्याय में ग्रहण करता है और पूर्व के विकारी भाव को त्यागता है। ऐसे अज्ञान, राग, द्वेष के भाव को तथा गति की योग्यता के भाव को ससार की एकसमय की विकारी क्रिया कही है।[३]

'मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' – ऐसा ज्ञान तो था ही अर्थात् अभिप्राय से ससार छूट गया था; किन्तु अस्थिरता के राग-द्वेष छोडकर आत्मा में स्थिर हुए तो उन्होंने कुटुम्ब-कबीला छोडा – ऐसा कहा जाता है।[४]

यहाँ भी कर्म के कारण ससार नहीं है; क्योंकि यदि कर्म के कारण ससार हो तो कर्म छूटें, तब ससार छूटे। अपने अज्ञान भाव से ससार है; अज्ञान छोडे, तब ससार छूटे और निर्विकारी दशा प्राप्त करें।[५]''

यद्यपि इस गाथा में यही कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु के समान भगवान आत्मा भी द्रव्यदृष्टि से अवस्थित (सदा एकरूप) और पर्यायदृष्टि से अनवस्थित (प्रतिसमय परिवर्तनशील) है; तथापि यहाँ अवस्थित होने की अपेक्षा अनवस्थित होने पर अधिक वजन दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ पर्यायदृष्टि की मुख्यता से कथन किया गया है। गाथा और टीका – दोनों के प्रतिपादन में यही टोन है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३८१ — २ वही, पृष्ठ-३८१
३ वही, पृष्ठ-३८२ — ४ वही, पृष्ठ-३८२ — ५ वही, पृष्ठ-३८२

प्रवचनसार गाथा १२१

विगत गाथा में यह बताने के बाद कि ससार में कोई सर्वथा अवस्थित ाहीं है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि इस संसार में आत्मा से देह के ाबध का क्या कारण है ? गाथा मूलत: इसप्रकार है –

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
दत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ।।१२१।।

(हरिगीत)

कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को।
कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म हैं।।१२१।।

कर्म से मलिन आत्मा कर्मसयुक्त परिणाम को प्राप्त करता है, उससे ךर्म चिपक जाते हैं; इसलिए परिणाम ही कर्म हैं।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ःसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्यकर्मों के चिपकने का हेतु आत्मा का संसार नामक विकारी ारिणाम हैं।

अब प्रश्न होता है कि उक्त परिणाम का हेतु कौन है ?

इसके उत्तर मे कहते हैं कि उसका हेतु द्रव्यकर्म है, क्योंकि द्रव्यकर्म ‍के संयोग से ही ससार नामक विकारी परिणाम देखा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा मानने पर तो इतरेतराश्रय ामक दोष आयेगा ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं होगा; क्योंकि अनादिसिद्ध ‍द्रव्यकर्म के साथ सबंद्ध आत्मा का जो पहले का द्रव्यकर्म है; उसको ही ‍यहाँ हेतुरूप से ग्रहण किया है। इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्य और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारण है – आत्मा का ऐसा परिणाम उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता होने से ‍द्रव्यकर्म का कर्ता भी उपचार से है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा और टीका के भाव को १२ दोहे और २ मनहरण कवित्त – इसप्रकार १४ छन्दों में विस्तार से समझाते हैं; जो मूलतः पठनीय है; क्योंकि विस्तारभय से उन सभी को यहाँ दिया जाना सभव नहीं है, फिर भी नमूने के तौर पर कुछ छन्द प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

तुम भाषत हो हे सुगुरु जीवकरमसंजोग।
सो क्या प्रथम पृथक हुते पाछे भयो नियोग ।।१०३।।
जासु नाम संजोग है ताको तो यह अर्थ।
जुदी वस्तु मिलि एक है कीजे अर्थ समर्थ ।।१०४।।

हे गुरुदेव ! आपने **'जीवकरमसंयोग'** पद का प्रयोग किया है; तो क्या ये जीव और कर्म पहले अलग-अलग थे और बाद मे इनका सयोग हुआ है; क्योंकि सयोग शब्द का तो यही अर्थ होता है कि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मिलकर एक हों। अतः कृपा कर इसका मर्म समझाइये।

(मनहरण कवित्त)

जैसे तिलीमाहिं तैल आगि है पखानमाहिं,
छीरमाहिं नीर हेम खानि में समल है।
इन्हैं जब कारन तैं जुदे होत देखैं तब,
जानै जो मिलापहू में जुदे ही जुगल है।।
तैसे ही अनादि पुग्गलीक दर्व करम सों,
जीव को संबंध लसै एक थल रल है।
भेदज्ञान आदि शिव साधन तैं न्यारो होत,
ऐसे निरबाध संग सधत विमल है।।१०५।।

जिसप्रकार तिलों में तेल, पत्थर में आग, दूध में पानी और खान मे समल सोना आरभ से ही हैं। कारण पाकर जब इन्हें जुदे होता देखते हैं; तब पता चलता है कि ये मिली हुई अवस्था मे भी जुदे-जुदे थे।

उसीप्रकार पौद्गलिक द्रव्यकर्मों से जीव का एकक्षेत्रावगाह सबध

अनादि से ही हैं। भेदज्ञानपूर्वक शिवसाधन करने पर ये जुदे-जुदे होते हैं। इसप्रकार इनका संयोग निर्बाध सिद्ध होता है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"अशुद्ध उपादान अथवा अपनी एक समय की विकारी योग्यता नये द्रव्यकर्मबध का कारण है।

अब अशुद्ध उपादान का निमित्त कौन है – यह बताते हैं। पुराना द्रव्यकर्म अशुद्धता का निमित्त है। स्वय ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलता है और सयोग का आश्रय करके राग-द्वेष करता है तो पुराना द्रव्यकर्म हेतु है अर्थात् निमित्त है – ऐसा कहा जाता है। उपादान कारण तो स्वय की योग्यता है और निमित्त कारण जडकर्म है।[१]

विकारी परिणाम नहीं हो तो पूर्व कर्म निमित्त भी नहीं कहलाते और नये कर्म भी नहीं बधते। किन्तु विकारी परिणाम करता है, इसकारण नये कर्म का बन्ध उनका कार्य है और पूर्व के द्रव्यकर्म उसके कारणभूत हैं। ऐसे आत्मा के परिणाम होने से भावकर्म को द्रव्यकर्म का कारण उपचार से कहा है।[२]"

इस गाथा में यही कहा गया है कि पुराना द्रव्यकर्म जब उदय में आता है तो उसके निमित्त और अपने अशुद्ध-उपादान से मोह-राग-द्वेषरूप भावससार होता है। उक्त मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त और अपनी उपादानगत योग्यता से पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें कर्मरूप से परिणमित हो आत्मा से बध जाती है।

'द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म' – ऐसा मानने पर अर्थात् द्रव्यकर्मों का भावकर्म के आश्रय से और भावकर्मों का द्रव्यकर्मों के आश्रय से उत्पन्न होना मानने पर इतरेतराश्रय दोष आ सकता था; किन्तु यहाँ यह दोष नहीं है; क्योंकि यहाँ जिन द्रव्यकर्मों के उदय से भावकर्म हुए हैं; भावकर्म के उदय से बंधनेवाले द्रव्यकर्म वे नहीं हैं, अपितु नये ही हैं। अत: उक्त मान्यता पूर्णत: निर्दोष है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३८४ २ वही, पृष्ठ-३८७

प्रवचनसार गाथा १२२

विगत गाथा में द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म किसप्रकार होते हैं ? – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा कथंचित् भावकर्म का कर्ता तो है; पर द्रव्यकर्म का कर्ता कदापि नहीं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ।।१२२।।

(हरिगीत)

परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया।
वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रवकर्म का कर्ता नहीं ।।१२२।।

परिणाम स्वयं आत्मा है और वह जीवमय क्रिया है। क्रिया को कर्म माना गया है; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा का परिणाम वस्तुत: आत्मा ही है; क्योकि परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणामी परिणाम से अनन्य है और जो उसका तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी क्रिया है, क्योकि सर्व द्रव्यों की परिणामलक्षणक्रिया आत्ममयता (निजमयता) से ही स्वीकार की गई है।

जीवमयी क्रिया आत्मा के द्वारा स्वतत्ररूप से प्राप्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होने से कर्म है; इसलिए परमार्थत. आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्म का कर्ता है; किन्तु पुद्‌गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं।

अब यदि कोई ऐसा कहे कि – तो फिर द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि पुद्‌गल का परिणाम वस्तुत. पुद्‌गल ही है; क्येकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अनन्य है और जो उसका तथाविध परिणाम है, वह पुद्‌गलमयी क्रिया है;

क्योंकि सर्वद्रव्यों की परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है – ऐसा स्वीकार किया गया है। पुद्गलमयी क्रिया पुद्गल के द्वारा स्वतंत्ररूप से प्राप्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होने से कर्म है; इसलिए परमार्थत: पुद्गल अपने परिणामस्वरूप द्रव्यकर्म का ही कर्ता है; किन्तु आत्मा के परिणाम-स्वरूप भावकर्म का नहीं।

निष्कर्ष रूप में यह समझना ही ठीक है कि आत्मा आत्मस्वरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि यद्यपि कथंचित् परिणामी होने से जीव का कर्तापन सिद्ध है; तथापि निश्चयनय से वह अपने परिणामों का ही कर्ता है, पुद्गल कर्मों का कर्ता तो व्यवहार से कहा जाता है।

जब जीव शुद्धोपादानकारणरूप शुद्धोपयोग से परिणमित होता है, तब मोक्ष को प्राप्त करता है और अशुद्धोपादानकारणरूप अशुद्धोपयोग से परिणमित होता है, तब बध को प्राप्त होता है।

जीवों के समान पुद्गल भी निश्चयनय से अपने परिणामों का कर्ता है और व्यवहारनय से जीव के परिणामों का कर्ता कहा जाता है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ दोहा और २ मनहरण कवित्तों के माध्यम से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

परिनामरूप स्वयमेव आप आतमा है,
जातैं परिनाम परिनामी में न भेद है।
सोई परिनामरूप क्रिया जीवमयी होत,
आपनी क्रिया तैं तनमयता अछेद है।।
जीव की जो क्रिया ताको भावकर्म नाम कह्यौ,
याको करतार जीव निहचै निवेद है।
तातैं दर्व करम को आतमा अकरता है।
याको करतार पुद्गल कर्म वेद है।।१०९।।

आत्मा स्वयं परिणामस्वरूप है; इसकारण परिणाम और परिणामी में भेद नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की अपनी क्रिया से तन्मयता होती है; इसकारण जीव की परिणमनरूप क्रिया जीवमय ही होती है।

जीव की उक्त क्रिया का नाम ही भावकर्म है; इसलिए निश्चय से उसका कर्ता जीव को ही कहा गया है। इसीकारण आत्मा द्रव्यकर्मों का अकर्ता है; क्योंकि पुद्‌गल कर्म का कर्ता पुद्‌गल ही है।

(दोहा)

भावकरम आतम करै यह हम जानी ठीक।
दरव करम अब को करै यह संदेह अधीक ॥११०॥

हमने यह तो जान ही लिया है कि भावकर्म का कर्ता आत्मा है और यह ठीक ही है; किन्तु अब यह बताइये कि द्रव्यकर्म का कर्ता कौन है ? हमें इस बात में अधिक संदेह है।

(मनहरण कवित्त)

जैसे भावकर्म को करैया जीव राजत है,
पुग्गल न ताको करै कभी यों पिछानियौ।
निज निज भाव के दरब सब करता है,
पर के सुभाव को न करै कोऊ मानियौ ॥
यह तो प्रतच्छ भेदज्ञान तैं विलच्छ देखो,
सबै निज कारज के करता प्रमानियौ।
दरव करम पुद्‌गल पिंड तातैं याको,
करतार पुग्गल दरव सरधनियौ ॥१११॥

भावकर्म का कर्ता जीव होता है, उसका कर्ता पुद्‌गल कभी भी नहीं होता; क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं, पर के भावों को कोई भी नहीं करता – यह मानना ही ठीक है।

यह बात तो भेदज्ञान से भिन्न-भिन्न करके प्रत्यक्ष दिखाई देती है कि सभी द्रव्य निजकार्यों के कर्ता हैं। द्रव्यकर्म पुद्‌गल के स्कध हैं; इसलिए उनका कर्ता पुद्‌गल को ही मानना चाहिए।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को १ इकतीसा सवैया में इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"दया-दान-पूजा के भाव जीव स्वयं करता है; इसीलिए वे स्वय ही आत्मा हैं। समयसार में द्रव्यदृष्टि कराने के लिए राग अपना त्रिकाली स्वरूप नहीं है, इस अपेक्षा राग को अचेतन कहा है; किन्तु यहाँ तो पर्याय का ज्ञान कराना है; इसलिए विकारी भाव को जीवमयी कहा है; इस क्रिया को कर्म माना गया है अर्थात् उसे भावकर्म कहा गया है। जीव उसका कर्ता है; किन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं।

जितने प्रमाण में जीव राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में ही द्रव्यकर्म बधते हैं। मंद राग-द्वेष करे तो कर्म मद बधते हैं और तीव्र राग-द्वेष करे तो कर्म तीव्र बंधते हैं – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबध होने पर भी जीव कर्म का कर्ता नहीं है।[1]

आत्मा के परिणाम जैसे कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष-अव्रत के भाव, प्रमाद के भाव, आत्मा के प्रदेशों का कंपन होना यह वास्तव में स्वय आत्मा है। यहाँ पर्याय को आत्मा से अभेद करके कहा है कि राग-द्वेष आदि के परिणाम आत्मा ही हैं, क्योंकि आत्मा स्वय परिणामी है अर्थात् परिणमनवाला है।

दया-दान आदि शुभ परिणाम और हिंसा-झूठ-चोरी आदि अशुभ परिणाम का करनेवाला आत्मा स्वय ही है; इसीलिए आत्मा अपने परिणाम से पृथक् नहीं है, अनन्य है अर्थात् आत्मा अपने परिणाम से तन्मय है और वह परिणाम जीवमयी ही क्रिया है; किन्तु कर्म के कारण अथवा बाह्य सयोगों के कारण आत्मा के परिणाम नहीं होते; इसप्रकार पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराया है।[2]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३८९
२ वही, पृष्ठ-३८९-३९०

यह ज्ञेय अधिकार है। द्रव्यकर्म स्वतंत्ररूप से परिणमित होता है और जीव भी स्वतत्ररूप से राग करता है – ऐसा ज्ञेय का यथार्थ ज्ञान कराते हैं; इसीलिए वास्तव में पुद्गल द्रव्य ही द्रव्यकर्म का कर्ता है।

तथा पुद्गल द्रव्य आत्मा के अशुद्ध परिणाम का कर्ता नहीं है अर्थात् कर्म का उदय आया; इसीलिए आत्मा को अशुद्ध परिणाम करना ही पड़ेगा – ऐसा आत्मा पराधीन नहीं है; क्योंकि पुद्गल, पुद्गलरूप से परिणमित होता है, किन्तु पुद्गल आत्मा को परिणमित नहीं कराता।

अत: यह समझना चाहिए कि आत्मा आत्मस्वरूप से परिणमित होता है; किन्तु पुद्गलस्वरूप नहीं होता; इसलिए आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है।[१]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि भावकर्म का कर्ता आत्मा और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गलद्रव्य की कार्माण वर्गणायें हैं, क्योंकि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म आत्मा की विकारी पर्यायें हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म कार्माण वर्गणारूप पुद्गल की पर्यायें हैं। यह कथन निश्चयनय का है।

व्यवहारनय से निमित्त की अपेक्षा भावकर्म का कर्ता पौद्गलिक कर्म और द्रव्यकर्म का कर्ता जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम है।

यह तो आप जानते ही हैं कि जो परिणति जिस द्रव्य की हो, उसे उसी द्रव्य की कहना निश्चयनय है और उसे ही निमित्तादिक की अपेक्षा अन्य द्रव्य की कहना व्यवहारनय है। इस बात का उल्लेख मोक्षमार्ग-प्रकाशक के सातवे अधिकार के निश्चय-व्यवहार संबधी प्रकरण में स्पष्टरूप से किया गया है।

इस गाथा में प्रतिपादित विषयवस्तु पर निश्चय-व्यवहार की उक्त परिभाषाये पूर्णत: घटित होती हैं। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३९१

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। – गागर में सागर, पृष्ठ-२०

प्रवचनसार गाथा १२३-२४

'भावकर्म का कर्ता आत्मा और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल' – विगत गाथा में उक्त तथ्य को स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि आत्मा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप परिणमित होता है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥१२४॥

(हरिगीत)

करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना।
ये तीन इनके रूप में ही परिणमे यह आतमा ॥१२३॥
ज्ञान अर्थविकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है।
अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुक्ख हैं ॥१२४॥

आत्मा चेतनारूप से परिणमित होता है और चेतना ज्ञानसबधी, कर्मसबंधी और कर्मफलसबधी – इसप्रकार तीनप्रकार की कही गई है।

अर्थविकल्प ज्ञान है, जीव के द्वारा जो किया जा रहा हो, वह कर्म है और वह अनेकप्रकार का है। सुख या दु:ख कर्मफल कहे गये हैं।

इन गाथाओं के भाव आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"आत्मा का स्वधर्मव्यापकपना चेतना ही है; इसलिए चेतना ही आत्मा का स्वरूप है; क्योंकि आत्मा चेतनरूप परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना का उल्लंघन नहीं करता।

चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीनप्रकार की होती

है। इसमें ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्मपरिणति कर्मचेतना और कर्मफल-परिणति कर्मफलचेतना है।

अर्थविकल्प ज्ञान है और स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। अर्थ के आकारों का अवभासन विकल्प है।

जिसप्रकार दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर के आकार एकसाथ प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं – ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है।

जो आत्मा के द्वारा किया जाता है, वह कर्म है। प्रतिक्षण उस-उस भाव से परिणमित होते हुए आत्मा के द्वारा किये जानेवाला जो भाव है, वही आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है। यद्यपि वह कर्म एक प्रकार का ही है, तथापि द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेकप्रकार का हो जाता है।

उक्त कर्म से उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुख कर्मफल है। द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण स्वभावभूत सुख है और द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुख है; क्योंकि वहाँ सुख के लक्षण का अभाव है।

इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल का स्वरूप निश्चित हुआ।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं। हाँ, वे कर्मचेतना के तीन प्रकार अवश्य बताते हैं; जो शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगरूप ही हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वय ही पचास्तिकाय गाथा ३९ में कहते हैं कि सभी स्थावर जीव कर्मफल को वेदते हैं; त्रसजीव कर्म सहित कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं; वे सर्वज्ञ भगवान ज्ञान को वेदते हैं।

यहाँ परिपूर्ण ज्ञानचेतना की अपेक्षा केवलज्ञानी अरहंत-सिद्ध भगवन्तों को ही ज्ञानचेतना बताई जा रही है। आशिक ज्ञानचेतना की

अपेक्षा से साधुओं, व्रती श्रावकों तथा अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावकों को भी ज्ञानचेतना कही जाती है। यह सब विवक्षाभेद ही है, मतभेद नहीं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया)

आतम निज चेतन सुभाव करि, प्रनवतु है निहचै निरधार।
सो चेतनता तीन भाँति है, यों वरनी जिनचंद उदार॥
ज्ञानचेतना प्रथम बखानी, दुतिय करमचेतना विचार।
त्रितिय करमफलचेतनता है, वृन्दावन ऐसे उच्चार॥११२॥

आत्मा अपने स्वभाव से ही परिणमित होता है – यह निश्चय का कथन है। जिनेन्द्र भगवान ने चेतना तीनप्रकार की बताई है। पहली ज्ञानचेतना, दूसरी कर्मचेतना और तीसरी कर्मफलचेतना है। ऐसा वृन्दावन कवि कहते हैं।

(मनहरण कवित्त)

जीवादिक सुपर पदारथ को भेदजुत,
तदाकार एकै काल जानै जो प्रतच्छ है।
सोई ज्ञानचेतना कहावत अमलरूप,
वृन्दावन तिहूँकाल विशद विलच्छ है॥
जीव के विभाव को अरंभ कर्मचेतना है,
दर्वकर्मद्वार जामें भेदन को गच्छ है।
सुख-दुखरूप कर्मफल अनुभवै जीव,
कर्मफलचेतना सो भाषी श्रुति स्वच्छ है॥११३॥

जीवादिक स्व-पर पदार्थों को एक काल में भेद सहित तदाकार प्रत्यक्ष जानना अमल ज्ञानचेतना है; वह ज्ञानचेतना तीनों काल अत्यन्त निर्मल और विलक्षण होती है। जिसमें द्रव्यकर्मों के द्वारा अनेक भेद पडते हैं; ऐसी कर्मचेतना जीवों के विभाव भावरूप है। जीवों द्वारा सुख-दुखरूप कर्मफल का अनुभव करना कर्मफल चेतना है। शास्त्रों में ऐसा अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव १ अडिल्ल, २ कवित्त और १ दोहा – इसप्रकार कुल ४ छन्दों में विस्तार से प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वप्रदीपिका टीका और वृन्दावनदासजी कृत प्रवचनसार परमागम में यह विषय इसी रूप में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है; इसलिए पुनरावृत्ति के भय से यहाँ देना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठक उनका मूलत: अध्ययन करें।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"चेतना तीन प्रकार की है। ज्ञानसबंधी जागृति ज्ञानचेतना है; विकार परिणाम में चेतना का अटक जाना कर्मचेतना है और हर्ष-शोकरूप भावों में चेतना का अटक जाना कर्मफलचेतना है।[1]

सम्पूर्ण ज्ञानचेतना केवली भगवान को होती है, साधक दशा में मुख्यरूप से ज्ञानचेतना होती है, अस्थिरता के राग-द्वेष में तथा हर्ष-शोक में जितना जुडान है, उतनी कर्म चेतना और कर्मफल चेतना गौणरूप से कही गई है। मिथ्यादृष्टि को ज्ञानचेतना नहीं होती। उसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ही होती है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना एक ही समय मे है। आत्मा जिस समय विकार भाव करता है, उसी समय हर्ष-शोक को भोगता है। यहाँ पर पदार्थ को भोगने की बात ही नहीं है; क्योंकि पर को जीव नहीं भोग सकता, हर्ष-शोक को भोगता है।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व में समयभेद नहीं है, दोनो एक ही समय में है, इसतरह आत्मा चेतनारूप परिणमित होता है, वह तीनप्रकार की कही है।[2]

यह ज्ञेय अधिकार है, इसमे स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वज्ञेय हैं और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय परज्ञेय हैं – दोनों को विशेषता से जानना उसे विकल्प कहते हैं। ज्ञान का ही स्वभाव विकल्प है; इसलिए केवलज्ञान को भी विकल्पात्मक कहने मे आया है।

जिसतरह दर्पण के अपने विस्तार में स्व और पर के भेद एक ही साथ

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३९३ २ वही, पृष्ठ-३९५

जानने में आते है; उसीतरह जिसमें स्व और पर उनके भेद सहित युगपत जानने में आते हैं, उसे अर्थविकल्प कहते हैं अथवा ज्ञानचेतना कहते हैं।

कोई कहता है कि हमने अकेले आत्मा को जाना है; किन्तु विकार और पर-पदार्थों को नहीं जाना अथवा वे ख्याल में नहीं आते। तो उसने आत्मा को भी यथार्थ नहीं जाना, वह ज्ञानचेतना नहीं कहलाती और कोई कहे कि हमने परपदार्थ और निमित्तों को तथा विकार को जाना है; किन्तु हमें आत्मा का ख्याल नहीं आता। तो उसने परपदार्थों को भी यथार्थ नहीं जाना, वह भी ज्ञानचेतना नहीं कहलाती। स्व को यथार्थ जानने पर, परपदार्थ जानने में न आए ऐसा होता ही नहीं और स्व के भान बिना एकांत परसबधी ज्ञान के उघाड को मिथ्याज्ञान कहते हैं।[१]

सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर का ज्ञान युगपद् होता है। जब धर्मी जीव का उपयोग परपदार्थों मे होता है, तब स्व का ज्ञान पर्याय में लब्धिरूप पडा है। ज्ञान की पर्याय लब्धि को छोडकर एकात पर-उपयोगरूप नहीं हुई है और जब उपयोग स्व आत्मा में होता है, तब परपदार्थ का ज्ञान पर्याय मे लब्धिरूप पडा है, यह ज्ञान की पर्याय लब्धि को छोडकर एकात स्व-उपयोगरूप नहीं हुई है।

ज्ञान का लब्धि और उपयोगपना एक ही पर्याय में और एक ही समय मे है; इसीलिए साधक अर्थात् धर्मी जीवों को स्व-पर पदार्थों का प्रकाशित होना अर्थात् ज्ञान होना युगपत है, एक ही समय में है, समय भेद नहीं है। स्व-पदार्थ के उपयोगरूप ज्ञान के समय पर के लब्धिरूप ज्ञान का नाश नहीं होता, अपितु पर के लब्धिरूप ज्ञान का उसी पर्याय में उसीसमय सद्भाव है और पर-पदार्थ के उपयोगरूप ज्ञान के समय स्व के लब्धिरूप ज्ञान का नाश नहीं होता, अपितु स्व के लब्धिरूप ज्ञान का उसी पर्याय में उसी समय सद्भाव है, इसीलिए साधक दशा में भी ज्ञानचेतना युगपत स्व-पर को प्रकाशित करती है।

इसप्रकार आत्मा और पर-पदार्थों का यथार्थ विभाग करके जो ज्ञान की पर्याय आत्मा के साथ अभेद होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं।[२]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३९८ २ वही, पृष्ठ-३९९

दया-दान के विकारी भाव अथवा ज्ञान-दर्शन की शुद्धता के परिणाम आत्मा स्वयं ही करता है और उन विकारी अथवा अविकारी भावों को आत्मा स्वयं ही पहुँचता है; इसीलिए वे आत्मा के कर्म हैं।[१]

परिणामों द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले सुख अथवा दुख कर्मफल हैं।[२]

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में समयभेद नहीं है अर्थात् जिससमय कर्मचेतना विकाररूप है, उसीसमय कर्मफलचेतना आकुलता के फलरूप परिणमित होती है और जब कर्मचेतना अविकाररूप है, उसीसमय कर्मफल चेतना शांति के फलरूप परिणमित होती है।

ज्ञानचेतना और शुद्ध अविकारी भाव कर्मरूप कर्मचेतना दोनों में शुद्धता के परिणाम हैं। अभेद अपेक्षा से दोनों में अतर नहीं; किन्तु ज्ञान गुण की मुख्यता से ज्ञान स्व-पर का विवेक करके आत्मा में अभेद होता है, इस ज्ञानपर्याय को ज्ञानचेतना कहते हैं और कर्ता गुण की मुख्यता से कहा जाता है कि आत्मा अपने निर्मल पर्यायरूप शुद्धता का कर्ता है, इस अपेक्षा से वह शुद्ध भावरूप कर्म अथवा अविकारी कर्मचेतना कहलाती है और कर्मफलचेतना अथवा जिसे स्वाभाविक सुख कहते हैं, वह शुद्धता के परिणाम का फल है और वह भोक्ता गुण की मुख्यता से कहने में आता है। ज्ञान करनेवाला, निर्मल पर्याय का (शुद्धता का) करनेवाला और निराकुल सुख का भोगनेवाला अभेद अपेक्षा से आत्मा एक ही है; किन्तु गुणभेद की अपेक्षा से पृथक् भेद दर्शाया है।

इसप्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का स्वरूप कहा है।[३]''

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कविवर वृन्दावनदासजी तो कहते हैं कि **जीव के विभाव को आरंभ कर्मचेतना** है अर्थात् कर्मचेतना विभावरूप है। आरभ में स्वामीजी भी इस बात का समर्थन करते दिखाई देते हैं; किन्तु बाद में तत्त्वप्रदीपिका और तात्पर्यवृत्ति टीका के आधार पर

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-३९९-४००

२ वही, पृष्ठ-४००

३ वही, पृष्ठ-४०१-४०२

कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के दो-दो भेद कर देते हैं। शुद्धभावरूप कर्मचेतना और अशुद्धभावरूप कर्मचेतना। इसीप्रकार अतीन्द्रिय सुखरूप कर्मफलचेतना और इन्द्रियसुखरूप कर्मफलचेतना।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के भेद से चेतना तीनप्रकार की होती है। यह भगवान आत्मा चेतन है, चेतनारूप परिणमित होता है; इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वरूप है। आत्मा का कोई परिणमन चेतना का उल्लंघन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि आत्मा के प्रत्येक परिणमन में चेतना विद्यमान रहती है।

जिसमें स्व स्वरूप मे और पर पररूप में भिन्नतापूर्वक एक ही साथ प्रतिभासित होते हैं, वह ज्ञान है। जीव के द्वारा किया जानेवाला भाव कर्म है। वह दो प्रकार का है – निरुपाधिक शुद्धभावरूप कर्म और औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म।

इस कर्म (कार्य) के द्वारा उत्पन्न सुख-दुख कर्मफल है। शुद्धभावरूप कर्म का फल निराकुल सुख है और शुभाशुभभावरूप कर्म का फल आकुलतारूप दुख है।

इसप्रकार ज्ञानचेतना धर्मरूप है और कर्मचेतना व कर्मफलचेतना धर्मरूप भी है और अधर्मरूप भी है; क्योंकि ज्ञानचेतना तो ज्ञानी के ही होती है, पर कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ज्ञानी-अज्ञानी – दोनों को होती है। ज्ञानी को शुद्धोपयोगरूप कर्मचेतना और अतीन्द्रियसुखरूप कर्मफलचेतना होती है और कदाचित् शुभाशुभभावरूप कर्म-चेतना और इन्द्रियसुख-दुखरूप कर्मफल चेतना भी होती है; पर अज्ञानी को सदा शुभाशुभभावरूप कर्मचेतना और इन्द्रियसुख-दुखरूप कर्मफल-चेतना ही होती है।

यदि हम ज्ञानी-अज्ञानी का भेद नहीं करें तो सामान्यरूप से कहा जा सकता है कि चेतना जीव का लक्षण है और वह लक्षण किसी न किसी रूप में प्रत्येक जीव में पाया ही जाता है। ●

प्रवचनसार गाथा १२५

विगत गाथाओं में ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद अब इस गाथा में यह बताते हैं कि ये तीनों चेतनायें प्रकारान्तर से एक आत्मा ही हैं; क्योंकि ये आत्मा की ही पर्यायें हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥

(हरिगीत)

आत्मा परिणाममय परिणाम तीन प्रकार हैं।
ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम ही हैं आत्मा ॥१२५॥

आत्मा परिणामात्मक है। परिणाम ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफल रूप होता है, इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा है – ऐसा समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुतः आत्मा परिणामस्वरूप ही है; क्योंकि 'परिणाम स्वय आत्मा है' – ऐसा ११२वीं गाथा में आचार्यदेव ने स्वयं ही कहा है। परिणाम चेतनास्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप होने के स्वभाववाला है; क्योंकि चेतना तन्मय अर्थात् ज्ञानमय, कर्ममय और कर्मफलमय होती है, इसलिए ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही हैं।

इसप्रकार शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य का संपर्क असभव होने से और पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो जाने से आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका का पूर्णतः अनुकरण करते हैं। अन्त में निष्कर्ष के रूप में मात्र इतना जोड देते हैं कि परिणामी आत्मा

निश्चयरत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोग से मोक्ष को और शुभ-अशुभ परिणामों से बंध को साधता है, प्राप्त करता है।

वृन्दावनदासजी उक्त गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

परिनाम आतमीक आप यह आतमा है,
सदा काल एकताई तासों तदाकार है।
सोई परिनाम ज्ञान कर्म कर्मफल तीनों,
चेतनता होन को समरथ उदार है॥
याही एकताई तैं सुज्ञान कर्म कर्मफल,
तीनोंरूप आतमा ही जानो निरधार है।
अभेद विवच्छा तैं दरव ही के अंतर में,
भेद सर्व लीन होत भाषी गनधार है॥११४॥

आत्मा के परिणाम स्वय आत्मा हैं और वे सदा उससे एकता रखते हैं, तदाकार हैं। वे परिणाम ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनारूप हैं। इस एकता के परिणामस्वरूप ही उन तीनों को एक आत्मा ही जानो; क्योंकि अभेद अपेक्षा से सभी भेद द्रव्य के अन्दर ही लीन हो जाते हैं – ऐसा गणधरदेव कहते हैं।

पण्डित देवीदासजी भी वृन्दावनदासजी के समान ही एक इकतीसा सवैया में उक्त तथ्य को भलीभांति समाहित कर लेते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"१. जब जीव ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से परिणमित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् ज्ञानमय होती है, चेतना परिणाम से पृथक् नहीं होती।

२ जब जीव विकारी अथवा अविकारी कार्यरूप परिणमित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् विकारी कर्ममय अथवा अविकारी कर्ममय होती है, चेतना उस परिणाम से पृथक् नहीं होती।

३. जब जीव आकुलता के फलस्वरूप अथवा शांति के फलरू परिणमित होता है, तब चेतना उसमय अर्थात् आकुलतामय अथव शांतिमय होती है। चेतना उस फल से पृथक् नहीं होती।[१]

यह आत्मा परपदार्थों से पृथक् है – ऐसा निर्णय करते ही शु द्रव्य का निर्णय होता है। परपदार्थ के सामने देखना नहीं रहा औ स्वपरिणति स्वय से होती है, उसका यथार्थ ज्ञान स्व के भान बिना नहीं हं सकता; इसतरह वास्तव में शुद्धद्रव्य के कथन में परद्रव्य के सम्पर्क क अभाव है।

आत्मा अनंत शक्तियों का पिण्ड है; परद्रव्य के सम्पर्क का अभाव होने से अनंत गुणों का परिणमन उस आत्मा का स्वय का है – ऐस निर्णय होने पर द्रव्य-गुण शुद्ध हैं, इसका ख्याल आने पर, विकारी पर्या का लक्ष्य छूट जाता है और द्रव्य की दृष्टि होती है। द्रव्यदृष्टि होने प विकारी पर्याय गौण होती है और अविकारी पर्याय द्रव्य के साथ अभे होती है। यह विकारी पर्याय है और उसे दूर करके अविकारी पर्याय प्रग करूँ – ऐसा भी नहीं रहता; क्योंकि द्रव्य तरफ एकाकार होने पर अविकार पर्याय प्रगट होती है और वह द्रव्य के साथ अभेद होती है।[२]

गौण-मुख्य न हो तो साधक दशा नहीं रहती, केवलज्ञान होन चाहिए। केवली भगवान को मुख्य-गौण नहीं होता, क्योंकि वीतरा को सही सपूर्ण प्रमाणज्ञान वर्तता है, किन्तु साधक दशा में मुख्य-गौ होता है; परन्तु यथार्थरूप से मुख्य-गौण कौन कर सकता है ?

जो जीव ऐसा मानता है कि पर्याय अर्थात् अश वह अशी का है, प के कारण नहीं। ध्रुव सामान्य है और उत्पाद व व्यय सामान्य के ही विशे हैं – इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की अखण्डता का यथार्थ ज्ञान इ प्रवचनसार में कहा है – ऐसा यथार्थ ज्ञान करें तो वही जीव समयसार कहे अनुसार द्रव्यदृष्टि करने के लिए अवस्था के राग-द्वेष को गौण करत

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४०५
२ वही, पृष्ठ-४०७-४०८

है और द्रव्य-गुण शुद्ध हैं, उसकी दृष्टि करता है और यह दृष्टि होने पर निर्मलतारूप पर्याय प्रगट होती है, यह आत्मा के साथ अभेद होती है। यह द्रव्य है और यह शुद्ध पर्याय है – ऐसा भेद भी नहीं रहता।

इसतरह पर्याय द्रव्य के अदर अत्यंत लीन हो जाने से आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में यह बात स्पष्ट की गई है कि यहाँ स्वद्रव्य-परद्रव्य की पृथकता के सदर्भ में स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय 'स्व' में और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय 'पर' में शामिल होते हैं। अपने गुण-पर्याय भी पर हैं – ऐसी बात यहाँ नहीं है।

समयसार में गुणभेद, प्रदेशभेद और पर्यायों को पर कहकर उनसे भिन्न स्वद्रव्य को शुद्धद्रव्य कहा जाता है और यहाँ अपने गुण-पर्याय सहित द्रव्य को ही शुद्ध द्रव्य कहा गया है।

यहाँ पर जो स्व-पर भेदविज्ञान करना है, वह इसप्रकार का ही है कि स्वद्रव्य-गुण-पर्याय 'स्व' एव परद्रव्य-गुण-पर्याय 'पर'।

यही कारण है कि यहाँ अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि आत्मा परिणामात्मक है; इसकारण ज्ञानरूप परिणमन, कर्मरूप परिणमन और कर्मफलरूप परिणमन आत्मा ही है और अन्त में तो यहाँ तक लिख दिया है कि शुद्धद्रव्य के निरूपण में परद्रव्य का सपर्क असभव है और अपनी पर्यायें अपने में समा गई हैं; इसकारण आत्मा शुद्ध ही है, शुद्ध ही रहता है।

समयसार और प्रवचनसार की कथनपद्धति में मूलभूत अन्तर यह है कि समयसार आत्मानुभव की दृष्टि से मात्र निज त्रिकाली ध्रुव आत्मा को ही निज में शामिल करता है और प्रवचनसार वस्तुस्वरूप की मुख्यता से अपने द्रव्य, गुण और पर्यायें – इन तीनों को 'स्व' में शामिल करता है।

यहाँ इस बात का ध्यान सदा रखना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं, मतभेद खड़े हो सकते हैं।

जहाँ जो बात जिस अपेक्षा से कही गई है, वहाँ वही अपेक्षा लगाकर समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४०८-४०९

प्रवचनसार गाथा १२६

यह गाथा द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार के उपसंहार की गाथा है। इसकी उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि इसप्रकार ज्ञेयपने को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है; इसप्रकार उसका अभिनन्दन करते हुए द्रव्यसामान्य के वर्णन का उपसंहार करते हैं।

आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है। ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को स्पष्ट किया गया है और यहाँ उसके ज्ञेयस्वभाव को समझाया जा रहा है।

यहाँ इस द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार में आत्मा के ज्ञेयत्व के सामान्य स्वरूप को बताया है। आगे के द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में अन्य द्रव्यों के साथ-साथ आत्मा के ज्ञेयत्व के विशेष स्वरूप को समझायेंगे।

इस उपसहार की गाथा में तो मात्र यह बताते हैं कि आत्मा के ज्ञेयतत्त्व के निश्चय से ज्ञानतत्त्व की सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।१२६।।

(हरिगीत)

जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करम कर्मरु कर्मफल।
ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे।।१२६।।

'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' – ऐसा निश्चयवाला होता हुआ श्रमण यदि अन्यरूप परिणमित ही न हो तो वह शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इसप्रकार जो पुरुष – 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' – यह निश्चय करके परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता; वही पुरुष जिसका परद्रव्य के साथ संपर्क रुक गया है और जिसकी पर्यायें स्वद्रव्य के भी भीतर प्रलीन हो गई हैं – ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध करता है; अन्य कोई पुरुष ऐसे शुद्धात्मा को उपलब्ध नहीं करता।

अब इसी बात को स्पष्टरूप से विशेष समझाते हैं –

जब जवाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुए उपराग (लालिमा) से रजित परिणतिवाले स्फटिक मणि के समान अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न उपराग से रजित परिणतिवाला मैं पर के द्वारा आरोपित विकारवाला होने से ससारी था; तब भी मेरा कोई संबंधी नहीं था।

मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतत्र था; मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा साधकतम था; मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य अर्थात् प्राप्त होने योग्य था और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला दुख नामक कर्मफल था, जो कि उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता था।

और अब जवाकुसुम की निकटता के नाश से सुविशुद्ध सहजरूप परिणतिवाले स्फटिक मणि के समान अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बधनरूप उपाधि की निकटता के नाश से सुविशुद्ध सहज स्वपरिणतिवाला मैं पर के द्वारा आरोपित विकार रुक जाने से एकान्ततः मुमुक्षु हूँ और अभी भी मेरा कोई सबधी नहीं है।

अब भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतंत्र हूँ; मैं अकेला ही करण हूँ; क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव से साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के

स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य अर्थात् प्राप्त होने योग्य हूँ और मैं अकेला ही अनाकुलत्वलक्षणवाला सुख नामक कर्मफल हूँ, जो कि सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव से उत्पन्न किया जाता है।

'इसप्रकार बंधमार्ग में और मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है' – इसप्रकार भानेवाले पुरुष को परमाणु की भाँति एकत्व भावना में उन्मुख (तत्पर) होने से परद्रव्यरूप परिणति किंचित्मात्र भी नहीं होती और परमाणु की भाँति ही एकत्व को भानेवाला पुरुष पर के साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिए परद्रव्य के साथ असंबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ, वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण नहीं होता, खण्डित नहीं होता; इसलिए पर्यायों से संकीर्ण न होने से सुविशुद्ध होता है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका की बात को ही दुहरा देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के उपरान्त छोटे-बडे १० छन्द लिखते हैं, जिनमें २ मनहरण, १ छप्पय, १ कवित्त, १ मत्तगयन्द सवैया और ५ दोहे हैं।

इनमें अन्तिम ४ छन्द तो द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार के उपसहार रूप में हैं, शेष ६ छन्द इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं।

उपसंहार सबधी छन्द तत्त्वप्रदीपिका में समागत उपसहार सबधी कलशों (छन्दों) के भाव को स्पष्ट करते हैं। ये सभी छन्द मूलतः पठनीय हैं।

नमूने के रूप में गाथा के भाव को स्पष्ट करनेवाला एक छन्द प्रस्तुत है–

(मनहरण कवित्त)

करता करन तथा करम करमफल,
चारोंरूप आतमा विराजै तिहूँपन में।
ऐसे जिन निहचै कियो है भलीभाँति करि,
एकता सुभाव अनुभवै आपु मन में।।
परदर्वरूप न प्रनवै काहू कालमाहिं,
लागी है लगन जाकी आतमीक धन में।

सोई मुनि परम धरम शिवसुख लहै,
वृन्दावन कबहूँ न आवै भववन में॥११५॥

'यह आत्मा कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल – इन चारोंरूप में विराजमान रहता है' – जिस व्यक्ति ने उक्त बात का निश्चय भलीभाँति कर लिया है, वह आत्मा के एकत्वस्वभाव का अनुभव करता है। जिसकी लगन आत्मारूपी धन में लगी है, वह किसी भी काल में परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि इसप्रकार के मुनिराज कभी ससारवन में नहीं भटकते; वे परमधर्म के फलस्वरूप मुक्तिसुख को प्राप्त करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इसप्रकार कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है, पुद्गल नहीं अर्थात् आत्मा का परद्रव्यों के साथ संबंध नहीं है – ऐसा जिस जीव ने यथार्थ ज्ञान द्वारा निर्णय किया है, वह जीव वास्तव मे विकाररूप परिणमित नहीं होता।[1]

अज्ञानदशा में भी मैं अकेला आत्मा स्वय ही राग का कर्ता, कर्म आदि था, अन्य कोई परपदार्थ मेरे अज्ञान और राग-द्वेष का कर्ता नहीं था – इसप्रकार प्रथम अज्ञान दशा का ज्ञान कराते हैं।[2]

स्फटिकमणि में स्वय तो लालरूप होने की योग्यता है, तब लाल फूल ने स्फटिक को लाल किया – ऐसा कहा जाता है, जबकि लाल फूल ने स्फटिक को लाल नहीं किया है, अपितु स्फटिकमणि स्वयं लालरूप परिणमित हुआ है, तब लाल फूल की निकटता से उत्पन्न हुई ललाई द्वारा स्फटिकमणि लाल हुआ – ऐसा कहने मे आता है।[3]

जैसे स्फटिकमणि लाल फूल की उपस्थिति में स्वय की योग्यता के कारण ललामीरूप परिणमित होता है, वैसे ही अनादि कर्म के सयोग से

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४१३
२ वही, पृष्ठ-४१४
३ वही, पृष्ठ-४१४

कर्म की तरफ के मेरे झुकाव के कारण मेरे स्वभाव में विकार न होने पर भी मेरी पर्यायबुद्धि के कारण मैं विकारवाला था और कर्म द्वारा आरोपित हुआ था, इसीलिए संसार था।

अज्ञान दशा में अथवा अधर्म दशा में भी कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।[१]

जिसतरह जब स्फटिकमणि के पास लाल फूल नहीं होता, तब स्फटिकमणि अपने निर्मल स्वभाव को प्रकाशित कर रहा है; इसीतरह मेरे में शुद्धता प्रगट होने से पर के द्वारा आरोपित विकार मेरे में अटक (रुक) गया है – ऐसा मैं सर्वथा मोक्ष का इच्छुक हूँ। विकार की तरफ के झुकाव का नाश हुआ अर्थात् कर्म द्वारा आरोपित विकार मेरे में अटक गया है, क्योंकि वह मेरा वास्तव में स्वभाव नहीं था।

अज्ञान दशा में मेरा कोई नहीं था और वर्तमान में ज्ञान दशा में भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है।

देखो, मुनि एकत्व भावना भाते हैं – पूर्व ससार दशा में मैं अकेला था; स्त्री, कुटुम्ब, शरीर कोई भी मेरा सबधी नहीं था और वहाँ मेरे राग-द्वेष आदि परिणाम का कर्ता, कर्म, साधन और फलरूप मैं ही था। जडकर्म अथवा अन्य पदार्थ के कारण अज्ञान राग-द्वेष नहीं थे। यहाँ ज्ञान दशा में भी मैं अकेला ही हूँ। देव-गुरु-शास्त्र भी मेरे नहीं हैं।

यहाँ ज्ञान दशा में निर्मल पर्याय का कर्ता, निर्मल शुद्धतारूप कार्य, शुद्धता का साधन और शुद्धता के फल को भोगनेवाला मै ही हूँ। इसप्रकार आत्मा की शुद्धता का अथवा धर्म की अवस्था का कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है।[२]

एकत्व की भावना का फल आत्मा की शुद्धता अथवा सुख है। इसतरह विकारी दशा में विकार का कर्ता आत्मा है, विकार होने में करण आत्मा है, विकारी होनेरूप कार्य आत्मा है और विकार का फल आकुलता भी आत्मा है; इसीतरह शुद्धता की दशा में शुद्धता का कर्ता आत्मा है,

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४१६ २ वही, पृष्ठ-४१७-४१८

शुद्धता होने में साधन आत्मा है, शुद्धतारूप कार्य आत्मा है और शुद्धता का फल सुख वह भी आत्मा है। इसप्रकार धर्मी जीव विचार करता है। आत्मा संसार में अकेला है और मोक्षमार्ग में भी अकेला है।

ज्ञानी जीव को अथवा अज्ञानी जीव को परपदार्थ के साथ सबध नहीं है।[१]

एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सबंध नहीं है। जिसप्रकार वह परमाणु स्वयंसिद्ध पदार्थ है; वैसे ही आत्मा भी स्वयंसिद्ध सुखस्वरूप अकेला पदार्थ है। स्त्री, कुटुंब और देव-गुरु-शास्त्र के साथ मेरा सबंध नहीं है – इसप्रकार एकत्व भावना को जो जीव भाता है, अनुभवता है, समझता है, चिंतवन करता है; उस जीव को विकार बिलकुल नहीं होता।

एक परमाणु जबतक अकेला रहता है, तबतक स्कंधरूप अशुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं होता। इसीतरह एकत्व की भावना भानेवाले जीव को अपने सुख और आनद के लिए परपदार्थ की तरफ देखना नहीं रहता, वह पर के सगवाला नहीं होता और परद्रव्य के साथ असंगपना होने पर अर्थात् सयोगी बुद्धि दूर होने पर स्वभाव बुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् शुद्धदशा होती है।

इस शुद्धदशा का कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है – ऐसे भेदों को भी धर्मी जीव नहीं भाते, किन्तु इन चारों मे सामान्य रहे अभेद आत्मा को ही वे भाते हैं और अनुभवते हैं; इसकारण वे पुरुष पर्यायों से खण्डित नहीं होते।

जबतक विकल्प का आश्रय था, तबतक कर्ता, करण आदि चार भेद पडते थे और पर्याय से खण्डित होता था, किन्तु अभेद आत्मारूप हुआ अर्थात् विकल्प का उत्थान नहीं रहा अर्थात् रागवाली पर्याय उत्पन्न नहीं होती, किन्तु धर्म की निर्मल पर्याय प्रगट होती है और वह आत्मा के साथ अभेद होती है; इसीलिए पर्याय के भेदों से खण्डित नहीं होने के कारण आत्मा सुविशुद्ध होता है।

इसप्रकार एकत्व भावना का फल अनाकुल सुख बताया है।[२]"

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४१९ २ वही, पृष्ठ-४२०

अत्यन्त स्पष्टरूप से एक बात तो यहाँ यह कही गई है कि ज्ञानदशा में और अज्ञानदशा में भी आत्मा का पर के साथ कोई संबंध नहीं है; वह अपने परिणमन का स्वयं ही कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल है।

दूसरी बात यह है कि उसकी समस्त पर्यायें उसी में विलीन हैं; इसप्रकार वह कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल का अभेद पिण्ड है।

तात्पर्य यह है कि बधमार्ग में भी आत्मा स्वय स्वयं को स्वयं से बाँधता है और भोगता है और मोक्षमार्ग में भी आत्मा स्वय को स्वयं मुक्त करता है और भोगता है। बंधमार्ग में सासारिक सुख-दु:ख को भोगता है और मोक्षमार्ग में अतीन्द्रिय सुख को भोगता है।

इसप्रकार यह आत्मा बंधमार्ग में भी अकेला रहता है और मोक्षमार्ग में भी अकेला रहता है – ऐसा निश्चय करके ज्ञानी आत्मा पर से अन्यत्व और अपने में एकत्व स्थापित करता है, एकत्व और अन्यत्व भावना भाता है।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार की इस गाथा में प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता की घोषणा की गई है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि आत्मा भी एक स्वतत्र द्रव्य है; इसकारण वह भी अपने विकारी-अविकारी परिणमन में पूर्णत: स्वतत्र है। विकारी परिणमन में परद्रव्यरूप कर्मोदय का सद्भाव और निर्मल परिणमन में परद्रव्यरूप कर्मोदय के उदय का अभाव तो निमित्तमात्र है। कर्म उक्त परिणमन का कर्ता-भोक्ता नहीं; उक्त परिणमन का कर्ता-भोक्ता तो भगवान आत्मा ही है।

इसके बाद इस द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपसहार सबधी ३ कलश (छन्द) हैं, जिनमें अन्तिम अनुष्टुप छन्द तो मात्र इतना ही कहता है कि इसप्रकार द्रव्यसामान्य के ज्ञान से मन को गभीर करके अब द्रव्यविशेष के परिज्ञान का आरंभ करते हैं।

उक्त छन्द की चर्चा यहाँ न करके द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार के आरभ में करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। शेष दो छन्दों में एक वसततिलका और एक मन्दाक्रान्ता छन्द है। उनमे पहला छन्द इसप्रकार है–

(वसंततिलका)

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा-
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजात:।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्व: ॥७॥

(मनहरण कवित्त)

जिसने बताई भिन्नता भिन्न द्रव्यनि से।
और आतमा एक ओर को हटा दिया॥
जिसने विशेष किये लीन सामान्य में।
और मोहलक्ष्मी को लूट कर भगा दिया॥
ऐसे शुद्धनय ने उत्कट विवेक से ही।
निज आतमा का स्वभाव समझा दिया॥
और सम्पूर्ण इस जग से विरक्त कर।
इस आतमा को निजातम में लगा दिया॥७॥

जिसने अन्यद्रव्य से भिन्नता के द्वारा आत्मा को परद्रव्यों से अलग दिखाया और समस्त विशेषों को सामान्य में लीन किया; ऐसे इस उदण्ड मोहलक्ष्मी को लूट लेनेवाले शुद्धनय ने उत्कट विवेक के द्वारा आत्मतत्त्व को पर से भिन्न अकेला दिखाया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि –

"शुद्धनय आत्मा को परपदार्थ जैसे कि स्त्री-कुटुम्ब तथा देव-गुरु-शास्त्र, शरीर और कर्म से अलग करता है अर्थात् उनसे पृथक् दर्शाता है।

यहाँ क्षेत्र से अलग होने की बात नहीं, अपितु सयोगबुद्धि, निमित्ताधीन बुद्धि दूर होकर स्वभावबुद्धि हुई, उस भाव को, परद्रव्य से आत्मा को अलग किया – ऐसा कहा है तथा शुद्धनय पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता, अकेले अभेद आत्मा को ही स्वीकारता है।

आत्मा विकार को दूर करनेवाला है और शुद्धता को प्रगट करनेवाला है – ऐसे भेद शुद्धस्वभाव में नहीं हैं। कर्ता-करण आदि के भेद पर्याय में

होते हैं, जो स्वभाव तरफ दृष्टि रखने पर नाश को प्राप्त होते हैं और पर्यायें द्रव्य के अन्दर डूब जाती हैं।

इसीलिए शुद्धनय विशेषों को द्रव्य सामान्य में मग्न करता है अर्थात् पर्यायबुद्धि, अंशबुद्धि, रागबुद्धि का नाश करता है और स्वभावबुद्धि उत्पन्न करता है। ऐसा शुद्धनय वर्तमान पर्याय को अभेद शुद्धस्वभाव में लीन करता है, इसीलिए मिथ्यात्व राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते।[1] शुद्धनय ने आत्मा के स्वरूप को राग-द्वेष तथा गुण-भेद से सम्यग्ज्ञान द्वारा पृथक् किया है। जितना-जितना शुद्धनय द्वारा अभेद आत्मा में एकाकार होता है, उतना-उतना आत्मा पर्याय में शुद्ध होता जाता है और सम्पूर्ण एकाकार होने पर परिपूर्ण वीतरागदशा तथा केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है।[2]"

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि एकमात्र शुद्धनय ही ऐसा नय है, जो आत्मा को परद्रव्यों से पृथक् और सम्पूर्ण विशेषों को आत्मा में अन्तर्लीन दिखाकर आत्मा में ही स्थापित करता है और मोहलक्ष्मी को लूट लेता है अर्थात् मोह का नाश कर देता है।

अत: शुद्धनय के कथन को सत्यार्थ जानकर शुद्धनय के विषयभूत अपने शुद्धात्मा में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

दूसरा छन्द इसप्रकार है –

(मदाक्रान्ता)

इत्युच्छेदात्परपरिणतैः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥८॥

(मनहरण कवित्त)

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया ॥
इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया ॥

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४२१-४२२ २ वही, पृष्ठ-४२२

ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया॥
आपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया॥८॥

परपरिणति के उच्छेद और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के नाश से जिसने शुद्धात्मतत्त्व उपलब्ध किया है; ऐसा वह आत्मा चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेज में लीन होता हुआ अपनी सहज महिमा के प्रकाशमानरूप से सदा मुक्त ही रहेगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस कलश का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि –

"आत्मा शुद्धता का कर्ता है, करण है, कर्म है, कर्मफल है – ऐसे चार भेद राग मिश्रित विचार में होने पर और उन भेदोंवाली अथवा रागवाली दशा जितना मेरा स्वरूप है – ऐसी मिथ्या भ्रान्ति का भी नाश करके शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति की है।

अनुकूल द्रव्य-क्षेत्र से आत्मा को लाभ होगा और प्रतिकूल द्रव्य-क्षेत्र से आत्मा का नुकसान होगा – ऐसी मान्यता तो स्थूल भ्रान्ति है; किन्तु आत्मा की शुद्धता का राग रहित विचार करने पर कर्ता, करण आदि भेद पाडकर उन भेद से अभेद आत्मा में जायेंगे और जो ज्ञान भेद में अटकता था, उससे धीरे-धीरे स्वभाव के अदर आए – ऐसी मान्यता भी मिथ्या भ्रान्ति है। ऐसी भ्रान्ति का भी शुद्ध अभेद आत्मा के आश्रय से नाश किया है – ऐसा यह आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव में ही लीन रहने से अपनी स्वाभाविक महिमा के प्रकाशमानरूप सर्वदा मुक्त ही रहेगा।[१]"

इसप्रकार इस छन्द में यह बताया गया है कि जिस आत्मा ने परपरिणति के उच्छेद और कर्ता-कर्म संबंधी भ्रान्ति के नाश से शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है; वह आत्मा स्वय में ही समा जायेगा और दु:खों से सदा ही मुक्त रहेगा, प्रकाशमान रहेगा।

इसप्रकार यह द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार समाप्त होता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४२३-४२४

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार

(गाथा १२७ से गाथा १४४ तक)

द्रव्यसामान्य का प्रज्ञापन करने के उपरान्त अब द्रव्यविशेषप्रज्ञापन-अधिकार आरंभ करते हैं। उक्त दोनों अधिकारों की संधि को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक छन्द लिखते है, जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भार: क्रियतेऽधुना ॥१॥

(दोहा)

अरे द्रव्य सामान्य का अबतक किया बखान।
अब तो द्रव्यविशेष का करते हैं व्याख्यान ॥१॥

इसप्रकार द्रव्यसामान्य के ज्ञान से मन को गभीर करके अब द्रव्यविशेष के परिज्ञान का आरंभ किया जाता है।

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार मे सभी द्रव्यों में प्राप्त होनेवाली सामान्य विशेषताओं को समझाया है और अब द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में गाथा १२७ से १४४ तक अर्थात् १८ गाथाओं में द्रव्यों के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप स्पष्ट करेंगे।

प्रवचनसार गाथा १२७

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में सर्वप्रथम 'जीव और अजीव द्रव्य के भेद से द्रव्य दो प्रकार के होते हैं' – यह बतलाते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥१२७॥

(हरिगीत)

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय।
पुद्गलादी अचेतन हैं अत:एव अजीव हैं ॥१२७॥

द्रव्य जीव और अजीव हैं। उनमें चेतना और उपयोगमय जीव हैं और पुद्गलादि अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस लोक में एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्वसामान्य को छोडे बिना ही, विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर द्रव्य जीवत्व और अजीवत्वरूप विशेष को प्राप्त होते हैं। उनमें जीव का तो 'आत्मद्रव्य' ऐसा एक ही प्रकार है और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य – ये पाँच प्रकार हैं।

इनमें जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व है और अजीव का विशेष लक्षण अचेतनत्व है।

स्वधर्मों मे व्याप्त होने से स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई, अविनाशी, भगवती, सवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतनापरिणामलक्षण द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नपना अवतरित प्रतिभासित होता है; वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहनेवाली यथोक्त चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनपना अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।"

आचार्य जयसेन उक्त गाथा के भाव को यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि उक्त बात को नयविभाग से स्पष्ट कर देते हैं।

उक्त गाथा के भाव को वृन्दावनदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

सत्तारूप दर्व दोय भांति है अनादि सिद्ध,
जीव औ अजीव यही साधी श्रुति मंथ है।
तामें जीव लच्छन विलच्छन है चेतनता,
जासको प्रकाश अविनाशी पुंज पंथ है।।
ताही को प्रवाह ज्ञान दर्शनोपयोग दोय,
सामान्य विशेष वस्तु जानिवे तैं कंथ है।
पुग्गल-प्रमुख दर्व अजीव अचेतन हैं,
ऐसे वृन्द भाषी कुन्दकुन्द निरगंथ हैं।।३।।

अनादिसिद्ध सत्तास्वरूप द्रव्य जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं। शास्त्रों के मंथन से यह बात सिद्ध है। उनमें जीव का विलक्षण लक्षण अविनाशी प्रकाशवाली चेतना है। उसके प्रवाहरूप सामान्य का ग्राहक दर्शनोपयोग और विशेष का ग्राहक ज्ञानोपयोग है। पुद्गलादि अजीवद्रव्य अचेतन हैं।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि निर्ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने यही कहा है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(अडिल्ल)

दरव जीव निरजीव उभै विधि जानिये।
पुनि चेतना स्वरूप जीव पहिचानिये ।।
सहित वहुरि उपयोग जानिवौ देखिवौ।
पंचभाव तन आदि अचेतन लेखिवौ ।।६२।।

द्रव्य जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के जानने चाहिए और उनमें चेतनलक्षणवाला जीव जानने-देखनेरूप चेतना से पहिचाना जाता है। शरीर आदि पाँच प्रकार के अचेतन द्रव्य अजीव हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अब आचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान द्वारा अपने केवलज्ञान में जाने हुए और दिव्यध्वनि मे प्रतिपादित किए हुए छह द्रव्यों का वास्तविक स्वरूप कहते हैं। उनमें सर्वप्रथम द्रव्यों के दो भेद – जीव और अजीव के बारे में कहते हैं। इस जगत में न तो अकेला जीव ही है और न अकेला अजीव ही; अपितु जीव और अजीव दोनों हैं।[१] उनमें चेतनामय तथा उपयोगमय जीव है और पुद्गलादिक अचेतन द्रव्य अजीव हैं।[२]

द्रव्यों को द्रव्यरूप से देखने पर उनमें भेद नहीं पडता। द्रव्यपना सबमें एक-सा होने पर भी प्रत्येक द्रव्य के विशेष लक्षण के अस्तित्व के कारण भेद पडता है। 'द्रव्य' – इतना ही कहने से जीव-अजीव भिन्न नहीं पडते; परन्तु विशेष लक्षण से भिन्न पडते हैं।[३]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२ २ वही, पृष्ठ-२ ३ वही, पृष्ठ-३

जीव का विशेष लक्षण चेतनामय और उपयोगमयपना है। जीव का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एकसमय में जानने का है। यदि एक भी ज्ञेय को जानने का अस्वीकार होता है तो चेतना उपयोग ही सिद्ध नहीं होता।[1]

आशय यह है कि द्रव्यपनेरूप सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकपना होने पर भी, विशेष लक्षणों की अपेक्षा से द्रव्यों के जीव और अजीव – ऐसे दो भेद हैं। जो द्रव्य महिमावत चेतना सहित और चेतना के उपयोग सहित हैं, वे जीव हैं और जो चेतनारहित होने से अचेतन हैं, वे अजीव हैं।

इसप्रकार जीव का एक भेद है और अजीव के पाँच भेद हैं।[2]"

इसप्रकार इस गाथा में मात्र इतना ही कहा है कि यद्यपि द्रव्यत्वसामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ द्रव्य हैं, तथापि द्रव्य एक नहीं; अनेक हैं, अनेकप्रकार के हैं। उन अनेक प्रकारों में एक प्रकार यह भी है कि चेतना लक्षणवाले कुछ द्रव्य जीव हैं और चेतना लक्षण से रहित शेष सभी पुद्गलादि द्रव्य अजीव हैं।

वस्तुत. द्रव्य छह प्रकार के हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव को छोडकर शेष पाँच द्रव्यों को अजीव कहा जाता है; क्योंकि वे जीव नहीं है, उनमें जीवत्व नहीं है, चेतना नहीं है।

उन्हें जो अजीव नाम दिया गया है, वह जीव की ओर से है, जीव की मुख्यता से किये गये कथन की अपेक्षा से है; क्योंकि उन द्रव्यो के अपने-अपने स्वतत्र नाम हैं और उनकी स्वतत्र परिभाषाये भी हैं, जिनकी चर्चा आगे यथास्थान होगी।

प्रश्न – क्या अजीव नामक कोई स्वतत्र द्रव्य नहीं है ?

उत्तर – जीव से भिन्न पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन पाँच द्रव्यों को छोडकर इनसे पृथक् अजीव नाम का कोई स्वतत्र द्रव्य नहीं है। जब हम किसी से पूछते हैं कि यहाँ जैनो के कितने घर है ? तो हमें उत्तर मिलता है कि १०० घर हैं। पर यदि हम यह पूछे कि अजैनों के कितने घर हैं तो यही कहा जायेगा, शेष सब अजैन ही तो हैं।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३ २ वही, पृष्ठ-७

पर मेरा कहना यह है कि जब हम किसी से पूछे कि आप कौन हैं ? तो यह कहते हुए तो अनेक लोग मिल जावेंगे कि हम जैन हैं, वैष्णव हैं, हिन्दू हैं, मुस्लिम हैं, सिख हैं, बौद्ध हैं; पर यह कोई न कहेगा कि हम अजैन हैं। तात्पर्य यह है कि अपने को कोई अजैन नहीं मानता, अजैन नाम से नहीं पुकारता और न वह अजैन कहलाना ही पसन्द करता है; क्योंकि उसका अजैन नाम तो अपने से भिन्न बताने के लिए हमने दिया है। यह तो नकारात्मक नाम है, वह इसे क्यों स्वीकार करेगा ?

इसीप्रकार के प्रश्न के उत्तर में क्या हम यह उत्तर देंगे कि हम अहिन्दु हैं, असिख हैं, अबौद्ध हैं ? यदि नहीं तो फिर वे लोग – ऐसा कैसे कह सकते हैं कि हम अजैन हैं ?

वस्तुत बात यह है कि सकारात्मक (पॉजिटिव) रूप से अजैन कोई नहीं है, हम उन्हें अपने से भिन्न बताने के लिए नकारात्मक (नेगेटिव) भाषा का प्रयोग करके अजैन कहते हैं।

इसीप्रकार जीव से भिन्न पुद्गलादि सभी पदार्थों को अजीव कहा जाता है। जिसप्रकार पुद्गलादि से भिन्न जीव हैं, उसप्रकार पुद्गलादि से भिन्न अजीव कोई नहीं है।

प्रश्न – यदि ऐसी बात है तो फिर किसी को अजीवद्रव्य कहना तो ठीक नहीं है?

उत्तर – क्यों ? वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिए यह एक महती आवश्यकता है। यदि हमे अपने से भिन्न पुद्गलादि सभी द्रव्यों को एक नाम से कहना हो तो अजीव के अतिरिक्त और कौन-सा शब्द है कि जिसका प्रयोग किया जा सके।

वस्तुस्वरूप की स्पष्टता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

यह एक अकेला प्रयोग नहीं है। इसी प्रवचनसार मे आगे चलकर छह द्रव्यों के सदर्भ में इसीप्रकार अनेक प्रयोग प्राप्त होंगे। जैसे – द्रव्य दो प्रकार के हैं – मूर्तिक और अमूर्तिक। एकमात्र पुद्गल मूर्तिक है, शेष सभी द्रव्यो का मिलकर एक नाम अमूर्तिक है। ●

प्रवचनसार गाथा १२८

विगत १२७वीं गाथा में जीवद्रव्य की मुख्यता से द्रव्यों के जीव-अजीव भेदों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब उनका विभाजन आकाशद्रव्य की मुख्यता से लोक और अलोक के रूप में करते हैं।

लोक और अलोक का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली गाथा मूलत: इसप्रकार है –

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥१२८॥

(हरिगीत)

आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से।
अर काल से समृद्ध वह सब लोक शेष अलोक है॥१२८॥

आकाश मे जो भाग जीव और पुद्गल से सयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालद्रव्य से समृद्ध है, वह सब सदा ही लोक है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''द्रव्यों का लोक और अलोक के रूप में वर्गीकरण अपनी विशेष विशेषता रखता है; क्योंकि लोक और अलोक के अपने विशेष लक्षण हैं।

लोक का लक्षण षड्द्रव्यसमुदायात्मकता है और अलोक का लक्षण केवल आकाशात्मकता है। सर्वद्रव्यो में व्याप्त होनेवाले महान आकाश में जितने आकाश में गति-स्थितिवाले जीव और पुद्गल गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं, उनकी गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त होकर रहते हैं और सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कालाणुद्रव्य सदा रहते हैं, उतना आकाश और शेष समस्त द्रव्य – इन सबका समुदाय लोक है और यही लोक का लक्षण है।

जितने आकाश में जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य नहीं रहते और कालाणु भी नहीं रहते; उतना

अकेला आकाश ही अलोक है और यही अलोक का लक्षण है।"

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जितने आकाश में छहद्रव्य रहते हैं, अकेले उतने आकाश का नाम लोक नहीं है; अपितु छहद्रव्यों के समूह का नाम लोक है। महान आध्यात्मिक कवि पण्डित दौलतरामजी के ध्यान में यह बात थी; तभी तो उन्होंने छहढाला में लिखी लोकभावना संबंधी छन्द में लोक को **षट्द्रव्यमयी** लिखा है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखी है कि छह द्रव्यों का समूह लोक है।

यद्यपि कविवर वृन्दावनदासजी के छन्द में यह तथ्य स्पष्टरूप से उभर कर नहीं आ पाया है; तथापि उनके कथन में उक्त तथ्य के विरुद्ध कुछ कहा गया हो – यह बात भी नहीं है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करनेवाला उनका छन्द इसप्रकार है –

(छप्पय)

जो नभ के परदेश जीव पुद्गल समेत हैं।
धर्माधर्म सु अस्तिकाय के जो निकेत हैं।।
कालानूजुत पंच दरव परिपूरन जामें।
सोई लोकाकाश जानु, संशय नहिं यामें।।
सब कालमाहिं सो अचल है अवगाहन गुन को धरै।
तसु परे अलोकाकाश जहँ पंच रंच नहिं संचरै।।४।।

आकाश के जो प्रदेश जीव और पुद्गल सहित हैं, धर्म, अधर्म अस्तिकाय के घर हैं और जिसमें कालाणु सहित पाँच द्रव्य पूर्णता से भरे हुए हैं, उसे ही लोकाकाश जानो – इसमें सशय नहीं है।

वह लोकाकाश सदाकाल ही अचल है, अवगाहनगुण को धारण किये हुए है और इस लोक के बाहर अलोकाकाश है, जहाँ शेष पाँच द्रव्यों का सचरण नहीं है।

पण्डित देवीदासजी एक छप्पय में उक्त तथ्य को सहज भाव से स्पष्ट कर देते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"लोक का लक्षण छह द्रव्यों का समुदायस्वरूपपना है। लोक में छह द्रव्यों का समुदाय होता ही है। सर्व द्रव्यों में व्यापक, परम महान आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल रहें; उतना आकाश व अन्य पाँच द्रव्य – ऐसे छह द्रव्यों का समुदाय लोक है।[१]

आकाश के जितने भाग में जीव तथा पुद्गल स्वयं के कारण गति तथा स्थिति नहीं करते, धर्म-अधर्म द्रव्य स्वयं के कारण नहीं हैं और जहाँ कालाणु नहीं हैं; उतना केवल आकाश जिसका स्वलक्षण है, उसको अलोक कहते हैं। अलोक में लोकाकाश के अतिरिक्त अवशेष आकाश मात्र है, अन्य कोई द्रव्य नहीं है।[२]

लोक मर्यादित है और अलोक अमर्यादित है। इसप्रकार ज्ञेय जैसे है, वैसे न जाने तो ज्ञान विपरीत होता है और जिसका ज्ञान विपरीत होता है, उसको धर्म नहीं होता।[३]

ज्ञान की विशालता के लिए ज्ञेयो के विशेष जैसे हैं, वैसे समझना चाहिए।[४]"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि छह द्रव्यों का समुदाय लोक है, इसमे विशेष ध्यान देने की क्या बात है ? सभी ऐसा जानते-मानते हैं।

नहीं, ऐसी बात नहीं है। बहुत से लोग लोकाकाश और लोक में अन्तर नहीं कर पाते। वे लोकाकाश और लोक को एक ही समझते हैं; जबकि उन दोनो में अन्तर है। लोक छह द्रव्यों के समूह का नाम है और लोकाकाश अकेले आकाशद्रव्य का वह भाग है, जहाँ छहों द्रव्य पाये जाते हैं।

प्रश्न – विश्व और लोक तो एक ही बात है न ?

उत्तर – नहीं; विश्व में अलोकाकाश भी शामिल है, लोक मे अलोकाकाश शामिल नहीं है। विश्व छह द्रव्यों का समुदाय है और लोक आकाश का वह प्रदेश है, जहाँ छहों द्रव्य पाये जाते हैं। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-९
२ वही, पृष्ठ-१०
३ वही, पृष्ठ-१०
४ वही, पृष्ठ-१०

प्रवचनसार गाथा १२९

वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार में छह द्रव्यों का वर्गीकरण अनेकप्रकार से किया गया है, जिसमें अभीतक जीव-अजीव और लोक-अलोक की चर्चा हुई, अब इस गाथा में क्रियावान और भाववान की बात करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

(हरिगीत)

जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से।
भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों ॥१२९॥

पुद्गल-जीवात्मक लोक के परिणाम से और सघात व भेद से उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय होते हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते है –

''द्रव्यों में इस अपेक्षा भी भेद पडता है कि कुछ द्रव्य भाव और क्रियावाले हैं, पर कुछ द्रव्य मात्र भाववाले ही हैं। पुद्गल और जीव भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं, क्योंकि वे परिणाम द्वारा और भेद व सघात द्वारा उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य मात्र भाववाले ही हैं; क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं – ऐसा निश्चय है।

इनमे भाव का लक्षण परिणाम है और क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है। भाववाले तो सभी द्रव्य हैं, क्योंकि परिणामस्वभाववाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।

पुद्गल भाववाले होने के साथ-साथ क्रियावाले भी हैं; क्योंकि

परिस्पदस्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं और मिले हुए पुद्गल फिर पृथक् हो जाते हैं; इस अपेक्षा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट हो जाते हैं। जीव भी भाववाले होने के साथ-साथ क्रियावाले भी होते हैं; क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पद के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने की अपेक्षा से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ लोक को जीव-पुद्गलात्मक ही क्यो लिखा है; वह तो षड्द्रव्यात्मक है।

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में यह कहते हुए देते हैं कि लोक तो षड्द्रव्यात्मक ही है, यहाँ उपलक्षण से जीव-पुद्गलात्मक कह दिया है। इस वर्गीकरण को आचार्य जयसेन सक्रिय और निष्क्रिय द्रव्यों के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। साथ में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि जीव और पुद्गलों की अर्थ और व्यजन – दोनों पर्यायें होती है, शेष द्रव्यों की मात्र अर्थपर्यायें ही होती हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि अर्थपर्याये प्रतिसमय परिणमनरूप होती हैं और जब जीव इस शरीर को त्याग कर दूसरे भव में शरीर को ग्रहण करता है तो विभावव्यजनपर्यायें होती हैं। इसीप्रकार पुद्गलो मे भी विभावव्यजनपर्यायें होती हैं। इसीकारण जीव व पुद्गल को सक्रिय द्रव्य कहा जाता है।

मुक्त जीवों के स्वभावव्यजनपर्याय होती है, क्योकि उनके भेद ही होता है, सघात नहीं।

उक्त गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी २ दोहे और १ मनहरण – इसप्रकार ३ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। सभी मूलत: पठनीय हैं।

नमूने के तौर पर एक छन्द प्रस्तुत है –

(मनहरण कवित्त)

क्रियावंत भाववंत ऐसे दोय भेदनि तैं,
दर्वनि में भेद दोय भाषी भगवंत है।

मिलि विछुरन हलचलन क्रिया है औ,
सुभाव परनति गहै सोई भाववंत है।।
जीव पुद्‌गलमाहिं दोनों पद पाइयत,
धर्माधर्म काल नभ भाव ही गहत है।
धन्य धन्य केवली के ज्ञान को प्रकाश वृन्द,
एकै बार सर्व सदा जामें झलकंत है।।७।।

द्रव्यों के क्रियावान और भाववान – ये दो भेद भी भगवान ने बताये हैं। मिलना-बिछुडना और हलन-चलने करने का नाम क्रिया है और स्वभावपरिणति ही भाव है। जीव और पुद्‌गलों में क्रिया और भाव – दोनों पाये जाते हैं; किन्तु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य में अकेला भाव ही पाया जाता है।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि केवली भगवान के ज्ञान के प्रकाश को धन्य-धन्य है कि जिसमे सभी पदार्थ, सदा एकसाथ झलकते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

(अडिल्ल)

पुग्गल दरव सु जीव सु गुरु ये दो कहैं।
इनकी परनति रूप क्रिया सो लोक है।।
उपजै अरु थिर रूप 'णसै इहि' घाट हैं।
विछुरन और मिलाप सौं सो बहु ठाट है।।६४।।

श्रीगुरु ने कहा है कि जीव और पुद्‌गल – ये दो द्रव्य क्रियावती शक्तिवाले हैं, इनमें क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप क्रिया होती है, जहाँ तक ये रहते है, वहाँ तक लोक है, इसी घाट पर (क्षेत्र में) ये उत्पन्न होते हैं, स्थिर रहते हैं और नष्ट होते हैं। जीव और पुद्‌गल के मिलने और बिछुडने से इस लोक में अनेक विचित्रताये हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वहाँ भाव का लक्षण परिवर्तन इतना मात्र ही है और क्रिया का

लक्षण इकट्ठा होना व पृथक् होना है। सभी द्रव्य भाववाले हैं; क्योंकि सबका स्वभाव पलटना (परिणमन) है। ऐसे पलटने के स्वभाव के परिणाम के कारण अन्वय और व्यतिरेकों को पाते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। अन्वय ध्रौव्यपने और व्यतिरेक उत्पाद-व्ययपने को बताता है। जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य क्रियावाले हैं।[१] पुद्गलद्रव्य परिणमस्वभाव के उपरात क्षेत्रान्तर होने की क्रियावाले हैं। उनके क्षेत्रान्तर होने की योग्यता के कारण पृथक् परमाणु इकट्ठे होते हैं और इकट्ठे परमाणु पृथक् होते हैं। इसप्रकार पृथक् होते होने से और इकट्ठे मिलते होने से पुद्गलद्रव्य उत्पन्न होता है, टिकता है और विनष्ट होता है।[२]

इसप्रकार पृथक् होना, इकट्ठा होना, टिकना हुआ ही करता है – ऐसी क्रियावती शक्ति पुद्गल में विद्यमान है और उस कारण क्षेत्रान्तर होना हुआ ही करता है, परन्तु अज्ञानी जीव पुद्गल के इस स्वभाव को न देखकर, सयोग को देखता है और मानता है कि अमुक निमित्त था तो यह क्रिया हुई है।[३]

यहाँ कपन का अर्थ क्षेत्रान्तर समझना चाहिए।[४] यहाँ पुद्गल का स्वभाव बतलाकर यह बतलाना है कि जीव पर में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। इसप्रकार सबका स्वतत्र स्वभाव बतलाना है।

जीव का प्रतिसमय परिणमनस्वभाव तो है ही, तदुपरान्त जीव में क्रियावतीशक्ति भी है। अपने कंपन स्वभाव के कारण वह उत्पन्न होता है, टिकता है और बदलता है।[५] शरीर और आत्मा की क्रियावती शक्ति को भलीभाँति ज्ञान में लेने से इस विपरीत मान्यता का अभाव हो जाता है कि एक पदार्थ दूसरे के कारण चलता है अथवा जीव नहीं होने से मुर्दा नहीं चलता। वस्तुतः दोनों द्रव्य क्रियावती शक्ति की गमनरूप अथवा स्थिररूप रहने की योग्यता स्वय के कारण ही धारण करते हैं।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१३
२ वही, पृष्ठ-१३
३ वही, पृष्ठ-१४
४ वही, पृष्ठ-१४
५ वही, पृष्ठ-१४

ज्ञेयों का ऐसा स्वतंत्र स्वभाव है। ज्ञेय का ऐसा यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान का कारण है। परिणमन शक्ति और क्रियावती शक्ति ज्ञेयों का स्वभाव ही है – ऐसा निर्णय करने से अनादिकाल से परपदार्थों को हिलाने-चलाने-परिणमन कराने और परपदार्थ हो तो अपने में परिणाम हो – इत्यादि विपरीत मान्यताएँ नष्ट हो जाती हैं और इस सच्चे ज्ञान से धर्मदशा उत्पन्न होती है।[१]"

उक्त गाथा में यह बताया गया है कि जीव और पुद्गल द्रव्यों को छोडकर शेष चारों द्रव्यों में क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमनरूप क्रिया नहीं होती।

जिसमें कालद्रव्य निमित्त होता है, ऐसी परिणमनरूप क्रिया तो सभी छह द्रव्यों में होती है; पर जिसमें धर्मद्रव्य निमित्त होता है, ऐसी क्षेत्र से क्षेत्रान्तररूप गमन क्रिया और जिसमें अधर्मद्रव्य निमित्त होता है – ऐसी गमनपूर्वक ठहरनेरूप क्रिया जीव और पुद्गलों में ही होती है। इसीकारण जीव और पुद्गलों को सक्रिय द्रव्य कहते हैं।

उक्त क्रिया के अभाव में शेष द्रव्यों को निष्क्रिय द्रव्य कहा जाता है।

परिणमनरूप क्रिया तो सभी द्रव्यों में होती ही है, पर उसके कारण किसी भी द्रव्य को सक्रिय या निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता।

सभी द्रव्यों मे एक भाववती शक्ति है, जिसके कारण परिणमनरूप क्रिया होती है तथा जीव और पुद्गलों में भाववती शक्ति के साथ-साथ क्रियावती शक्ति भी है, जिसके कारण परिस्पन्द अर्थात् क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमनरूप, हलन-चलनरूप क्रिया होती है।

कालद्रव्य, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य तो मात्र निमित्त होते हैं; परिणमनरूप क्रिया और परिस्पन्दरूप क्रिया तो भाववती और क्रियावती शक्ति के कारण होती है। ज्ञेयतत्त्व का ऐसा स्वरूप समझने से चित्त में स्वाधीनता का भाव जागृत होता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१५

प्रवचनसार गाथा १३०-१३१

विगत गाथाओं में द्रव्यों को जीव-अजीव, लोक-अलोक और क्रियावान-भाववान के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अब आगामी दो गाथाओं में उन्हें मूर्त और अमूर्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया॥१३०॥
मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥१३१॥

(हरिगीत)

जिन चिह्नों से द्रव ज्ञात हों रे जीव और अजीव में।
वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से॥१३०॥
इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त गुण पुद्गलमयी।
अमूर्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्त्तिक जानना॥१३१॥

जिन लिंगो से द्रव्य जीव और अजीव के रूप में ज्ञात होते हैं; वे अतद्भाव विशिष्ट मूर्त-अमूर्त गुण जानने चाहिए।

जो इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते है – ऐसे मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और वे अनेकप्रकार के हैं और अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानना चाहिए।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''पर के आश्रय के बिना स्वद्रव्य का आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहिचाना जाता है; उन लिंगो को गुण कहते हैं। 'जो द्रव्य हैं, वे गुण नहीं हैं और जो गुण हैं, वे द्रव्य नहीं हैं' – इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा वे गुण विशिष्ट वर्तते हुए; लिंग और लिंगी के रूप में प्रसिद्धि के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं।

वे लिंग या गुण द्रव्यों में 'ये जीव हैं और ये अजीव हैं' – ऐसा भेद उत्पन्न करते हैं; क्योंकि स्वय ही तद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से विशेष

को प्राप्त हैं। जिस-जिस द्रव्य का जो-जो स्वभाव हो, उस-उस द्रव्य का उस-उस गुण के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें भेद है। इसलिए मूर्त या अमूर्त द्रव्यों का मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमे इसप्रकार का भेद निश्चित करना चाहिए कि ये गुण मूर्त हैं और ये गुण अमूर्त हैं।

मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है और अमूर्त गुणों का लक्षण उनसे विपरीत है अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञात नहीं होते।

ये मूर्त गुण पुद्गलद्रव्य के हैं; क्योंकि एक वही मूर्त है और अमूर्तगुण शेष द्रव्यों के हैं; क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि तद्भाव और अतद्भाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि शुद्ध जीवद्रव्य में जो केवलज्ञानादि गुण हैं; उनका शुद्ध जीव के प्रदेशों के साथ जो एकत्व है, अभिन्नत्व है, तन्मयत्व है; वह तद्भाव कहलाता है। उन्हीं गुणों का उन प्रदेशों के साथ जब सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद किया जाता है; तब वही अतद्भाव कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य और गुणों में अभिन्नप्रदेशत्व होने से तद्भाव है और सज्ञा, सख्या, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने से अतद्भाव है। इसप्रकार द्रव्य और गुणों के बीच तद्भाव भी है और अतद्भाव भी है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि परमाणु तो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, फिर उसे मूर्त कैसे माना जा सकता है; क्योकि मूर्त की परिभाषा तो इन्द्रियों से ग्राह्य बताई गई है।

आचार्य प्रभाचन्द प्रवचनसार की **सरोज भास्कर** टीका मे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने की योग्यतारूप शक्ति की प्रगटता की अपेक्षा सूक्ष्म परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य माने गये हैं।

उक्त दोनों गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी ने १ मनहरण, १ छप्पय और ४ दोहों में प्रस्तुत किया है, जो सभी मूलतः पठनीय हैं। नमूने के तौर पर ४ दोहे प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

मिली परस्पर वस्तु को जाकरि लखिये भिन्न।
लच्छन ताही को कहत न्यायमती परविन्न॥९॥
जो सुकीय नित दरव के हैं अधार निरबाध।
सोई गुन कहलावई वर्जित दोष उपाध॥१०॥
तेई दरवनि के सुगुन लच्छन नाम कहाहिं।
जातैं तिनकरि जानियै लच्छ दरब सब ठाहिं॥११॥
भेद विवच्छा तैं कहे गुनी सुगुन में भेद।
वस्तु विचारत एक हैं ज्ञानी लखत अखेद॥१२॥

जो व्यक्ति न्यायशास्त्र मे प्रवीण हैं; वे परस्पर मिली वस्तुओं को जिसके द्वारा भिन्न किया जाता है, उसे लक्षण कहते हैं।

जो अपने द्रव्य के आधार पर निरबाध रहते हैं; उन्हें ही गुण कहा जाता है; इसमें कोई दोष और बाधा नहीं है।

उन द्रव्यों के वे सुगुण ही लक्षण कहे जाते हैं, उनके द्वारा ही द्रव्य को लक्षित किया जाता है। भेद की अपेक्षा गुण और गुणी में भेद माना गया है; किन्तु वस्तुस्वरूप के विचार करने पर वे दोनो एक ही हैं – ऐसा ज्ञानीजन बिना खेद के जानते हैं।

स्वामीजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

''गुण अपने द्रव्य का आश्रय करते हैं, पर का आश्रय नहीं करते। आत्मा के गुण आत्मा का और पुद्‌गल के गुण पुद्‌गल का आश्रय करते हैं। पुद्‌गल के गुण आत्मा का आश्रय किये बिना रहते हैं और आत्मा के गुण पुद्‌गल का आश्रय किये बिना रहते हैं। जिनसे द्रव्य पहिचाना जा सके – ऐसे लिंग गुण हैं।[1]

यद्यपि द्रव्य और गुणों में प्रदेशभेद नहीं है; तथापि सज्ञा, सख्या, लक्षणभेद से भेद है।[2]

एक का नाम द्रव्य है, दूसरे का नाम गुण है। इससे सज्ञाभेद से भेद है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७ २ वही, पृष्ठ-१७

द्रव्य संख्या से एक है और गुण संख्या से अनेक हैं। इससे सख्या भेद से भेद है। द्रव्य सामान्य है, गुण विशेष हैं। द्रव्य आश्रय देनेवाला है और गुण आश्रय लेनेवाले हैं। द्रव्य में गुण हो सकते हैं; परन्तु एक ही गुण में द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य अनंत गुणों का पिण्ड है, गुण में एक गुण है। इससे लक्षण भेद से भेद है।[१]

स्पर्श, रस, गंध, वर्णादिवाले पुद्गलद्रव्य मूर्तद्रव्य हैं और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तद्रव्य हैं। मूर्त द्रव्य में मूर्त गुण है और अमूर्त द्रव्यों में अमूर्तत्व/अरूपीपना है। उन गुणों में रूपीपना और अरूपीपना – ऐसी विशेषता होने से, भिन्नता होने से, पुद्गलद्रव्य में रूपीपना है और जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में अरूपीपना है – ऐसा निर्णय करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है।[२]

मूर्तगुण पुद्गलद्रव्य के हैं; क्योंकि एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्त है और अमूर्तगुण अन्य पाँच द्रव्यों अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के हैं; क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त हैं।

इसप्रकार आत्मा में स्पर्श, रस, गध, वर्ण नहीं है – ऐसे ही अन्य चार द्रव्यों में भी स्पर्शादि गुण नहीं हैं। इसप्रकार ज्ञेयों को मूर्त-अमूर्त के भेद से यथार्थ जानना ज्ञान की विशेषता का कारण है।[३]"

इसप्रकार उक्त दोनों गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि जिन लिंगो (चिह्नो) से द्रव्यों को पहिचाना जाता है, उन्हें गुण कहते हैं।

यद्यपि ये गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य के साथ तन्मय हैं; तथापि उनमें परस्पर अतद्भाव है। जिन वस्तुओ के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते है, उनमे अत्यन्ताभाव और जिनके प्रदेश अभिन्न होते हैं, उनमें अतद्भाव होता है। यह बात द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन अधिकार में विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है। यहाँ तो यह कह रहे है कि मूर्त द्रव्यों के सभी गुण मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के सभी गुण अमूर्त होते हैं और जो इन्द्रियों के माध्यम से जाने जाते हैं, वे मूर्त है और जो इन्द्रियों से नहीं जाने जाते, वे अमूर्त हैं। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७ २ वही, पृष्ठ-१८ ३ वही, पृष्ठ-२०

प्रवचनसार गाथा १३२

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत समागत द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार में अबतक छह द्रव्यों को जीव-अजीव, लोक-अलोक, सक्रिय-निष्क्रिय और मूर्त-अमूर्त द्रव्यों के रूप में प्रस्तुत करने के उपरान्त अब आगामी तीन गाथाओं में सभी द्रव्यों के उन गुणों को बताते हैं, जिनसे वे पहिचाने जाते हैं। सबसे पहले १३२वीं गाथा में मूर्तपुद्गलद्रव्य के गुणों को बताते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियत्तस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥१३२॥

(हरिगीत)

सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें।
स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं॥१३२॥

सूक्ष्म पुद्गलों से पृथ्वीपर्यन्त स्थूल पुद्गलों में वर्ण, रस, गध और स्पर्श गुण होते हैं और विविध प्रकार के शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इन्द्रियो के विषय होने से स्पर्श, रस, गध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं। इन्द्रियग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही वे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य किये जाते हों या न किये जाते हों; तथापि वे एकद्रव्यात्मक सूक्ष्म परमाणु से लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूलपर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तक के समस्त पुद्गलो के अविशेषतया विशेष गुणो के रूप में होते हैं और उनके मूर्त होने के कारण ही, पुद्गलो के अतिरिक्त शेष द्रव्यों के न होने के कारण वे पुद्गल को ही बतलाते हैं।

ऐसी आशका नहीं करना चाहिए कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से

गुण होगा; क्योंकि शब्द विचित्रता (विविधता) के द्वारा विश्वरूप (अनेकानेक प्रकार) पना दरशाता होने पर भी उसे अनेकद्रव्यात्मक पर्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न – यदि शब्द को पर्याय न मानकर गुण मानें तो क्या बाधा है ?

उत्तर – पहली बात तो यह है कि शब्द को अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं माना जा सकता; क्योंकि गुण-गुणी के अभिन्नप्रदेशत्व होने से एक ज्ञान से ज्ञात होने योग्य होने से अमूर्त द्रव्य भी कर्णेन्द्रिय के विषय हो जावेंगे।

दूसरी बात यह है कि पर्याय के लक्षण द्वारा गुण का लक्षण उत्थापित होने से शब्द मूर्त द्रव्य का भी गुण नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्क (अनित्य) पना ही है और गुण का लक्षण नित्यपना है, इसलिए शब्दों में अनित्यता से नित्यता के उत्थापित होने से शब्द गुण नहीं है। शब्दों मे जो नित्यपना देखने में आता है, वह नित्यपना शब्दों को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलों और उनके स्पर्शादि गुणों का ही है, शब्दपर्याय का नहीं। – इसप्रकार अति दृढतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

यदि कोई ऐसा तर्क उपस्थित करे कि शब्द यदि पुद्गल की पर्याय है तो वह पृथ्वीस्कध की तरह स्पर्शनादि इन्द्रियों का विषय होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार पृथ्वीरूप पुद्गल पर्याय सभी इन्द्रियों से जानने मे आती है; उसीप्रकार शब्दरूप पुद्गलपर्याय भी सभी इन्द्रियों से जानने मे आना चाहिए ?

यह तर्क ठीक नहीं है; क्योकि पुद्गल की पर्याय होने पर भी पानी घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है, पुद्गल की पर्याय होने पर भी अग्नि घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है और पुद्गल की पर्याय होने पर भी वायु, घ्राण, रसना व चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि पानी गध रहित है; इसलिए घ्राण से अग्राह्य है; अग्नि गध और रस रहित है; इसलिए घ्राण और रसना इन्द्रिय से अग्राह्य है और वायु गध, रस और वर्ण रहित है; इसलिए घ्राण, रसना और चक्षु इन्द्रिय से अग्राह्य है; क्योंकि

सभी पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले माने गये हैं; क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त हैं – ऐसे चन्दकान्त मणि को, अरणि को और जौ को पुद्गल उत्पन्न करते हैं; उन्हीं के द्वारा जिसकी गंध अव्यक्त है – ऐसे पानी, जिसकी गंध और रस अव्यक्त हैं – ऐसी अग्नि और जिसकी गध, रस व वर्ण अव्यक्त हैं – ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है।

तात्पर्य यह है कि स्पर्श, रस, गध और वर्णवाले चन्द्रकान्त मणि से पानी की, अरणि की लकडी से अग्नि की और जौ नामक अनाज के खाने से उदरवायु की उत्पत्ति देखी जाती है।

मूल बात यह है कि किसी भी पर्याय में किसी गुण के कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होनेवाला व्यक्तपना और अव्यक्तपना नित्य द्रव्यस्वभाव का व्याघात नहीं करता। तात्पर्य यह है कि अनित्य परिणाम होने के कारण होनेवाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभाव के साथ कहीं भी विरोध को प्राप्त नहीं होती।

इसलिए शब्द पुद्गल की पर्याय ही होना चाहिए।''

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही तर्क की कसौटी पर कहकर प्रस्तुत किया है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को ३१ छन्दो मे प्रस्तुत करते हैं, जिनमें १ मत्तगयन्द, १ सवैया, २ मनहरण, २ चौपाई, २ छप्पय, १ कवित्त और २३ दोहे हैं। उन सभी को यहाँ प्रस्तुत करना सभव नहीं है; वे सभी मूलत· पठनीय हैं।

उक्त ३१ छन्दों में उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका में समागत समस्त विषय-वस्तु को तो सतर्क और सोदाहरण प्रस्तुत किया ही है; साथ में ८ प्रकार के स्पर्श, ५ प्रकार के रस, ५ प्रकार के वर्ण और २ प्रकार की गध के भेद-प्रभेदों को भी प्रस्तुत कर दिया है।

मूल गाथा और आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में तो पुद्गल के सूक्ष्म और स्थूल – ये दो भेद ही बताये हैं; पर वृन्दावनदासजी

ने आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति को आधार बनाकर छह प्रकार के पुद्गल गिनाये हैं और उनका स्वरूप भी स्पष्ट किया है।

इसीप्रकार कविवर पण्डित देवीदासजी ने भी इस गाथा के भाव को १६ छन्दों में प्रस्तुत किया है; जिनमें ९ दोहे, ६ चौपाइयाँ और १ कवित्त शामिल है। उनमें टीकाओं में समागत सम्पूर्ण वस्तु को शामिल कर लिया है। स्थानाभाव से उन सभी को देना यहाँ संभव नहीं है; अतः मूलतः पठनीय है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वर्ण, रस, गंध और स्पर्श गुण सूक्ष्म से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के सभी पुद्गलों में होते हैं; जो विशिष्ट प्रकार का शब्द है, वह पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

शीत-उष्ण आदि स्पर्श, खट्टा-मीठा आदि रस, सुगंध-दुर्गन्ध, सफेद-लाल-पीला इत्यादि वर्ण इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय हैं।

एक परमाणु तथा कार्मणवर्गणा आदि जो सूक्ष्म स्कंध हैं, वे वर्तमान में इन्द्रियग्राह्य नहीं होने पर भी, उन परमाणु और सूक्ष्म स्कंधों में भी इन्द्रियों से ज्ञात होने की योग्यता है। वर्तमान में प्रगट योग्यता नहीं, किन्तु उनमें इन्द्रियों से ज्ञात होने की शक्तिरूप योग्यता पड़ी है।[1]

यदि उनमें इन्द्रियों से ज्ञात होने की ताकत नहीं होती तो स्थूलरूप धारण करने पर भी इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होने चाहिए, परन्तु स्थूल होने पर इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं, इसलिए उनमें सूक्ष्म अवस्था के समय भी इन्द्रियों से ज्ञात होने की ताकत विद्यमान है – ऐसा निश्चित होता है।[2]

शब्द गुण नहीं, किन्तु अनेक द्रव्यात्मक पुद्गलपर्याय है। शब्द इन्द्रियों से ज्ञात होता है; इसलिए गुण होगा – ऐसी शंका नहीं करना चाहिए।[3] कितने ही लोग शब्द को आकाश द्रव्य का गुण मानते हैं;

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२४ २ वही, पृष्ठ-२४ ३ वही, पृष्ठ-२५

परन्तु यह मान्यता मिथ्या है। कारण कि गुण और गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं है, एक ही प्रदेश है। गुण-गुणी के एक ही प्रदेश में होने के कारण, गुण जिस इन्द्रिय से ज्ञात होता है, उसी इन्द्रिय से गुणी भी ज्ञात होना चाहिए। शब्द तो कान से सुना जा सकता है अर्थात् इन्द्रिय से ज्ञात होता है; इसलिए शब्द को आकाश का गुण मानो तो आकाश जो कि गुणी हुआ, वह भी कान से सुना जाना चाहिए; परन्तु आकाश कान से नहीं सुना जा सकता तथा किसी भी इन्द्रिय से आकाश ज्ञात नहीं होता।[१]

इस बात की सिद्धि के लिए युक्ति इसप्रकार है –

१ जिसको स्पर्श, रस, गध, वर्ण चारों व्यक्त हैं – ऐसी चन्द्रकान्तमणिरूप पृथ्वी में से पानी झरता है कि जिस पानी में गंध अव्यक्त है।

२ अरणि के लकडी में से जो पुद्गल अग्नि होते हैं, कि जिस अग्नि में गध तथा रस अव्यक्त है।

३ जौ खाने से पेट में वायु होती है कि जिसमें गध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है।

इसलिए निश्चित होता है कि १ चन्द्रकान्तमणि में २ अरणि में और ३ जौ में रहे हुए चारों गुण १ पानी में, २ अग्नि में और ३ वायु में होना चाहिए।[२] इसलिए इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि जो पुद्गल की पर्यायें हैं, वे सब इन्द्रियों द्वारा व्यक्त नहीं होने पर भी उनको पुद्गल की पर्याय कहने में आपत्ति नहीं आती। शब्द भले ही कर्ण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हों और अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य न हो; तथापि शब्द की पर्याय में अन्दर स्पर्शादि गुण रहे हुए हैं – इसकारण शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं।[३]

इसप्रकार शब्द न अमूर्त द्रव्यों के गुण हैं और न मूर्त द्रव्यों के गुण हैं। शब्द तो पुद्गलों की अवस्था है।

प्रश्न – शब्द का इतना अधिक विवेचन करने में धर्म क्या आया ?

उत्तर – अनादिकाल से जीव भ्रम से मानता है कि आत्मा बोल

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२६

२ वही, पृष्ठ-२८-२९

३ वही, पृष्ठ-२९

सकता है और शब्द को परिणमित करा सकता है। इसप्रकार आत्मा अज्ञान से शब्दों का कर्ता होता है। सत्य ज्ञान करने पर पुद्गल की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है, अपितु ज्ञाता है – ऐसा निर्णय करने से शब्द के कर्तृत्व का अभिमान मिट जाता है और स्वयं ज्ञाता रहता है।

जीव भ्रमवश निन्दा-प्रशसा के शब्दों के कारण राग-द्वेष करता था। वह मानता था कि अमुक शब्द आत्मा को सुखकर्ता हैं और अमुक शब्द आत्मा को दुखकर्ता हैं; परन्तु कैसे भी शब्द हों, वे तो पुद्गल की पर्याय हैं, ज्ञेय हैं और आत्मा उनका ज्ञाता है – ज्ञेयतत्त्व का ऐसा सच्चा ज्ञान होने पर, एकत्वबुद्धि के राग-द्वेष का अभाव होकर अपने में शान्ति प्रगट होती है और वही धर्म है।

यह तो ज्ञेय अधिकार है। शब्द तो पुद्गल की अवस्था है और वह एक ज्ञेय है। उस अवस्था को करना या उससे सुख-दु ख मानना आत्मा का कर्तव्य नहीं है; परन्तु उसको ज्ञेयरूप से जान लेना ही आत्मा का कर्तव्य है और यही धर्म है।[१]''

मूल गाथा में तो मात्र इतना ही कहा है कि चाहे इन्द्रियों के माध्यम से पकड में आवे या नहीं आवे, सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी पुद्गलों में स्पर्श, रस, गध और वर्ण – ये चार गुण अवश्य पाये जाते हैं। ये गुण पुद्गल की पहिचान के चिह्न हैं, स्वरूप हैं, लक्षण हैं।

यद्यपि शब्द कर्णेन्द्रिय के विषय हैं, तथापि शब्द पुद्गल के गुण नहीं हैं; अपितु भाषावर्गणारूप अनेक पुद्गलों की मिली हुई समानजातीय द्रव्यपर्याय है।

कतिपय भारतीय दर्शनों में शब्द को आकाश का गुण माना गया है। अत: मतार्थ की दृष्टि से टीकाकारों ने सयुक्ति सिद्ध किया है कि शब्द किसी अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं है; क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय बनता है। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो गुणी आकाश को भी

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३०

कर्ण इन्द्रिय का विषय बनना चाहिए; क्योंकि गुण और गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं।

साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि शब्द अमूर्त आकाशादि द्रव्यों का गुण तो है ही नहीं; साथ ही वह मूर्त पुद्गल का भी गुण नहीं है, पर्याय है; क्योंकि शब्द अनित्य होते हैं। गुण अनित्य नहीं होते, नित्य ही होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शब्द अकेले कर्ण इन्द्रिय का विषय क्यों है, पाँचो इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं; उनसे कहते हैं कि स्पर्शादि गुण भी तो एक-एक इन्द्रियों के ही विषय हैं, सभी इन्द्रियों के नहीं; तो फिर शब्द ही क्यों सभी इन्द्रियों का विषय बने?

टीकाओं में उक्त बातों को अनेक युक्तियों और उदाहरणों से सिद्ध किया गया है; जिनमे चन्द्रकान्त मणि, अरणि एव जौ के उदाहरण मुख्य हैं।

स्पर्शादि गुण मूर्तद्रव्य पुद्गल के गुण हैं – यह बात तो निर्विवाद है; अत. इस पर तो विशेष कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है, किन्तु शब्दों के बारे में विवाद है, अनेक मत हैं, इसकारण उनकी चर्चा विस्तार से की गई है। •

वैराग्यवर्धक बारह भावनाएँ मुक्तिपथ का पाथेय तो हैं ही, लौकिक जीवन में भी अत्यन्त उपयोगी हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोगों से उत्पन्न उद्वेगों को शान्त करनेवाली ये बारह भावनाएँ व्यक्ति को विपत्तियों में धैर्य एव सम्पत्तियों में विनम्रता प्रदान करती हैं, विषय-कषायों से विरक्त एव धर्म में अनुरक्त रखती हैं, जीवन के मोह एव मृत्यु के भय को क्षीण करती हैं, बहुमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को आत्महित में सलग्न रह सार्थक कर लेने को निरन्तर प्रेरित करती हैं; जीवन के निर्माण में इनकी उपयोगिता असदिग्ध है। **– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२**

प्रवचनसार गाथा १३३-३४

विगत गाथा में मूर्तद्रव्य पुद्गल के गुणों की चर्चा करने के उपरान्त अब शेष अमूर्त द्रव्यों के गुणों की चर्चा करते हैं।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।।१३३।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादी गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।१३४।।

(हरिगीत)

आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन।
स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने।।१३३।।
उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का।
है अमूर्त द्रव्यो के गुणों का कथन यह संक्षेप में।।१३४।।

आकाश का अवगाह, धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व और अधर्मद्रव्य का गुण स्थानकारणता है।

कालद्रव्य का वर्तना और आत्मा का गुण उपयोग कहा गया है। इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण सक्षेप में जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एकसाथ सभी पदार्थों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाशद्रव्य का विशेष गुण है। एक ही साथ सभी गमनपरिणामी जीव-पुद्गलों के गमन का हेतुपना धर्मद्रव्य का विशेष गुण है।

एक ही साथ सभी स्थानपरिणामी जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है। काल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्यों के प्रतिसमय में परिणमन का हेतुपना कालद्रव्य का विशेष गुण है और चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है।

इसप्रकार अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग (चिह्न, साधन, लक्षण) प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि इन विशेष गुणों द्वारा अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है, सिद्ध होता है।

अब इसी बात को विशेष समझाते हैं –

वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों के साधारण अवगाह का सपादन अर्थात् हेतुपनेरूप लिंग आकाश को बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्यों के सवर्गत न होने से उनके यह सभव नहीं है।

इसीप्रकार एक ही काल में गतिपरिणत समस्त जीव और पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्मद्रव्य को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिए उनके यह सभव नहीं है; जीव समुद्घात को छोडकर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भागमात्र है; इसलिए उसको यह सभव नहीं है। लोक-अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को यह सभव नहीं है और विरुद्धकार्य का हेतु होने से अधर्मद्रव्य को यह सभव नहीं है।

इसीप्रकार एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुपना अधर्मद्रव्य को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके यह सभव नहीं है। जीव समुद्घात को छोडकर अन्यत्र काल के असख्यातवें भागमात्र है; इसलिए उसके यह सभव नहीं है। लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के यह सभव नहीं है और विरुद्धकार्य का हेतु होने से धर्मद्रव्य के यह सभव नहीं है।

इसीप्रकार काल के अतिरिक्त शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है; क्योंकि उन शेष समस्त द्रव्यों के समयविशिष्टवृत्ति कालान्तर से सधती होने से उनके वह समयवृत्ति हेतुपना संभवित नहीं है।

इसीप्रकार चैतन्यपरिणाम जीव को बतलाता है; क्योंकि वह चेतन होने से शेष द्रव्यों के संभव नहीं है।

इसप्रकार गुणविशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिए।"

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथाओं के भाव को अत्यन्त सरल शब्दों में सहजभाव से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

एकै काल सरव दरवनि को थान दान,
कारन विशेष गुन राजत अकास में।
धरम दरव को गमन हेत कारन है,
जीव पुद्गल के विचरन विलास में।।
अधरम दर्व को विशेष गुन थिति होत,
दोनों क्रियावंतनि के थित परकास में।
काल को सुभाव गुन वरतना हेतु कह्यौ,
आतमा को गुन उपयोग प्रतिभास में।।४५।।

आकाशद्रव्य में एककाल में समस्त द्रव्यों को स्थान देने का गुण शोभित हो रहा है, धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों के विचारण में निमित्तकारण है, गमन का हेतु है और अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्व नामक विशेष गुण जीव और पुद्गल – दोनों क्रियावान द्रव्यों के गमनपूर्वक ठहरने मे निमित्त है। कालद्रव्य का स्वभाव सभी द्रव्यों के परिवर्तन में निमित्त है और आत्मा का स्वभाव सबको जानने-देखने का है।

(दोहा)

ऐसे मूरति रहित के गुन संक्षेप भनंत।
वृन्दावन तामें सदा हैं गुन और अनंत।।४६।।
जो गुन जासु सुभाव है सो गुन ताही माहिं।
औरनि के गुन और में कबहूँ व्यापैं नाहिं।।४७।।
नभ को तो उपकार है पाँचों पर सुन मीत।
धर्माधर्मनि को लसै जिय पुद्गल सों रीत।।४८।।
काल सबनि पैं करतु है निज गुन तैं उपकार।
नव जीरन परिणमन को यातैं होत विचार।।४९।।

जीव लखै जुगपत सकल केवलदृष्टि पसार।
याही तैं सब वस्तु को होत ज्ञान अविकार ।।५०।।

इसप्रकार अमूर्तिक द्रव्यों के गुण सक्षेप में बताये। वृन्दावन कवि कहते हैं कि उन द्रव्यों में मात्र वे ही गुण नहीं हैं। वे गुण तो पहिचान के चिह्न विशेष हैं। उनके साथ और भी अनंत गुण उनमें हैं।

जो गुण जिस द्रव्य का स्वभाव है, वह गुण उस द्रव्य में ही पाया जाता है। एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्यों में कभी भी व्याप्त नहीं होते।

हे मित्र ! तुम सुनो आकाश का उपकार शेष पाँच द्रव्यों पर है और धर्म-अधर्म द्रव्यों का उपकार जीव और पुद्गलों पर है। कालद्रव्य सभी द्रव्यों पर उपकार करता है; वह जीर्ण से नवीनरूप परिणमन में निमित्त है।

यह जीव द्रव्य सभी द्रव्यों को केवलदर्शन दृष्टि से देखता है और इसी जीवद्रव्य द्वारा सभी द्रव्यों का अविकारी ज्ञान होता है।

पण्डित देवीदासजी ने इन गाथाओं के भाव को इसीप्रकार प्रस्तुत किया है। यह अत्यन्त सरल प्रकरण है; अत: विशेष पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। जिनकी रुचि है, वे ग्रन्थ से मूलत. पढ़ें।

प्रश्न – यहाँ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर उपकार करता है – यह बात कही गई है; पर हमने तो सुना है कि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्यों के उपकार की चर्चा करते हुए कहा है कि जीवन-मरण और सुख-दुख – ये पुद्गल द्रव्य के जीवों पर उपकार हैं। अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या जीवन के साथ मरण भी उपकार है और सुख के साथ दुख भी उपकार है ?

उत्तर – अरे भाई ! यहाँ उपकार का अर्थ भलाई नहीं है, मात्र निमित्त है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल जीवों के जीवन-मरण और सुख-दुख में निमित्त है। जीवों के जीवन-मरण और सुख-दुखरूप कार्य का उपादानकारण अर्थात् कारक आत्मा है और निमित्तकारण अर्थात् उपकारक कर्मोदयरूप पुद्गल हैं।

प्रश्न – क्या उपकारक कारक नहीं है ?

उत्तर – जिसप्रकार उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति नहीं है; उसीप्रकार उपकारक भी कारक नहीं है।

प्रश्न – संसार में तो कारक से भी महान उपकारक को माना जाता है?

उत्तर – यदि कोई राष्ट्रपति से भी महान उपराष्ट्रपति को मानना चाहे तो हम क्या कर सकते हैं ? इसीप्रकार यदि कोई स्वद्रव्यरूप उपादानकारण से भी महान परद्रव्यरूप निमित्तकारण को मानना चाहे तो हम क्या कर सकते हैं ? पर, हम यह क्यों भूल जाते हैं कि आचार्य जयसेन तो इसी गाथा की टीका में उपकारक को दुखकारक ही बता रहे हैं।

उनका उक्त कथन इसप्रकार है –

"यहाँ अर्थ यह है कि यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते है, तथापि वे दुख के ही कारण हैं – ऐसा जानकर अक्षय-अनत सुखादि के कारणभूत विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वभावी परमात्मद्रव्य का ही मन द्वारा ध्यान करना चाहिए, उसे ही वचनो से बोलना चाहिए और शरीर से उसके ही साधक अनुष्ठान करना चाहिए।"

पुद्गल के जीव के प्रति उपकारों में जिस सुख की चर्चा है, वह सुख इन्द्रियसुख होने से दुख ही है। जैसा कि इसी ग्रन्थ की ७६वीं गाथा मे भी कहा है कि –

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।७६।।

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है।।७६।।

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है; वह सुख परसबधयुक्त है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बध का कारण है और विषम है, इसप्रकार वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

इस पर भी यदि कोई दुख के कारण को ही सुख का कारण मानकर उसे महान मानना चाहता है तो हम क्या करें ?

अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति में तो किसी परद्रव्य का कोई उपकार है ही नहीं; उसकी प्राप्ति तो स्वद्रव्य द्वारा स्वद्रव्य के आश्रय से ही होती है; समस्त परद्रव्यों पर से उपयोग को हटाकर स्वद्रव्य में लाने से ही होती है; आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान और आत्मध्यान से ही होती है।

वस्तुत: बात यह है कि जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। अकर्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं होता है कि कोई तथाकथित ईश्वर जगत का कर्ता-धर्ता नहीं है; अपितु यह भी होता है कि निश्चय से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता नहीं है। अपने सुख-दुख का जिम्मेदार यह आत्मा स्वय ही है। उक्त महान सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहॉ जो उपकारो की चर्चा है; वह मात्र निमित्त के ज्ञान कराने के लिये है, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यों का कर्ता-हर्ता बताने के लिए नहीं।

अधिक क्या कहें, समझदारों को तो इतना ही पर्याप्त है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''ज्ञान का स्वभाव सामान्य और विशेष सब जानना। इतने अधिक विशेषों को जानने से राग उत्पन्न होगा – ऐसा मानकर अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को अस्वीकार करता है।

वस्तुत· ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। जीव में एकसाथ सबको जानने की ताकत है। विशेष का ज्ञान राग का कारण नहीं; परन्तु अपनी राग की योग्यता ही राग का कारण है।'

कोई प्रश्न करे कि ज्ञेयो के इतने अधिक भेद क्यों ? इतना अधिक जानने से ज्ञान उद्धत हो जाए तो, इतनी अधिक आफत क्यों ? अकेले आत्मा को जानकर बैठे रहें तो क्या बाधा है ?

उससे कहते हैं कि अनंत प्रकार के ज्ञेयों को जानने का तेरा स्वभाव है। यदि तू यह कहे कि मुझे भेद को नहीं जानना है; तो तू अपने ज्ञानस्वभाव को ही अस्वीकार करता है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३४

तेरा अनंत को जानने का अपरिमित स्वभाव है। अधिक जानने से ज्ञान उद्धत नहीं होता, अपितु प्रशम के लक्ष से मन को गभीर करके ज्ञेयों को जानने से वीतरागदशा प्रगट होती है।

समस्त ज्ञेयों की ओर जानने का झुकाव करता है, इसलिए राग नहीं होता; परन्तु राग की भूमिका है, इसलिए राग होता है।

केवली भगवान अनत पदार्थों को अनत भेद-प्रभेद सहित जानते हैं, उनको राग बिलकुल नहीं होता। छह द्रव्य तेरे ज्ञेय हैं, उतना जानने का तेरा ज्ञान है।

यदि तू छह द्रव्यों के ज्ञान से कम ज्ञान करेगा, तो तूने ज्ञानगुण को नहीं माना है और इसकारण जीव को भी तूने नहीं माना है।

तेरा स्वभाव परपदार्थ की पर्याय को बदलने का नहीं है तथा भविष्यकाल की पर्याय को वर्तमान में लाऊँ – ऐसा विकल्प करना भी तेरा स्वभाव नहीं है। तेरा स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है।

यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार है। जैसे ज्ञेय हैं, वैसे ही ज्ञेयों को जानना तेरा कर्तव्य है – यही धर्म और शान्ति का कारण है।[१]''

जो लोग पर को जानने को बध का कारण मानते है या बिना अपेक्षा बताये यह कहते हैं कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है, उन्हें स्वामीजी के अत्यन्त स्पष्ट उक्त कथनों पर गभीरता से विचार करना चाहिए। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२९

> आगम और अध्यात्मशैली में मूलभूत अन्तर यह है कि अध्यात्मशैली की विषयवस्तु आत्मा, आत्मा की विकारी-अविकारी पर्यायें और आत्मा से परवस्तुओं के सबधमात्र है। आगमशैली की विषयवस्तु छहों प्रकार के समस्त द्रव्य, उनकी पर्यायें और उनके परस्पर के सबध आदि स्थितियाँ हैं। इसी बात को सूत्ररूप में कहें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि आगम का प्रतिपाद्य सन्मात्र वस्तु है और अध्यात्म का प्रतिपाद्य चिन्मात्र वस्तु है।
>
> **– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१८०**

प्रवचनसार गाथा १३५

द्रव्यविशेषाधिकार मे अबतक द्रव्यों के जीव-अजीव, लोक-अलोक, सक्रिय-निष्क्रिय, मूर्त-अमूर्तरूप वर्गीकरणों की चर्चा हुई; अब इस गाथा से सप्रदेशी-अप्रदेशी अर्थात् अस्तिकाय और नास्तिकाय भेदों की चर्चा आरंभ करते हैं।

गाथा मूलत. इसप्रकार है –

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स॥१३५॥

(हरिगीत)

है बहुप्रदेशी जीव, पुद्गल गगन धर्माधर्म सब।
है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन॥१३५॥

जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म और आकाश अपने प्रदेशो की अपेक्षा से असंख्यात अर्थात् अनेक हैं, पर काल के प्रदेश नहीं है।

उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट करते है –

''जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये द्रव्य अनेक प्रदेशवाले होने से प्रदेशवान अर्थात् सप्रदेशी हैं और कालाणुद्रव्य एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं –

सकोचविस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असख्य प्रदेशो को नहीं छोडता, इसलिए प्रदेशवान है, सप्रदेशी है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्यापेक्षा प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होने से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशों से लेकर सख्यात, असख्यात और अनतप्रदेशोवाली पर्यायों की अपेक्षा अनिश्चित प्रदेशवाला होने से प्रदेशवान (सप्रदेशी) है।

सकल लोकव्यापी असख्यप्रदेशों के विस्ताररूप होने से धर्मद्रव्य प्रदेशवान (सप्रदेशी) है।

इसीप्रकार सकल लोकव्यापी असंख्यप्रदेशों से विस्ताररूप होने से अधर्मद्रव्य भी प्रदेशवान (सप्रदेशी) है और सर्वव्यापी अनन्त प्रदेशों के विस्ताररूप होने से आकाश प्रदेशवान है।

कालाणुद्रव्य तो प्रदेशमात्र होने से और पर्यायों का परस्पर संपर्क न होने से अप्रदेशी ही है।

इसप्रकार कालद्रव्य अप्रदेशी और शेष द्रव्य सप्रदेशी हैं।"

आचार्य जयसेन भी इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करने में आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका का अनुकरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी १ दोहा और १ मनहरण कवित्त – इसप्रकार २ छन्दों में टीकाओं में समागत वस्तु को प्रस्तुत कर देते हैं; जो इसप्रकार है–

(दोहा)

जीवरु पुद्गल काय नभ धरम अधरम तथेस।
हैं असंख परदेशजुत काल रहित परदेश॥५१॥

जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्यों के अनेक प्रदेश हैं; इसलिए वे अस्तिकाय हैं; किन्तु कालद्रव्य प्रदेशों से रहित है; इसलिए वह नास्तिकाय है।

(मनहरण)

एक जीव दर्व के असंख परदेश कहे,
संकोच विथार जथा दीपक पै ढपना।
पुग्गल प्रमान एक अप्रदेशी है तथापि,
मिलन शकति सों बढ़ावै वंश अपना॥
धर्माधर्म अखंड असंख परदेशी नभ,
सर्वगत अनंत प्रदेशी वृन्द जपना।
कालानूमें मिलन शकति को अभाव तातैं,
अप्रदेशी ऐसे जानैं मिटे ताप तपना॥५२॥

एक जीवद्रव्य के असंख्यप्रदेश कहे हैं। जिसप्रकार दीपक का प्रकाश अपने सकोचविस्तार स्वभाव के कारण यथालब्ध स्थान में रह जाता है; उसीप्रकार जीव भी अपने सकोचविस्तार स्वभाव के कारण प्राप्त शरीर में रह जाता है। यद्यपि पुद्गल अप्रदेशी है; तथापि मिलन शक्ति के कारण वह अपना वंश बढा लेता है, स्कधरूप में बदल जाता है।

धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी अखण्ड हैं और आकाश सर्वगत अनतप्रदेशी हैं। कालाणु में मिलने की शक्ति नहीं है; इसलिए अप्रदेशी ही है – ऐसा जानने से संसारताप में तपना मिट जाता है।

पण्डित देवीदासजी ने भी इस गाथा के भाव को १ कवित्त और १ दोहे में बडी सरलता से प्रस्तुत कर दिया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में कोई विशेष बात नहीं है, मात्र इतना ही कहा गया है कि एक जीव के लोकाकाशप्रमाण असंख्यप्रदेश हैं, धर्म और अधर्मद्रव्यों के भी असंख्य प्रदेश ही हैं; पर आकाश के अनन्त प्रदेश हैं – इसप्रकार ये चार द्रव्य तो सप्रदेशी अर्थात् अस्तिकाय ही हैं।

यद्यपि पुद्गल परमाणुद्रव्य एकप्रदेशी ही है, तथापि स्कध की अपेक्षा उपचार से वह संख्यात, असख्यात और अनत प्रदेशी भी कहा गया है; इसकारण सप्रदेशी है; परन्तु कालाणुद्रव्य एकप्रदेशी होने से अप्रदेशी ही है।

इसप्रकार जीवादि पॉच द्रव्य अस्तिकाय और कालाणु नास्तिकाय है।

इस गाथा के उपरान्त आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा प्राप्त होती है; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है। गाथा मूलत· इसप्रकार है –

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥११॥

(हरिगीत)

रे कालद्रव को छोड़कर अवशेष अस्तिकाय हैं।
अर बहुप्रदेशीपना ही है काय जिनवर ने कहा ॥११॥

कालद्रव्य को छोडकर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और बहुप्रदेशों के समूह को काय कहते हैं।

इस गाथा की टीका में आचार्य जयसेन मात्र इतना ही लिखते हैं कि पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय उपोदय है। उसमें भी पंचपरमेष्ठीरूप पर्याय उपादेय है; उसमें अरहंत और सिद्धदशा उपादेय है, उसमें भी सिद्धदशा उपादेय है।

अन्त में लिखते हैं कि वस्तुत: बात यह है कि रागादि सम्पूर्ण विकल्प समूहो के निषेध के समय सिद्ध जीव के समान अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है।

इस गाथा मे कोई ऐसी बात नहीं है कि जिसके न होने से ग्रन्थ की विषयवस्तु में कोई व्यवधान आता हो। जो बातें विगत गाथाओ मे कही जा चुकी हैं, उन्हीं को मात्र दुहरा दिया है।

हाॅ, यह बात विशेष है कि इसकी टीका में शुद्धात्मस्वरूप भगवान आत्मा को परम उपादेय बताया गया है। ●

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं; क्योकि अध्यात्म आगम का ही एक अग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है, परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हो – यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट लेने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों मे भेद-प्रभेदो का विस्तार वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयो में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है। **–परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ–१७८**

प्रवचनसार गाथा १३६

विगत गाथा में सप्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्यों की चर्चा की। अब इस गाथा में वे द्रव्य कहाँ-कहाँ रहते हैं अर्थात् कौन कहाँ रहता है – इसकी चर्चा करेंगे।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा॥१३६॥

(हरिगीत)

गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से।
है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं॥१३६॥

आकाश लोकालोक में और धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल लोकाकाश में रहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आकाश लोक और अलोक में है; क्योंकि वह छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य लोक में सर्वत्र हैं; क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है – ऐसे जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति लोक के बाहर नहीं होती और न लोक के एकप्रदेश में होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति लोक में सर्वत्र होती है।

काल भी लोक में है; क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा काल की समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं और वह काल लोक के एक प्रदेश में ही है; क्योंकि वह अप्रदेशी है।

जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में है; क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप ही है।

इसमें यह बात विशेष जानना चाहिए कि प्रदेशों का सकोचविस्तार होना जीव का धर्म है और बंध के हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गल के धर्म होने से जीव और पुद्गल का समस्त लोक में या उसके एकदेश में रहने का नियम नहीं है। काल, जीव और पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एकदेश में रहते हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजन से भरी हुई डिब्बी के न्यायानुसार समस्त लोक में ही हैं।''

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि अन्त में इसी बात को नयों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भाव यह है कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान यद्यपि निश्चय से लोकाकाशप्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में और केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत अपने भावों में रहते हैं; तथापि व्यवहार से सिद्धशिला में रहते हैं।

उसीप्रकार सभी पदार्थ यद्यपि निश्चय से अपने-अपने स्वरूप मे रहते हैं; तथापि व्यवहार से लोकाकाश में रहते हैं। जीव अनन्त हैं और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुणे हैं, फिर भी एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपको के प्रकाश के समान विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असख्यात प्रदेशी एक लोक में भी इन सभी का एकसाथ रहना विरोध को प्राप्त नहीं होता।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव १ मनहरण और १ दोहा – इसप्रकार २ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(मनहरण)

लोक औ अलोक में आकाश ही दरव और,
धर्माधर्म जहाँ लगु पूरित सो लोक है।
ताही विषै जीव पुद्गल की प्रतीत करो,
काल की असंख जुदी अनुहू को थोक है।।

समयादि परजाय जीव पुद्गल ही के,
परिनामनि सों परगटत सुतोक है।
काजर की रेनुकरि भरी कजरौटी जथा,
तथा वृन्द लोक में विराजै दर्व थोक है।।५३।।

आकाशद्रव्य लोक और अलोक में रहता है और धर्म-अधर्मद्रव्य जहाँ तक पाये जाते हैं; वह लोक है। उस लोक में जीव, पुद्गल रहते हैं – यह विश्वास करो। इसी लोक में असंख्य कालाणुओं का थोक रहता है। इस काल की समयादि पर्यायें जीव और पुद्गल के परिणमन से प्रगट होती हैं। जिसप्रकार काजल की धूल से भरी डिब्बी में काजल सर्वत्र व्याप्त रहता है; उसीप्रकार लोक में द्रव्यों का समूह रहता है।

(दोहा)

धर्माधर्म दरव दोऊ गति थिति के सहकार।
ये दोनों जहँ लगु सोई लोकसीम निरधार।।५४।।

जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में सहकारी धर्म-अधर्मद्रव्य जहाँ तक हैं; वही लोक की सीमा है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसीप्रकार प्रस्तुत कर देते हैं।

इस गाथा में मात्र यही बात कही गई है कि वैसे तो निश्चय से प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में रहता है; तथापि व्यवहार से आकाश लोकालोक में और शेष द्रव्य लोक में रहते हैं। ●

आगम का विरोधी अध्यात्मी नहीं हो सकता, अध्यात्म का विरोधी आगमी नहीं हो सकता। जो आगम का मर्म नहीं जानता, वह अध्यात्म का मर्म भी नहीं जान सकता और जो अध्यात्म का मर्म नहीं जानता, वह आगम का मर्म भी नहीं जान सकता। सम्यग्ज्ञानी आगमी भी है और अध्यात्मी भी तथा मिथ्याज्ञानी आगमी भी नहीं होता और अध्यात्मी भी नहीं होता।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१७७

प्रवचनसार गाथा १३७-३८

विगत अनेक गाथाओं से सप्रदेशी और अप्रदेशी की बात चल रही है। अब उसी बात को आगे बढ़ाते हुए इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि वह सप्रदेशीपना और अप्रदेशीपना किसप्रकार संभव है ?

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो।।१३७।।
समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।।१३८।।

(हरिगीत)

जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का।
बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से।।१३७।।
पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह।।१३८।।

जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यो के प्रदेश भी हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार आकाश के प्रदेश परमाणुरूप मीटर से नापे जाते हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसीप्रकार नापे जाते हैं। परमाणु अप्रदेशी है और उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा गया है।

काल तो अप्रदेशी है और प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु आकाशद्रव्य के प्रदेश को मदगति से उल्लघन कर रहा हो, तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“आचार्य कुन्दकुन्द १४०वीं गाथा में स्वय कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एक परमाणु से व्याप्त होना है और यहाँ इस गाथा में

'जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं; उसीप्रकार शेष द्रव्यों के भी प्रदेश हैं' – इसप्रकार प्रदेश के लक्षण की एक प्रकारता कही जा रही है।

जिसप्रकार एक परमाणु से व्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर आकाश अनन्त प्रदेशी है; उसीप्रकार एक परमाणु से व्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असख्यात अंश होने से वे सभी असंख्यातप्रदेशी हैं।

जिसप्रकार सुनिश्चित प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्मद्रव्य असंख्यात-प्रदेशी हैं; उसीप्रकार सकोचविस्तार के कारण अनिश्चित प्रमाणवाले जीव के भी, सूखे-गीले चमडे के समान निज अंशों का अल्प-बहुत्व नहीं होता; इसकारण असंख्यातप्रदेशीपना ही है।

अमूर्त पदार्थ के सकोचविस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि यह तो सभी स्वानुभव से जानते ही हैं कि जीव स्थूल और कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।

पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा एकप्रदेशमय होने से पहले कहे अनुसार अप्रदेशी ही है; तथापि दो (अनेक) प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत उसप्रकार के स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है; इसलिए पर्याय की अपेक्षा से अनेकप्रदेशीपना भी संभव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशीपने से लेकर संख्यात, असख्यात और अनतप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है, युक्तिसगत है।

प्रदेशमात्र होने से कालद्रव्य अप्रदेशी ही है और उसे पुद्गल के समान पर्याय से भी अनेक प्रदेशीपना नहीं है; क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना विस्ताररूप विस्तृत प्रदेशमात्र असख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर सपर्क न होने से एक-एक आकाश प्रदेश को व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है कि जब एक प्रदेशी परमाणु कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है।"

आचार्य जयसेन ने इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने के लिए कुछ विशेष नहीं लिखा है; वे अमृतचन्द्र की बात को ही दुहरा देते हैं।

इसीप्रकार कविवर वृन्दावनदासजी ने भी उक्त बातों को ही छन्दोबद्ध कर दिया है। यद्यपि उन्होंने इन गाथाओं के भाव को व्यक्त करने के लिए २ मनहरण और १० दोहे – इसप्रकार १२ छन्द लिखे हैं और बढी ही चतुराई से सभी बातों को स्पष्ट कर दिया है; फिर भी सभी छन्द देना संभव नहीं है। अत: वे सब मूलत: पठनीय हैं।

पण्डित देवीदासजी भी इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करने के लिए १ कवित्त, १ छप्पय और ४ दोहे – इसप्रकार ६ छन्दों का प्रयोग करते हैं, जो मूलत: पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''ज्ञेयों का जैसा स्वभाव है, वैसा जानना चाहिए। ज्ञेयों को जानने से इन्कार करनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से ही इन्कार करता है। इसलिए बाह्य से मदकषाय होने पर भी, अज्ञान के कारण संसार में रहता है।[१]

जब ज्ञेयों के स्वभाव की बात कान में पड़ती है, तब नकार न लाकर अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा लाना चाहिए।[२]

इसप्रकार अप्रदेशी और सप्रदेशी द्रव्य भी ज्ञेय हैं और उन ज्ञेयों का ज्यों का त्यों ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान का कारण है।[३]''

देखो, यहाँ स्वामीजी सभी स्व-पर ज्ञेयों को भलीभाँति जानने की प्रेरणा दे रहे हैं; साथ में यह भी कह रहे हैं कि ज्ञेयों को जानने से इन्कार करनेवाला ससार में भटकता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का संक्षिप्त सार यह है कि लोकाकाश के असंख्यप्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। उस कालाणु में स्निग्धता-रूक्षता नहीं होने से वे मिलते नहीं हैं; किन्तु रत्नराशि

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४९

२ वही, पृष्ठ-४९

३ वही, पृष्ठ-५१

की तरह पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। उसका कारण यह है कि कालाणु में वैसी ही योग्यता है।

जब पुद्गल परमाणु मंदगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, तब उस प्रदेश में रहा हुआ कालाणु उसको निमित्त होता है। यहाँ गति की बात नहीं है; किन्तु गति करने में जो समय लगा उससे काल की पर्याय निश्चित होती है और पर्याय से कालाणुद्रव्य निश्चित होता है। इसप्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गल के परमाणु को एक प्रदेश तक जाने में निमित्तरूप से वर्तता है। अधिक प्रदेशों तक जाने में एक कालाणु निमित्तरूप नहीं वर्तता, दूसरे प्रदेश में दूसरा और तीसरे प्रदेश में तीसरा कालाणु निमित्तरूप वर्तता है।

इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी एक ही प्रदेशी है, अनेक प्रदेशी नहीं।

दूसरी मुख्य बात यह है कि धर्म, अधर्म और लोकाकाश तो सदा स्थित हैं और असख्यप्रदेशों में फैले हुए हैं; पर जीवद्रव्य तो किसी निश्चित एक आकार में सदा नहीं रहता है, उसके आकार तो बदलते रहते हैं – ऐसी स्थिति में उसे असख्यप्रदेशी कैसे माना जा सकता है ?

ऐसा प्रश्न होने पर यहाँ सूखे और गीले चमडे का उदाहरण देकर समझाया है।

जिसप्रकार चमडा गीला होता है तो फैल जाता है और सूखने पर सिकुड़ जाता है, फिर भी दोनों ही स्थितियों में उसके प्रदेश तो समान ही रहते हैं, घटते-बढ़ते नहीं; उसीप्रकार छोटे-बड़े शरीरों में रहते समय आत्मा के प्रदेश घटते-बढ़ते नहीं, असख्यात ही रहते हैं।

साथ में यह भी कहा है कि यह बात अनुभव से सिद्ध है; क्योंकि हम सब स्वय देखते हैं कि बालक के छोटे से शरीर में रहनेवाला आत्मा जवानी आने पर फैल जाता है; क्योंकि संसार अवस्था में आत्मा के प्रदेशों में सकोचविस्तार होता ही रहता है। ●

प्रवचनसार गाथा १३९

विगत गाथा में कालद्रव्य का अप्रदेशीपना सिद्ध किया; अब इस गाथा में कालद्रव्य के द्रव्य और पर्यायों को स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।।१३९।।

(हरिगीत)

परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में।
उत्पन्नध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है।।१३९।।

जब परमाणु एक आकाश प्रदेश का मन्दगति से उल्लघन करता है, तब उसमें जो काल लगता है, वह समय है और उस समय से पूर्व एव बाद मे भी रहनेवाला जो नित्य पदार्थ है, वह कालद्रव्य है।

कालद्रव्य नित्य है और उसकी पर्याय समय उत्पन्नध्वसी है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्रदेशमात्र कालद्रव्य के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब पुद्गलपरमाणु मद से मद गति से उल्लघन करता है; तब उस प्रदेशमात्र उल्लघन के माप के बराबर जो कालपदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप समय है, वह उस कालद्रव्य की पर्याय है।

उस पर्याय के पहले और बाद की वृत्तिरूप से प्रवर्तमान होने से, जिसका नित्यत्व प्रगट है – ऐसा पदार्थ द्रव्य है।

इसप्रकार कालद्रव्य अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायरूप समय उत्पन्नध्वसी है।

वह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाशद्रव्य के प्रदेश का निरशत्व न बने। एक समय में परमाणु लोक के अन्ततक जाता

है और किसी समय के अंश नहीं होते; क्योंकि जिसप्रकार परमाणु के विशिष्ट अवगाहपरिणाम होता है; उसीप्रकार परमाणु के विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। इसे विशेष समझाते हैं –

जिसप्रकार विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिणाम के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कंध बनता है; तथापि वह स्कंध परमाणु के अनन्त अशों को सिद्ध नहीं करता; क्योंकि परमाणु निरंश है।

उसीप्रकार जिसप्रकार एक कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेश के उल्लंघन के माप के बराबर एक समय में परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है; तब उस परमाणु द्वारा उल्लघित होनेवाले असख्य कालाणु समय के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते; क्योंकि समय निरंश है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुसरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को २ मनहरण और १४ दोहे – इसप्रकार १६ छन्दों में स्पष्ट करते हैं; जो सभी मूलतः पठनीय हैं।

नमूने के तौर पर एक मनहरण छन्द प्रस्तुत है –

(मनहरण)

एक काल अनू तैं दुतीय काल अनू पर,
जात जबैं पुग्गलानु मंदगति करिकै।
तामें जो विलंब होत सोई काल दरव को,
समै नाम परजाय जानो भर्म हरिकै।
ताके पुव्व परे जो पदारथ हैं नित्तभूत,
सोई काल दरव है ध्रौव धर्म धरिकै।
समय परजाय उतपाद वयरूप कहे,
ऐसे सरधान करो शंका परिहरिकै।।६७।।

जब एक कालाणुद्रव्य से उसके नजदीक रहनेवाले दूसरे कालाणुद्रव्य

पर पुद्गलाणु मंदगति से जाता है; तब उसमें जो समय लगता है, वह ही कालद्रव्य की समय नामक पर्याय है। हे भाई ! भ्रम को दूर करके इस बात को जानो। उसके पहले और बाद में भी जो विद्यमान रहता है; उस ध्रौव्यता को धारण करनेवाले पदार्थ को कालद्रव्य जानना चाहिए। समय नाम की पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है। निशंक होकर इसप्रकार श्रद्धान करो।

यद्यपि पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को १ छन्द में प्रस्तुत कर देते हैं; तथापि उसमें कुछ ऐसा नहीं है कि जिससे उसका देना आवश्यक है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एक समय की पर्याय तो दूसरे समय में नष्ट हो जाती है, इसलिए वह तो अनित्य है; परन्तु उस अनित्य को कारणरूप शक्तिरूप नित्य पदार्थ होना चाहिए, और वह है काल पदार्थ, जिसके आधार से प्रतिसमय अवस्था दिखती है।

तथा अवस्था जितने क्षेत्र में आ जाती हो उतने क्षेत्र में सम्पूर्ण द्रव्य होना चाहिए; द्रव्य उससे प्रथक् अथवा कम-ज्यादा क्षेत्र में नहीं हो सकता।[१]

इसप्रकार कालद्रव्य उत्पन्न नहीं होता, न विनष्ट होता है; परन्तु उसकी अवस्था प्रतिसमय उत्पन्न और विनष्ट होती है। तथा जहाँ पर्याय है, वहाँ उतने में कालद्रव्य स्थित है।

यह 'समय' निरंश है अर्थात् समय के भाग नहीं पड सकते। यदि ऐसा नहीं हो तो आकाश के एक प्रदेश का निरंशपना सिद्ध नहीं हो सकता।

एक परमाणु शीघ्र गति से गमन करे तो एक समय में लोक के अन्त तक पहुँच जाता है; तथापि समय के अंश नहीं पडते। लोक के अन्त तक जाने में एक समय लगता है तो बीच में पहुँचे तब समय से कम समय

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-५९

लगता होगा – ऐसा नहीं है। वह तो परमाणु की शीघ्र गति को बतलाता है; परन्तु समय का भाग नहीं बताता।

जिसप्रकार एक परमाणु में विशिष्ट प्रकार की अवगाह शक्ति होती है; उसीप्रकार परमाणु में विशिष्ट प्रकार की गति परिणाम की शक्ति भी होती है।[१] शीघ्र गति से जाते हुए उस श्रेणी में रहे हुए असंख्य कालाणुओं का एक ही समय में अतिक्रमण करता है और मंदगति से दूसरे प्रदेश तक जाने में भी एक ही समय लगता है। समय के भाग (अश) नहीं पड़ते।

यहाँ शीघ्र गति सिद्ध नहीं करना है; परन्तु यह बताना है कि असंख्य को शीघ्र गति से उल्लघने पर भी और एक को मदगति से उल्लंघने पर भी समय के दो भाग नहीं होते; क्योंकि समय निरश है।

एक परमाणु गति करता है, तब उसमें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है और गतिपूर्वक स्थिति करने में अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है।

एक परमाणु के मदगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने में – उसके परिणमन में एक कालाणु निमित्त कहलाता है।

तथा अनंत परमाणुओं का स्थूल स्कध हो तब उसके अवगाहन में एक से अधिक आकाश प्रदेश निमित्त कहलाते हैं और जब वही स्कध सूक्ष्म परिणमन करके एक प्रदेश में रहता है, तब उसको एक प्रदेश ही निमित्त कहलाता है।

तथा ज्ञान में अनत ज्ञेय ज्ञात होते हैं, तब उसमें अनत निमित्त कहलाते हैं और एक ज्ञात हो तब उसमें एक निमित्त कहलाता है।

इसप्रकार उपादान में जिसप्रकार का कार्य होता है, वैसा आरोप निमित्त में किया जाता है। निमित्त उपादान में कुछ नहीं करता।[२]

इसप्रकार परमाणु की शीघ्रगति का, परमाणु की सूक्ष्म अवगाहन शक्ति का, ज्ञेयों को एकसाथ जानने का निर्णय कौन करता है?

क्या परमाणु को पता है कि मेरे साथ अन्य अनत परमाणु आकर

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-६० २ वही, पृष्ठ-६१

एक प्रदेश में समा गये हैं? और क्या ज्ञेयों को पता है कि हम सब एकसाथ ज्ञान में ज्ञात हो गये हैं?[१]

ज्ञानस्वभाव की सामर्थ्य है कि वह समस्त द्रव्यों के सूक्ष्म स्वभाव को जाने। ज्ञेयों को जानने में अरुचि बतानेवाला अपने ज्ञान का नकार (अस्वीकार) करता है। इसलिए ज्ञेयों का स्वभाव जानकर, अपने ज्ञान-स्वभाव की महिमा लाना चाहिए।[२]''

सबकुछ मिलाकर उक्त गाथा में यह कहा गया है कि अनादि-अनन्त नित्य कालाणु कालद्रव्य हैं और पुद्गल का परमाणु एक कालाणु द्रव्य से दूसरे कालाणु द्रव्य तक मन्द से मन्द गति से जावे और उसमें जो काल लगे, उसे कालाश समय कहते हैं, पर्याय कहते हैं।

कालद्रव्य अनुत्पन्न और अविनष्ट है और उसकी समय नामक पर्याय उत्पन्नध्वशी है।

इस गाथा और उसकी टीका में विशेष समझने की बात यह है कि जिसप्रकार एक आकाश प्रदेश में अनेक पुद्गलाणु एकसाथ रहते हैं, फिर भी वे निरश ही हैं; उसीप्रकार एक समय में चौदह राजू जानेवाले पुद्गलाणु भी निरंश हैं। वे क्षेत्र से निरश हैं और ये काल से निरश हैं। •

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-६१ २ वही, पृष्ठ-६२

जरा विचार तो करो! ये राग-द्वेषभाव हड्डी-खून-मास आदि से भी अधिक अपवित्र हैं, क्योंकि हड्डी-खून-मास उपस्थित रहते हैं, फिर भी पूर्ण पवित्रता, केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रकट हो जाते हैं, आत्मा अमल हो जाता है; किन्तु यदि रचमात्र भी राग रहे, चाहे वह मद से मदतर एव मदतम ही क्यों न हो, कितना भी शुभ क्यों न हो, तो केवलज्ञान व अनन्तसुख प्रगट नहीं हो सकता।

आत्मा पहिले वीतरागी होता है फिर सर्वज्ञ। सर्वज्ञ होने के लिए वीतरागी होना जरूरी है, वीतदेह नहीं, वीतहड्डी नहीं, वीतखून भी नहीं। इससे सिद्ध है कि रागभाव हड्डी और खून से भी अधिक अपवित्र है।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-६६

प्रवचनसार गाथा १४०

विगत गाथा में 'समय' को परिभाषित किया गया है और अब इस गाथा में प्रदेश की परिभाषा बताई जा रही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं॥१४०॥

(हरिगीत)

अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है।
अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब॥१४०॥

एक परमाणु जितने आकाश में रहता है, उतने आकाश को '**आकाश प्रदेश**' – इस नाम से कहा गया है और वह समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''एक परमाणु से व्याप्य आकाश का अश आकाशप्रदेश है और वह एक आकाशप्रदेश शेष पॉच द्रव्यों के प्रदेशों और परमसूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कंधों को अवकाश देने में समर्थ है।

आकाश एक अखण्ड द्रव्य है; फिर भी उसमें अंशकल्पना होती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा।

ऐसा होने पर भी यदि कोई ऐसा कहे कि आकाश के अश नहीं हैं तो आकाश में दो अंगुलियॉ उठाकर हम पूछते हैं कि इन दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है या अनेक ? यदि एक है – ऐसा कहो तो फिर प्रश्न होता है कि आकाश अभिन्न अशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है; इसलिए दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है या भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का क्षेत्र एक है।

यदि आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है; इसलिए दो अगुलियों का एक क्षेत्र है – ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अंगुलि का क्षेत्र है, वही अंश दूसरी अंगुली का भी क्षेत्र है; इसलिए दो में से एक अंश

का अभाव हो जायेगा। इसप्रकार एक से अधिक दो आदि अंशों का अभाव होने से आकाश भी परमाणु के समान प्रदेशमात्र सिद्ध होगा। अत: यह तो ठीक नहीं है। अब यदि यह कहा जाय कि आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है तो यह ठीक ही है; क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना सिद्ध हो जाती है।

यदि ऐसा कहा जाय कि दो अंगुलियों का क्षेत्र अनेक है, एक से अधिक है; तो प्रश्न होता है कि आकाशद्रव्य खण्ड-खण्डरूप, सविभाग अनेक द्रव्य है, इसलिए दो अगुलियों का क्षेत्र अनेक है या आकाश अविभाग एक द्रव्य होने पर दो अंगुलियों के क्षेत्र अनेक है।

आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से अगुलियों का क्षेत्र अनेक है – यदि ऐसा माना जाय तो आकाशद्रव्य अनंत हो जावेंगे। पर यह तो ठीक नहीं है; अत: आकाश अविभाग एक द्रव्य होने से दो अगुलियों का एक क्षेत्र है – ऐसा माना जाय तो यह ठीक ही है। इसप्रकार अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हो गई।''

आचार्य जयसेन शेष बातें तो आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; पर उदाहरण बदल देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र तो अगुलियों का उदाहरण देकर बात को समझाते हैं; पर आचार्य जयसेन दो मुनिराजों के उदाहरण के माध्यम से बात स्पष्ट करते हैं।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मनहरण, १ नाराच और ७ दोहे – इसप्रकार ९ छन्दों में स्पष्ट करते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कवित्त)

परमानू जह सु अविभागी तिन्हि करि रह्यौ व्यापि भर जास।
अैसें हैं प्रदेस तसु जामैं पंच अरथ परदेस निवास।।
पुग्गल खंध परिनये जे पुनि सहज रूप सूछमता पास।
सरव दरव तिन्हि कौं जागा के दीवे कौं समर्थ आकास।।९४।।

अनत अविभागी परमाणुओं से व्याप्त लोकालोक के भीतर असख्यात प्रदेश हैं और उस लोकाकाश में जीवादि पॉच प्रकार के पदार्थों के प्रदेशों

का निवास है। सूक्ष्म और स्थूल पौद्गलिक स्कन्ध सहजपने से एक ही क्षेत्र में एक साथ रहते हैं; इसप्रकार आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देने में समर्थ है।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

"जैसे हैं वैसे ज्ञेय को नहीं जाने, विपरीत प्रकार से जाने तो वस्तु स्वरूप बदल नहीं जाता; परन्तु अपने में भ्रान्ति उत्पन्न होती है और उससे दु खी होता है। ज्ञान का नकार करनेवाला जीव वनस्पतिकायवत् जड हो जाएगा।[1] ज्ञेयों को ज्यों का त्यों जाननेवाला ज्ञान यथार्थ कहलाता है। जानने योग्य पदार्थ ज्ञान में ज्ञात हुए बिना रहते ही नहीं; इसलिए आत्मा उनको अवश्य जान सकता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने से सुख-शान्ति होती है और वही ज्ञेयों को जानने का फल है।[2]

एक मकान दो कमरों वाला है। अब उसमें एक कमरे की जगह, वहीं दूसरी कमरे की जगह है; और भाग पाडे बिना एक ही मकान कहोगे तो मकान में दो कमरे सिद्ध नहीं होंगे; और एक कमरे का नाश मानने से मकान कमरे रहित मानना पडेगा – तो वैसा मकान का स्वरूप नहीं है। इसलिए एक कमरे का क्षेत्र, वहीं दूसरे कमरे का क्षेत्र है – ऐसा तुम्हारा कथन घटित नहीं होता। इसीप्रकार आकाश में एक अंगुली का क्षेत्र वही दूसरी अगुली का क्षेत्र मानोगे, तो अशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की तरह एक प्रदेशमात्र हुआ; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि पाँचों द्रव्यों को अवगाहन देनेवाला द्रव्य सबसे बड़ा ही होता है। इसलिए यदि वह एकप्रदेशी होवे तो सबको अवगाहन नहीं दे सकता। – इसकारण तुम्हारा तर्क सत्य नहीं है।[3]"

इसप्रकार इस गाथा में मूलरूप से यही कहा गया है कि अखण्ड आकाश में भी अशकल्पना हो सकती है, होती है। आकाश का सबसे छोटा अश प्रदेश कहलाता है। यद्यपि वह क्षेत्र से एक पुद्गल के परमाणु के बराबर होता है; तथापि उसमें अनन्त परमाणुओं का स्कध और जीवादि द्रव्य भी समा सकते हैं। इसप्रकार आकाशद्रव्य अखण्ड होकर भी अनतप्रदेशी है और अनतप्रदेशी होकर भी अखण्ड है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-६५ २ वही, पृष्ठ-६६ ३ वही, पृष्ठ-६७

प्रवचनसार गाथा १४१

विगत गाथाओं में समय और प्रदेश के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय को समझाते हैं।

ध्यान रहे तिर्यक्प्रचय में प्रदेशों की अपेक्षा है और ऊर्ध्वप्रचय में समयों की अपेक्षा है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स।।१४१।।

(हरिगीत)

एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं।
काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं।।१४१।।

द्रव्यों के एक, दो, बहुत, असख्य अथवा अनन्त प्रदेश हैं और कालद्रव्य के समय हैं।

उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''प्रदेशों का समूह तिर्यक्प्रचय है और समय विशिष्ट पर्यायों का समूह ऊर्ध्वप्रचय है।

आकाश द्रव्य अवस्थित (स्थिर) अनत प्रदेशी होने से, धर्म व अधर्म द्रव्य अवस्थित असख्यप्रदेशी होने से और जीव अनवस्थित (अस्थिर) असंख्य प्रदेशी होने से तिर्यक्प्रचय वाले द्रव्य हैं।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से पुद्गलद्रव्य अनेक प्रदेशी होनेरूप शक्ति से संपन्न एक प्रदेश वाला है; तथापि पर्यायदृष्टि से अनेक (सख्यात, असंख्यात और अनंत) प्रदेशवाला है, इसलिए उसके भी तिर्यक्प्रचय है। परन्तु कालद्रव्य के तिर्यक्प्रचय नहीं है; क्योंकि वह शक्ति और व्यक्ति (प्रगटता) दोनों से ही एक प्रदेशवाला ही है।

ऊर्ध्वप्रचय तो सभी द्रव्यों के अनिवार्यरूप से होता ही है; क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (पर्यायें) तीन (भूत, भविष्य और वर्तमान) कोटियों को स्पर्श करती है; इसलिए अंशों से युक्त है।

इतना विशेष है कि समयों का प्रचय (समूह) कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है और समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय शेष द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि कालद्रव्य की वृत्ति स्वतः समयभूत है और अन्य द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य) होने से समयविशिष्ट है।"

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते समय आचार्य अमृतचन्द्र का ही अनुकरण करते हैं; तथापि वे अपनी बात को सिद्ध भगवान का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। यह भी बताते हैं कि तिर्यक्प्रचय को तिर्यक्सामान्य, विस्तारसामान्य और अक्रमानेकान्त भी कहते हैं। इसीप्रकार ऊर्ध्वप्रचय को ऊर्ध्वसामान्य, आयतसामान्य और क्रमानेकान्त भी कहते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को २ मनहरण और ६ दोहे – इसप्रकार कुल ८ छन्दों में समझाते हैं; जिसमें उन्होंने गाथा और टीकाओं की समस्त विषयवस्तु को समाहित कर लिया है।

नमूने के तौर पर प्रस्तुत दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

जिनके बहुत प्रदेश हैं, तिर्यकप्रचई सोय।
सो पाँचों ही दरब में, व्यापत हैं भ्रम खोय॥९०॥
कालानू में मिलन की, शकति नाहिं तिस हेत।
तिर्यकपरचै के विषैं, गनती नाहिं करेत॥९१॥
समयनि के समुदाय को, ऊरधपरचै नाम।
सो यह सब दरवनिविषैं, व्यापत है अभिराम॥९२॥
काल दरव के निमित्त तैं, ऊरधपरचै होत।
ताही तैं सब दरव को, परनत होत उदोत॥९३॥
पंचनि के ऊरधप्रचय, काल दरव तैं जानु।
कालमाहिं ऊरधप्रचय, निजाधार परमानु॥९४॥

तीरक-परचै पाँच में, निजप्रदेश सरवंग।
निजाधीन धारै सदा, जथाजोग बहुरंग।।९५।।

जिन द्रव्यों के बहुत प्रदेश होते हैं, वे द्रव्य तिर्यक्प्रचयी होते हैं। काल को छोडकर शेष पाँचों द्रव्य निर्भ्रान्तरूप से तिर्यक्प्रचयी हैं।

कालाणु में मिलन की शक्ति नहीं है; इसलिए तिर्यक्प्रचय में कालाणु को शामिल नहीं किया गया है।

समयों के समुदाय का ऊर्ध्वप्रचय नाम है। यह ऊर्ध्वप्रचय सभी द्रव्यों में होता है।

ऊर्ध्वप्रचय कालद्रव्य के निमित्त से होता है, क्योंकि सब द्रव्यों के परिणमन मे एकमात्र वही निमित्त है।

कालद्रव्य को छोडकर शेष द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय कालद्रव्य के निमित्त होता है; पर कालद्रव्य में ऊर्ध्वप्रचय स्वय से ही होता है।

पाँच द्रव्यो में प्राप्त होनेवाला तिर्यक्प्रचय का आधार वे ही द्रव्य हैं। यथायोग्य अनेकप्रकार का तिर्यक्प्रचय सभी पाँच द्रव्यो में स्वय से ही होता है।

पण्डित देवीदासजी यहाँ एक नया प्रयोग करते हैं। एक ही छन्द में १४१, १४२ एव १४३ गाथा के भाव को समेट लेते हैं, जो इसप्रकार है –

(छप्पय)

कालानू जिहि रूप दरव इक है सु काल ही।
समय नाम परजाय विषैं जानौं सु हाल ही।।
उपजैं अरु विनसैं सु बहुरि थिर रूप बखानौं।
तीनि भाव तिन्हि की प्रवर्त्ति निश्चै करि जानौं।।
अस्तित्व यह सु इहि काल कौ काल सरवदा रहैगौ।
अपनौं सुभाव निज छोड़कर अवर सुभाव न गहैगौ।।९५।।

कालाणु ही कालद्रव्य है, समय कालाणु द्रव्य की पर्याय है। कालाणु द्रव्य समयरूप पर्याय के रूप मे उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। उस परमाणुद्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप प्रवृत्ति निश्चित ही

होती है, क्योंकि वह अस्तित्व सम्पन्न द्रव्य है। ऐसा कालद्रव्य सदाकाल रहनेवाला द्रव्य है और निजस्वभाव को छोड़कर वह दूसरे के स्वभाव को कभी भी ग्रहण नहीं करेगा।

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"प्रचय का अर्थ समूह होता है। तिर्यक्प्रचय क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशों का समूह है और ऊर्ध्वप्रचय काल अपेक्षित समय विशिष्ट पर्यायों का समूह है।[१] आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल अनेक प्रदेशों वाले होने से उनके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु काल को प्रदेशों का समूह नहीं है; क्योकि वह शक्ति अपेक्षा से एक प्रदेशी है और व्यक्ति अपेक्षा से भी एक प्रदेशी ही है। ऊर्ध्वप्रचय तो छहों द्रव्यों को होता ही है, क्योंकि द्रव्यो की परिणति/अवस्था भूत-वर्तमान और भविष्य – ऐसे तीनोंकाल मे रहती है। किसी काल में किसी द्रव्य की अवस्था न हो – ऐसा नहीं होता। इसलिए वे अशो सहित हैं।[२]"

इसप्रकार इस गाथा में तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि ऊर्ध्वप्रचय तो पर्यायों के समूहरूप होने से सभी द्रव्यो में होता है; पर तिर्यक्प्रचय प्रदेशों के समूहरूप होने से कालद्रव्य में नहीं है; क्योंकि वह एकप्रदेशी अर्थात् अप्रदेशी है। शेष पॉच द्रव्यो मे तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय दोनों ही हैं।

ऊर्ध्वप्रचय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त है, त्रिकाली ध्रुव है और तिर्यक्प्रचय की अपेक्षा पॉच द्रव्य अस्तिकायरूप हैं।

काल को छोडकर शेष पाँच द्रव्यों के ऊर्ध्वप्रचय अर्थात् परिणमन में निमित्त कालद्रव्य है और अपने-अपने उपादान तो सभी द्रव्य स्वय ही हैं। कालद्रव्य के परिणमन का उपादान भी कालद्रव्य है और निमित्त भी कालद्रव्य ही है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-७०
२ वही, पृष्ठ-७०

प्रवचनसार गाथा १४२-१४३

विगत गाथा में ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्प्रचय का स्वरूप स्पष्ट करके अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय नहीं है। कालद्रव्य भी ध्रुव है, अनादि-अनन्त अखण्ड पदार्थ है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ।।१४२।।
एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ।।१४३।।

(हरिगीत)

इक समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं।
तो काल द्रव्यस्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो ।।१४२।।
इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो अर्थ हैं।
वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है ।।१४३।।

यदि कालद्रव्य में एक समय में उत्पाद और नाश पाया जाता है तो वह काल भी स्वभाव से अवस्थित है। इसप्रकार कालद्रव्य के प्रत्येक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य होते हैं। इसी से कालाणु द्रव्य की सिद्धि होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"समय कालपदार्थ की वृत्ति का अश है, वृत्त्यंश है। उक्त वृत्त्यश (समय) में किसी के भी उत्पाद और विनाश अवश्य सभवित हैं; क्योंकि समयरूपी वृत्त्यश परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा उत्पन्न होता है; इसलिए कारणपूर्वक है।

तात्पर्य यह है कि परमाणु के द्वारा आकाश के एक प्रदेश का मदगति से उल्लघन करना कारण है और समयरूपी वृत्त्यश उस कारण का कार्य है। इसलिए उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होते रहना चाहिए।

यदि कोई कहे कि किसी पदार्थ के उत्पाद-नाश होने की क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर उक्त वृत्त्यश को ही उत्पाद-विनाश होते मान लो तो क्या आपत्ति है ?

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं कि – यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जावें तो फिर प्रश्न होता है कि उत्पाद-विनाश एकसाथ होते हैं या क्रमश: ?

एकसाथ तो घटित नहीं हो सकते; क्योंकि एक ही समय में एक के परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं होते।

यदि 'क्रमश: होते हैं' – यह कहा जाय तो क्रम नहीं बनता; क्योंकि वृत्त्यश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाग का अभाव है; इसलिए वृत्तिमान की खोज की जानी चाहिए और वृत्तिमान कालपदार्थ ही है।

उस काल पदार्थ को वस्तुत. एक वृत्त्यश में भी उत्पाद और विनाश होना अशक्य नहीं है; क्योंकि जिस वृत्तिमान के जिस वृत्त्यश में उस वृत्त्यश की अपेक्षा जो उत्पाद है, वही उत्पाद उसी वृत्तिमान के उसी वृत्त्यश में पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है।

यदि इसप्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी संभव है तो फिर कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है ?

पहले और बाद के वृत्त्यंशों की अपेक्षा युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी कालद्रव्य स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से अवस्थित ही है, ध्रुव ही है। इसप्रकार कालपदार्थ एक वृत्त्यश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला सिद्ध होता है।

जिसप्रकार काल पदार्थ के एक वृत्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं; उसीप्रकार कालद्रव्य के सभी वृत्यशों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पाये जाते हैं। यह बात युक्तिसगत है; क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। सामान्य और विशेष कालपदार्थ की सिद्धि से ही कालपदार्थ की सिद्धि होती है।''

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन अगुली, सुखी आत्मा और मोक्षपर्याय – इन तीन उदाहरणों के माध्यम से यह

बात सिद्ध करते हैं कि कालद्रव्य में एक समय में ही उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य विद्यमान हैं।

उदाहरण और सिद्धान्त इसप्रकार है –

जिसप्रकार अंगुली द्रव्य में वर्तमान टेढी पर्याय का उत्पाद, पूर्व की सीधी पर्याय का व्यय और दोनों की आधारभूत अंगुली द्रव्यरूप ध्रौव्य है।

अथवा अतीन्द्रिय सुखरूप से उत्पाद, पूर्व की पर्याय में प्राप्त दुख का व्यय और दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यरूप से ध्रौव्य है।

अथवा मोक्षपर्यायरूप से उत्पाद, मोक्षमार्गरूप पूर्वपर्याय से व्यय और उन दोनों के आधारभूत परमात्मद्रव्यरूप से ध्रौव्य है।

उसीप्रकार कालाणु द्रव्य में वर्तमान समयरूप पर्याय से उत्पाद, पूर्व पर्यायरूप से व्यय और दोनों के आधारभूत कालाणु द्रव्य से ध्रौव्य – इसप्रकार कालाणु द्रव्य सिद्ध हुआ। एकप्रदेशी कालाणु द्रव्य को स्वीकार किये बिना कालद्रव्य की सिद्धि नहीं होगी और उसके अभाव में कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं और उनकी टीकाओं के भाव को ४ दोहे, १ छप्पय, १ मनहरण और १ माधवी छन्द – इसप्रकार कुल ७ छन्दों में विस्तार से प्रस्तुत करते हैं; जो मूलत: पठनीय हैं।

कालाणु द्रव्य स्वीकार न करे और समय नामक पर्याय के ही उत्पत्ति-विनाश माने तो क्या आपत्ति ? तात्पर्य यह है अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव कालद्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है ? इसप्रकार कहकर कालद्रव्य की सत्ता से इन्कार करनेवाले लोगों को यद्यपि सयुक्ति समुचित उत्तर टीकाओं में दिया गया है, फिर भी वृन्दावनदासजी इस बात को अत्यन्त सरल भाषा में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(दोहा)

कालदरव को क्यों कहो, उपजनविनशनरूप।
समय परज ही कों कहो, वयउतपादसरूप ॥९७॥
ध्रौव दरव को छांडि के एकै समय मँझार।
उतपत ध्रुव वय सधत नहिं, कीजै कोट विचार ॥९८॥

उतपत अरु वय के विषैं, राजत विदित विरोध।
अंधकार परकाशवत, देखो निज घट शोध॥९९॥
तातैं कालानू दरव, ध्रौव गहोगे जब्ब।
निरावाध एकै समय, तीनों सधिहैं तब्ब॥१००॥

यदि कोई यह कहे कि आप कालद्रव्य को उत्पाद-व्ययरूप क्यों कहते हो; समय नामक पर्याय को ही उत्पाद-व्ययरूप कहो न ?

करोडों विचार करो, तब भी ध्रुव द्रव्य को छोडकर एक समय नामक पर्याय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव घटित नहीं होते हैं।

अन्धकार और प्रकाश में जिसप्रकार का सर्वविदित विरोध है; उसीप्रकार उत्पाद और व्यय में भी है। यह बात अपने हृदय में गभीरता से विचार करो। इसलिए जब ध्रुव कालाणु द्रव्य को ग्रहण करोगे, तब एक ही द्रव्य में एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – तीनों सिद्ध हो जावेंगे।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को विगत छन्द में समाहित कर ही चुके हैं।

स्वामीजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अब कालपदार्थ के ऊर्ध्वप्रचय के अन्वयरहित होने की बात का खण्डन करते हैं अर्थात् व्यवहार काल है; परन्तु निश्चय कालाणु नाम का सदृश रहनेवाला पदार्थ ही जगत में नहीं है – ऐसा माननेवाले की बात का खण्डन करते हैं।[१]

एक समय की अवस्था पहले नहीं थी और बाद मे हुई, तो वह अवस्था किसी द्रव्य के आधार से होनी चाहिए; वह बिना आधार के नही हो सकती। किसी के आधार बिना उत्पाद संभव नहीं है। इसलिए समय आदि व्यवहार काल है, तो उसका आधार कोई पदार्थ होना चाहिए – ऐसा सिद्ध होता है; और वह कालाणु है।

इसलिए काल औपचारिक नहीं, परन्तु निश्चय द्रव्य है।[२]

इसप्रकार समयरूपी सूक्ष्म परिणति को उत्पाद तथा विनाश एक ही

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-७३-७४ २ वही, पृष्ठ-७४

समय में होना अशक्य है; इसलिए उस अवस्था का धारक अवस्थायी द्रव्य होना चाहिए; और वह काल पदार्थ है।[१]

एक समय में नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था व्यय होती है और कालाणु ध्रुव रहता है। वर्तमान रोटी की अवस्था का उत्पाद होना, पूर्व की लोई की अवस्था का व्यय होना और आटा के परमाणुओं का ध्रुव रहना होता है; परन्तु परमाणु को ध्रुव स्वीकार किये बिना आटे की अवस्था के समय रोटी की अवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि दोनों विरोधी अवस्थायें हैं और एक सूक्ष्म अवस्था में थोडा आटा और थोडी रोटी – ऐसे दो भाग नहीं हो सकते। परमाणु को ध्रुव स्वीकार किया जावे तो दोनो विरोधी धर्म द्रव्य में सिद्ध होते हैं।[२]

इसप्रकार एक पर्याय में पूर्व पर्याय की अपेक्षा से व्ययरूप, वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पादरूप और सादृश्य रहने की अपेक्षा से ध्रुवरूप – इसप्रकार कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है – ऐसा निश्चित होता है।[३]

अब, जैसे एक पर्याय में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया; उसीप्रकार सर्व पर्यायों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है – ऐसा सिद्ध करते हैं।[४]

एक वृत्ति अश भलीभाँति निश्चित करने से उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अश निश्चित होते हैं। यही कालाणु पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि है।[५] जैसे एक समय में पूर्व पर्याय गई, वर्तमान पर्याय प्रगट हुई और ध्रुव कायम रहा, वैसे प्रत्येक समय में तीनों धर्म रहते हैं। पूर्व में भी ऐसा ही, वर्तमान में भी ऐसा ही और भविष्य में भी ऐसा ही – ऐसे तीनों काल की अवस्थाओं में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है – ऐसा निश्चित होता है।[६]''

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-७५
२ वही, पृष्ठ-७५
३ वही, पृष्ठ-७६
४ वही, पृष्ठ-७६
५ वही, पृष्ठ-७८
६ वही, पृष्ठ-७८

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अन्य द्रव्यों के समान एक प्रदेशी या अप्रदेशी कालाणु भी एक द्रव्य है। ऐसे कालाणु द्रव्य असंख्य हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु द्रव्य रत्नों की राशि के समान खचित हैं।

समय उक्त कालाणु द्रव्य की सबसे छोटी पर्याय है। वह समय आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश का अत्यन्त मदगति से गमन करनेवाले पुद्गल परमाणु की गति के आधार पर नापा जाता है।

वह समय अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव कालद्रव्य का सबसे छोटा अंश है, जो स्वयं निरंश है। यह अंश कल्पना ऊर्ध्वप्रचय संबंधी है।

प्रत्येक द्रव्य के समान कालद्रव्य भी प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है। पूर्व पर्याय के व्यय, उत्तर पर्याय के उत्पाद और द्रव्य का ध्रुवत्व – यह प्रत्येक द्रव्य की स्वरूपसपदा है, इसलिए यह सुनिश्चित ही है कि एक समय में होनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य में ही घटित होते हैं, एक पर्याय में नहीं।

अत: कालाणु द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार किये बिना एक समय में उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व का होना संभव नहीं है।

इसप्रकार वह कालद्रव्य निरन्वय नहीं है, अन्वय सहित ही है।

यह तो आपको विदित ही है कि ८०वीं गाथा की टीका में द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **अन्वय द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है और अन्वय का व्यतिरेक पर्याय है।**

उक्त परिभाषा के अनुसार भी कालाणु द्रव्य अन्वय सहित है, निरन्वय नहीं; क्योंकि द्रव्य की परिभाषा ही अन्वय है।

अन्त में यह कहा गया है कि जिसप्रकार कालाणुद्रव्य के एक अंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित होते हैं; उसीप्रकार कालाणु द्रव्य के प्रत्येक अंश में भी वे घटित होंगे ही।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि सभी द्रव्यों के समान सभी कालाणुद्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त हैं। ●

प्रवचनसार गाथा १४४

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि काल पदार्थ प्रत्येक वृत्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है; क्योंकि वह निरन्वय नहीं है, अन्वय से रहित नहीं है, अन्वय से सहित ही है; और अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि कालपदार्थ अप्रदेशी नहीं, एकप्रदेशी है; क्योंकि प्रदेश के बिना उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ।।१४४।।

(हरिगीत)

जिस अर्थ का इस लोक में ना एक भी परदेश हो।
वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो ।।१४४।।

जिस पदार्थ का परमार्थ से एक भी प्रदेश न हो, उस पदार्थ को शून्य जानो; क्योंकि वह अस्तित्व से अर्थान्तरभूत है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्यस्वरूपवृत्तिरूप ही अस्तित्व है। वह वृत्ति अर्थात् अस्तित्व कालद्रव्य मे प्रदेश के बिना ही होता है – ऐसा कहना सभव नहीं है, क्योंकि प्रदेश के अभाव में वृत्तिमान् का अभाव होता है। प्रदेश के बिना पदार्थ शून्य ही है; क्योंकि वह पदार्थ अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है, अन्य है।

इस पर यदि कोई कहे कि समयपर्यायरूप वृत्ति ही मानना चाहिए; वृत्तिमान कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ?

उससे कहते हैं कि मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) ही काल नहीं हो सकती; क्योंकि वृत्ति वृत्तिमान के बिना नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान के बिना ही वृत्ति हो सकती है तो हम पूछते हैं कि अकेली वृत्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि कोई यह कहे कि अनादि-अनत अनन्तर अनेक अशों के कारण एकात्मकता होती है; इसलिए पूर्व-पूर्व के अशों का नाश होता है, उत्तर-उत्तर के अंशों का उत्पाद होता है और एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है – इसप्रकार अकेली वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप हो सकती है।

उससे कहते हैं कि ऐसा सभव नहीं है; क्योंकि उस अकेली वृत्ति में तो जिस अंश में नाश है और जिस अश में उत्पाद है; वे दो अश एकसाथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिए उत्पाद और व्यय में ऐसा कैसे हो सकता है ?

नष्ट अश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होनेवाला अश अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से नाश और उत्पाद की एकता में रहनेवाला ध्रौव्य कैसे हो सकता है ? ऐसा होने पर त्रिलक्षणता नष्ट हो जाती है और बौद्धमत सम्मत क्षणभग उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है और क्षणध्वशी भाव उत्पन्न होते हैं; इसलिए तत्त्वविप्लव के भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान खोजना आवश्यक है, स्वीकार करना आवश्यक है।

वृत्तिमान द्रव्य सप्रदेशी ही होता है; क्योंकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक होना असिद्ध है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि यदि कालद्रव्य सप्रदेशी है तो फिर लोकाकाश के समान ही कालद्रव्य के भी एकद्रव्यत्व के हेतुभूत असख्य प्रदेश मान लेने में क्या आपत्ति है ?

इसका समाधान यह है कि ऐसा मानने पर पर्याय समय प्रसिद्ध नहीं होता, इसलिए कालद्रव्य के असख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा मन्दगति से आकाश के एक प्रदेश का उल्लघन करने के आधार पर कालद्रव्य की समय नामक पर्याय मानी जाती है।

द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश के बराबर असख्यप्रदेश-वाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लघित होने पर पर्याय समय की सिद्धि कैसे होगी ?

यदि कोई ऐसा कहे कि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो तो क्या आपत्ति है?

ऐसा मानने पर निम्नाकित दो आपत्तियाँ आती हैं –

(१) प्रथम तो द्रव्य के एकदेश की परिणति को सम्पूर्ण द्रव्य की परिणति मानने का प्रसग आता है और एकदेश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है। सम्पूर्ण कालपदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्यश है, वह समय है; परन्तु उसके एकदेश का वृत्यश समय नहीं है।

(२) दूसरे, तिर्यक् प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा मानने पर कालद्रव्य एक प्रदेश में वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश में वर्ते और फिर अन्य प्रदेश में वर्ते – इसप्रकार का प्रसग आता है, आपत्ति आती है। इसलिए तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपना न माननेवालों को पहले से ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चित करना चाहिए, मानना चाहिए।''

यद्यपि इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जयसेन तत्त्वप्रदीपिका का अनुकरण करते हैं; तथापि विगत गाथाओं के समान उदाहरण यहाँ भी बदल देते हैं।

टीका के अन्त में वे जो बात लिखते हैं; वह बात मात्र इस गाथा का उपसहार नहीं है, अपितु सम्पूर्ण द्रव्यविशेषाधिकार का उपसहार है। तात्पर्य यह है कि निम्नाकित कथन सूत्र तात्पर्य नहीं, शास्त्र तात्पर्य है –

''अनतकाल में जो जीव आत्मोपादान से सिद्धसुख को प्राप्त हुए हैं और भविष्यकाल में जो जीव सिद्धसुख को प्राप्त होंगे; वे सभी काललब्धि के वश से ही हुए हैं; तथापि निज परमात्मा ही उपादेय है – ऐसी रुचिरूप

वीतरागचारित्र का अविनाभावी जो निश्चयसम्यक्त्व है, उसकी ही मुख्यता है; काल की नहीं, जिसकारण वह हेय है। कहा भी है –

किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सिज्झहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥[1]

(हरिगीत)

मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥

अधिक कहने से क्या ? जो श्रेष्ठ पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और जो भविष्यकाल में सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।"

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी ३ मनहरण, १ गीता, १ पदावलिप्तकपोल, १ कवित्त और ११ दोहा – इसप्रकार कुल मिलकार १७ छन्दों में गाथा और उसकी टीकाओं का भाव विस्तार से प्रस्तुत करते हैं, जो मूलत. पठनीय है।

नमूने के तौर पर कुछ दोहे प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

जो प्रदेश तैं रहित है, सो तो भयो अवस्त।
ताके ध्रुव उतपाद वय, लोपित होत समस्त ॥१०४॥
तातैं काल दरव गहो, अनुप्रदेश परमान।
तब तामैं तीनों सधैं, निराबाध परधान ॥१०५॥
तातैं कालानू दरव, ध्रौव गहोगे जब्ब।
निराबाध एकै समय, तीनों सधिहैं तब्ब ॥१०८॥

जो प्रदेश से रहित है, वह तो अवस्तु है। उसके उत्पाद, व्यय और ध्रुव – सब लुप्त हो जाते हैं।

इसलिए कालद्रव्य को एकप्रदेशी स्वीकार करोगे; तब ही उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – तीनों बनेंगे।

जब कालाणुद्रव्य को ध्रुवरूप से ग्रहण करोगे तो एक समय में तीनों सध जाते हैं।

१ अष्टपाहुड मोक्षपाहुड, गाथा-८८

पण्डित देवीदासजी एक छन्द में इस गाथा के भाव को प्रस्तुत कर देते हैं, जो इसप्रकार है—

(छप्पय)

जिहि वस्तु कैं अनेक एक परदेस न लहिये।
जासु विषैं उतपाद वय सु ध्रुवता किम कहिये।।
उतपति वय धुव माहि दरव अस्तित्व सही है।
सो अस्तित्व विना प्रदेस नाहीं सु कही है।।
जातैं अप्रदेसी कें कहैं सून्य असत्ता जानियैं।
लखिकैं इम परदेसी सु इक काल दरव सो मानियै।।९६।।

जिस वस्तु के एक या अनेक प्रदेश नहीं हैं, उस वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता कैसे कही जा सकती है ? उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से तो वस्तु का अस्तित्व है और वह अस्तित्व प्रदेश के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अप्रदेशी मानने पर कालद्रव्य सत्ता शून्य हो जायेगा, उसकी असत्ता सिद्ध होगी। उक्त बात को अच्छी तरह समझकर कालद्रव्य को एक प्रदेशी मानना ही उपयुक्त है।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यदि यह माना जाए कि पदार्थ के अनेक प्रदेश अथवा एक प्रदेश भी परमार्थ से नहीं है अर्थात् उसके क्षेत्र नहीं है – तो उस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं रहता, वह शून्य हो जाता है।[१]

जहाँ अस्तित्व है, वहाँ प्रदेश होने ही चाहिए। काल में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की एकतारूप अस्तित्व है – यह पूर्व गाथा में सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए यह सभव नहीं है कि द्रव्य प्रदेशरहित हो।

तात्पर्य यह है कि काल का एक प्रदेश है – यह निश्चित हुआ।[२]

प्रश्न – अकेली समय अवस्थारूप परिणति को मानो, वृत्तिमान कालाणु पदार्थ को मानने की क्या आवश्यकता है?

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-८१ २ वही, पृष्ठ-८२

उत्तर – समयरूप अवस्था ही कालद्रव्य हो – ऐसा नहीं बन सकता; क्योंकि पर्याय पर्यायवान के बिना नहीं हो सकती। नई अवस्था का होना, पुरानी अवस्था का विनशना किसी के आधार बिना सभव नहीं है। इसलिए उत्पाद-विनाशरूप वृत्तियाँ, वृत्तिमान – कालाणु पदार्थ के आधार से ही सभव हैं, उसके बिना नहीं हो सकती। अत काल औपचारिक द्रव्य नहीं, किन्तु निश्चय द्रव्य है।[१]

काल प्रदेशी है, तो उससे एक द्रव्य का कारणभूत लोकाकाशतुल्य असख्य प्रदेश क्यों नहीं माने जाएँ? अर्थात् कालद्रव्य को धर्मास्तिकाय-वत् असख्यप्रदेशी एक द्रव्य क्यों नहीं मानना चाहिए।'

उक्त शका का समाधान इसप्रकार है – तुम्हारी यह बात सत्य नहीं है; क्योंकि यदि कालद्रव्य असख्यातप्रदेशी एक द्रव्य हो तो पर्यायसमय निश्चित नहीं होता। इसलिए काल को असंख्यप्रदेशी मानना योग्य नहीं है।

एक परमाणु एक प्रदेशमात्र कालाणु से नजदीक के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मदगति से जाए तब पर्यायसमय निश्चित होता है। यह काल के माप की बात है। यदि कालद्रव्य लोकाकाशतुल्य असख्य प्रदेशी होवे तो पर्यायसमय की सिद्धि नहीं होती।[२]

धर्मास्तिकाय द्रव्य लोकप्रमाण है और उसकी पर्याय भी लोकप्रमाण है। जबकि काल की पर्याय लोकप्रमाण कभी नहीं है। काल की पर्याय तो एक अश (प्रदेश) मे पूरी होती है, इसलिए उस पर्याय का धारक कालद्रव्य असख्यप्रदेशी लोकप्रमाण द्रव्य सिद्ध नहीं होता है, अपितु काल की पर्याय एक अश (प्रदेश) में है, इसलिए पर्यायवान कालद्रव्य भी एक अश (प्रदेश) में निश्चित होता है।[३]

इसप्रकार काल एक निश्चय द्रव्य है और वह एक प्रदेश मात्र है – यह निश्चित हुआ।[४]"

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-८२
२ वही, पृष्ठ-८५
३ वही, पृष्ठ-८६
४ वही, पृष्ठ-८७

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि कालद्रव्य एक प्रदेशी द्रव्य है, जिसे अप्रदेशी भी कहा जाता है। अनेक प्रदेशीपने के निषेध के लिए उसे अप्रदेशी कहा गया था; किन्तु कुछ लोगों ने उसे सचमुच ही अप्रदेशी मान लिया। यही कारण है कि यहाँ इस बात पर वजन दिया जा रहा है कि वह एक प्रदेशी है, प्रदेशों से पूर्णतः रहित नहीं। इसलिए वह प्रदेशवान द्रव्य है, अप्रदेशी नहीं। न तो वह धर्मद्रव्य के समान असंख्यप्रदेशी ही है और न एक प्रदेश रहित ही है।

यहाँ एक प्रश्न यह सभव है कि विगत गाथाओं में तो कालद्रव्य को अप्रदेशी नास्तिकाय पूरी शक्ति लगाकर सिद्ध करते आये हैं और अब उतने ही जोर से यह बात कही जा रही है कि वह अप्रदेशी नहीं है, सप्रदेशी ही है। इसका कारण क्या है ?

अरे भाई ! बात यह है कि कालद्रव्य मूलतः तो एकप्रदेशी ही है; न वह बहुप्रदेशी है और न प्रदेश रहित अप्रदेशी ही है।

यदि कालद्रव्य अप्रदेशी नहीं है तो फिर उसे अप्रदेशी क्यों कहा जाता है ?

बहुप्रदेशत्व के निषेध के लिए उसे अप्रदेशी कहा जाता है; किन्तु वह प्रदेशो से पूर्णत· रहित नहीं है, एक प्रदेश तो उसके भी होता ही है।

इसमें अधिक विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उक्त कथनों में परस्पर विरोध नहीं है, मात्र विवक्षाभेद है।

इसप्रकार यहाँ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में द्रव्यविशेषाधिकार समाप्त होता है। ●

ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेष भी हो सकते हैं, होते भी हैं, पर श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेषादि भावों से भिन्न ही होता है। ज्ञान आत्मा के स्वभाव एव स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों को भी जानता है, पर श्रद्धा मात्र स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित करती है, एकत्व स्थापित करती है। अत श्रद्धा का आत्मा मात्र स्वभावमय ही है। **– गागर में सागर, पृष्ठ-२४**

ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार

(गाथा १४५ से गाथा २०० तक)

प्रवचनसार गाथा १४५

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में द्रव्यसामान्याधिकार और द्रव्यविशेषाधिकार के समाप्त होने के बाद अब यहाँ ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार आरभ करते हैं।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार यहाँ समाप्त ही हो गया समझो; क्योंकि सामान्य ज्ञेय और विशेष ज्ञेय – दोनों प्रकार से ज्ञेयों की चर्चा हो चुकी है, किन्तु आत्मकल्याण की दृष्टि से ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व – इन दोनों की पृथक्ता बताना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि आचार्यदेव उक्त दोनों महाधिकारों के बाद इस ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत ही ज्ञान और ज्ञेय में अन्तर बतानेवाले इस ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार को आरभ करते हैं।

यद्यपि मैं (आत्मा) ज्ञानतत्त्व हूँ; तथापि मैं (आत्मा) ज्ञेयतत्त्व भी हूँ। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानतत्त्व में भी आत्मा की चर्चा एव ज्ञेयतत्त्व में भी आत्मा की ही चर्चा – दोनों ही स्थानों पर एक आत्मा की ही चर्चा क्यों की जा रही है ? इन दोनों में अन्तर क्या है ?

अरे भाई ! ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में जाननेवाले आत्मा की चर्चा की गई है और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में जानने में आनेवाले आत्मा की चर्चा की जा रही है। वस्तुत: बात यह है कि 'यह आत्मा जाननेवाला है' – ऐसा हमें जानना है।

यह भगवान आत्मा ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जाननेवाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनाधिकार में जानने में आने वाले तत्त्व के रूप में उपस्थित है। चूँकि इस आत्मा का स्वभाव जानना है। जानने में जो आत्मा आ रहा है, वह आत्मा भी जानने के स्वभाववाला

तत्त्व है। अत: उसे जाननेवाले के रूप में ही जाना जावेगा; क्योंकि इसमें जानने का गुण विद्यमान है।

अब, यहाँ विशेष समझने की बात यह है कि आचार्यदेव ने जब ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार शुरू किया था तो उसके प्रारम्भ में **पर्यायमूढ़ ही परसमय है** – ऐसा कहा था।

उसके बाद की गाथाओं और उनकी टीका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर पर्याय के नाम पर असमानजातीयद्रव्यपर्याय की ही चर्चा है। इस बात की विस्तृत चर्चा पहले हो चुकी है।

इसके बाद यहाँ पुन· आचार्यदेव मनुष्य, देव, नारकी, आदि को व्यवहारजीव कहकर उसी असमानजातीयद्रव्यपर्याय की मुख्यता से बात कर रहे हैं, क्योंकि मनुष्यजीव में जीव और अनत पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड शामिल है।

इसप्रकार इस सम्पूर्ण प्रकरण मे देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न भगवान आत्मा की ही चर्चा है।

ध्यान रहे प्रमेयत्वगुण से सम्पन्न अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को परज्ञेयों से ही भिन्न जानना है, स्वज्ञेयरूप निजात्मा से नहीं।

जो तीन काल मे कम से कम चार प्राणों से जीवे, वह व्यवहारजीव है। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास – ये चार प्राण हैं।

इन्द्रियों में पॉचो इन्द्रियॉ और बल मे तीन बल शामिल होने से तथा आयु व श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणो से जीता है, सो जीव है से तात्पर्य यही है कि जो दस प्राणो से जीता है, वह जीव है।

ये दस प्राण देह के ही अग हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पॉचो इन्द्रियॉ तथा मन, वचन और काय – ये तीन बल तथा श्वासोच्छवास – ये सब देह के ही अग हैं। देह और आत्मा के सुनिश्चित काल के सयोग का नाम आयु होने से आयु भी देह में शामिल है।

इसप्रकार जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीयद्रव्य-पर्याय है, उसका नाम ही व्यवहारजीव है।

स्वपर को जानने की अनंतशक्ति जिसमें विद्यमान है, उसका नाम निश्चयजीव है तथा जो देह और आत्मा की मिली हुई असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है, उसका नाम व्यवहारजीव है।

दश प्राणों से भेदविज्ञान के माध्यम से आचार्यदेव मनुष्यादिपर्यायरूप असमानजातीयद्रव्यपर्याय और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के बीच में विभाजन रेखा खींचना चाहते हैं।

इसप्रकार यह ज्ञानज्ञेयविभागाधिकार भगवान आत्मा को मनुष्यादिपर्यायरूप व्यवहारजीव से विभक्त करनेवाला अधिकार है।

अब सर्वप्रथम आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ।।१४५।।

(हरिगीत)

सप्रदेशपदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये।
जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है।।१४५।।

सप्रदेश पदार्थों से निष्ठित सम्पूर्ण लोक नित्य है। उसे जो जानता है, वह जीव है; जो कि ससार अवस्था में कम से कम चार प्राणों से संयुक्त होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्रदेशी छह द्रव्यों के समुदायरूप इस लोक में जाननेवाले द्रव्य एक मात्र जीव हैं और शेष द्रव्य अजीव हैं।

जीव द्रव्य ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है, शेष द्रव्य मात्र ज्ञेय ही हैं। जाननेवाला जीव ससार अवस्था में कम से कम चार प्राणों से जीता है, जीवित रहता है।

उक्त गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"आकाश से लेकर काल तक सभी पदार्थ सप्रदेशी हैं और सभी के समुदायरूप लोक के भीतर होने पर भी स्व-पर को जानने की अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा एकमात्र जीव ही जानते हैं; अन्य कोई द्रव्य जानते नहीं हैं। इसप्रकार जीवों को छोड़कर शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं।

जीवद्रव्य ज्ञेय भी हैं और ज्ञान भी हैं। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

स्वभाव से ही प्रगट अनत ज्ञानशक्ति जिनका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना जिसका लक्षण है – ऐसे जीवों के वस्तु का सहज स्वभाव होने से सर्वदा अविनाशी जीवत्व होने पर भी; ससारावस्था में अनादि प्रकटरूप से वर्तमान पुद्गल के संश्लेष द्वारा स्वय दूषित होने से चार प्राणों का सयोग होने से व्यवहारजीवत्व है और वह विभक्त करने योग्य है।"

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका का ही अनुकरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम मे इस गाथा के भाव को दो छन्दों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

सहित प्रदेश सर्व दर्व जामें पूरि रहे,
ऐसो जो आकाश सो तो अनादि अनंत है।
नित्त नूतन निराबाध अकृत अमिट,
अनरच्छित सुभाव सिद्ध सर्व गतिवंत है।।
तिस षटदर्व जुत लोक को जो जानत है,
सोई जीव दर्व जानो चेतनामहंत है।
वही चार प्रानजुत जगत में राजै वृन्द,
अनादि संबंध पुद्गल को धरंत है।।२।।

अनादि-अनत आकाश द्रव्य में अपने-अपने प्रदेशों सहित सभी द्रव्य समा रहे हैं। वे सभी द्रव्य नित्य होकर भी नवीन है; निराबाध

हैं, अकृत हैं, अमिट हैं, अनरक्षित हैं, स्वभाव से सिद्ध हैं और परिणमन-शील हैं। इसप्रकार षट्द्रव्यों के समूहरूप लोक को जो जानता है, वह चेतना से युक्त जीवद्रव्य है। वह जीवद्रव्य अनादि से ही पुद्गल से संबंधित होने से चार प्राणों से संयुक्त होकर शोभायमान हो रहा है।

(दोहा)

पंच दरव सब ज्ञेय हैं, ज्ञाता आतमराम।
सो अनादि चहु प्रान जुत, जग में कियो मुकाम ॥३॥

जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य तो ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञाता है। ऐसा यह ज्ञाता जीव अनादि से ही चार प्राणों से युक्त होकर संसार में भटक रहा है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

(कवित्त)

लै नभ दरव काल ताईं सब नहीं निज प्रदेशनि सौं दूर।
तीनि लोक महि आदि अंत विनु भरे सघन करिकैं भरिपूर ॥
जो तिन्हि षट पदारथनि कौ है ग्याइक जीव सहित निज नूर।
चारि प्रान इंद्री बल आयु स्वासु आप तसु रहै हजूर ॥९७॥

अनन्तप्रदेशी आकाश से लेकर एकप्रदेशी काल तक सभी पदार्थ अपने प्रदेशों में रहते हैं, कभी भी उनसे दूर नहीं होते। तीन लोक में अनादि-अनत स्वभाववाले सभी पदार्थ सघनरूप से भरे हुए हैं। उन षट् प्रकार के सभी पदार्थों को जाननेवाला यह ज्ञायक जीव पदार्थ अपने नूर से परिपूर्ण है और संसार में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणों के कारण हाजिर हजूर है, सदा ही उपस्थित रहनेवाला भगवान आत्मा है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अपनी अचिंत्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा द्वारा जीव ही जानता है। – इसमें महासिद्धान्त है। स्वयं द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है और परपदार्थ परद्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप हैं – जीव

ऐसा जानता है। जगत में रुपयादि पुद्गल हैं – उनको जानने की शक्ति जीव में है; परन्तु वे रुपये जीव के हैं – ऐसा जानने का जीव का स्वभाव नहीं है।

यहाँ जीव का जानने का स्वभाव कहा है। जीव निमित्त से, परपदार्थों की उपस्थिति से, मन से, इन्द्रियों से अथवा अपने राग से जानता है – ऐसा नहीं कहा है; परन्तु अपनी अचिंत्य महान ऋद्धि से, स्व-परप्रकाशक शक्ति से जानता है।[१]

इसप्रकार निश्चय जीवत्व का हेतु अनतज्ञान शक्ति को कहा गया है और व्यवहार जीवत्व का हेतु चार प्राणों से सयुक्तपना कहा है।[२]

इसप्रकार निश्चयजीवत्व और व्यवहारजीवत्व दोनों स्वज्ञेय हैं। उनका यथार्थज्ञान करना ज्ञान की निर्मलता का कारण है।[३]"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इस लोक में सभी द्रव्य सप्रदेशी हैं और ज्ञेय है, किन्तु जीवद्रव्य ज्ञेय के साथ ज्ञान भी हैं; जानने मे आने के साथ जानते भी हैं।

यद्यपि सभी जीव निश्चय से ज्ञानस्वभावी ही हैं, तथापि ससार दशा में व्यवहार से अनादि से शरीरादि अर्थात् कम से कम चार प्राणों के सयोग में भी है। अत शरीरादि से भगवान आत्मा जुदा है – यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-९०-९१
२ वही, पृष्ठ-९२ ३ वही, पृष्ठ-९३

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है, क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर ससारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि सयोग अस्थाई न होकर स्थायी होते तो फिर मोक्ष कैसे होता? अत सयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है।

– बारह भावना . एक अनुशीलन, पृष्ठ-२८

प्रवचनसार गाथा १४६-१४७

विगत गाथा में कहा गया है कि व्यवहार जीवत्व का हेतु चार प्राण हैं और निश्चय जीव उक्त चार प्राणोंरूप शरीर से भिन्न है।

अब इन गाथाओं में यह बता रहे हैं कि प्राण कितने हैं, कौन-कौन हैं और इन प्राणों से जीव जीता है, फिर भी प्राण पुद्गल से निष्पन्न हैं।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

इंदियपाणो य तथा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते॥१४६॥
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥१४७॥

(हरिगीत)

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के।
हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवे भव भ्रमें॥१४६॥
जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है।
इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्गलमयी॥१४७॥

इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – ये चार जीवों के प्राण हैं। यद्यपि उक्त चार प्राणों से जो जीता है, जियेगा और भूतकाल मे जीता था, वह जीव है; तथापि ये प्राण तो पुद्गलद्रव्यों से निष्पन्न है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँच इन्द्रिय प्राण हैं; काय, वचन और मन – ये तीन बल प्राण हैं, भवधारण का निमित्त आयु प्राण है और नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है – ऐसी वायु श्वासोच्छ्वास प्राण है।

अब व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना बताते हैं।

प्राणसामान्य से जीता है, जियेगा और पहले जीता था; वह जीव है। यद्यपि अनादि सन्तानरूप प्रवर्तमान होने से संसारदशा में त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है; तथापि वह प्राणसामान्य जीव का स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह पुद्‌गल द्रव्य से निष्पन्न है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि उनकी टीकाओं में उक्त दोनों गाथाओं के बीच में एक गाथा और आती है, जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

वह गाथा इसप्रकार है –

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलप्राणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस प्राणा।।१२।।

(हरिगीत)

पाँच इन्द्रिय प्राण मन-वच-काय त्रय बल प्राण हैं।
आयु श्वासोच्छ्‌वास जिनवर कहे ये दश प्राण हैं।।१२।।

पाँच इन्द्रिय प्राण; मन, वचन और काय – ये तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्‌वास और आयुरूप प्राण से प्राण दश होते हैं।

उक्त गाथा की टीका में भी गाथा के शब्दों को दुहरा दिया है; पर अन्त मे यह लिख दिया है कि निश्चय से ये दश प्राण ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा से भिन्न हैं।

इस गाथा में जो प्राणों के भेद-प्रभेद गिनाये गये हैं; वह तत्त्वप्रदीपिका टीका में विगत गाथा की टीका में दे दिये गये हैं।

उक्त गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी ने तीन छन्दों में प्रस्तुत कर गाथा और टीका में समागत विषयवस्तु को मात्र दुहरा दिया है।

इसीप्रकार पण्डित देवीदासजी ने भी दो छन्दों में उक्त विषयवस्तु को बडी सरलता से प्रस्तुत कर दिया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण; ये चार जीवों के प्राण हैं।

संक्षेप से चार प्राण और विस्तार से पॉच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयु – ये दश जड़ प्राण हैं।

ससारदशा में अनादिकाल से अज्ञानी जीव शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड प्राणों को अपना मानकर, उनमें से सुख प्राप्त करना चाहता है। – इसकारण उसको ससार चालू रहता है; और विकार के फल में जडकर्म बॅधते हैं तथा जडकर्म के फल में नोकर्मरूपी दशप्राणों का जीव को एकक्षेत्रावगाह सबध होता है।

कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि संसार में दशप्राणों का सबंध व्यवहार से भी नहीं होता, तो यह उसकी भूल है; परन्तु व्यवहार से दश प्राण होने पर भी वे जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है।

इसप्रकार यहाँ दशप्राणों की दृष्टि छुडाने और चैतन्यप्राण की दृष्टि कराने के लिए व्यवहारप्राण का ज्ञान कराते हैं।[१]

इन्द्रियाँ सबल या निर्बल रहना आत्मा के अधिकार की बात नहीं है तथा सबल इन्द्रियॉ धर्म का या निर्बल इन्द्रियॉ अधर्म का कारण भी नहीं है।

आत्मा इन्द्रियों से रहित ज्ञाता-दृष्टा साक्षीस्वरूप है – वह एक ही धर्म का कारण है।[२]

इसप्रकार इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – ये चार प्राण जीव के व्यवहार से संसारदशा में होते हैं। इनके भेद १० होते हैं। अज्ञानी जीव अन्न को ग्यारहवॉ और धन को बारहवाँ प्राण कहता है – यह तो स्थूल अज्ञान है। अरे, भाई! ये प्राण नहीं हैं; ये तो प्रत्यक्ष भिन्न पुद्गल पदार्थ हैं।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-९४-९५ २ वही, पृष्ठ-९५

व्यवहार से ससारदशा में जीव को एकक्षेत्ररूप दश प्राण होते हैं; परन्तु वे जड़ हैं। उनसे आत्मा को लाभ या हानि नहीं है – इसप्रकार उनसे दृष्टि हटाकर, जो अनादि-अनन्त चैतन्यप्राण हैं, उनका लक्ष करना ही इस गाथा का सार है।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि प्राण चार प्रकार के होते हैं; जो कुल मिलाकर दश हो जाते हैं। इन्द्रिय प्राण के पॉच भेद, बल प्राण के तीन भेद और आयु व श्वासोच्छ्वास प्राण एक-एक – इसतरह दश प्राण हो गये। इन प्राणों से जो जीता है, वह व्यवहार जीव है; किन्तु ये प्राण तो पुद्गल के हैं, जड हैं; अत: ये भगवान आत्मा से भिन्न ही है।

यही कारण है कि ज्ञान-दर्शन चेतना को धारण करनेवाले जीवो को ही निश्चय जीव कहा जाता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-९८

यद्यपि बारह भावनाओ का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिए समानरूप से हितकारी है, तथापि इनका सम्यक् स्वरूप न जान पाने के कारण अज्ञानीजन लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक उठाया करते हैं। पहले शरीरादि सयोगो को भला जानकर उनसे अनन्त अनुराग करते थे, पर जब बारह भावनाओं में निरूपित शरीरादि सयोगों की अनित्यता, अशरणता, असारता, अशुचिता आदि दोषो को जान लेते हैं तो उनसे द्वेष करने लगते हैं। बारह भावनाओं के चिन्तन का सच्चा फल तो वीतरागता है, उसकी प्राप्ति उन्हें नहीं हो पाती है।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१८

प्रवचनसार गाथा १४८-१४९

विगत गाथाओं में यह कहा था कि ससारी जीवों के चार प्राण होते हैं, उनसे वह जीता है, जीता था और जियेगा; फिर भी ये प्राण तो पौद्गलिक ही हैं।

अब इन गाथाओं में प्राणों को पौद्गलिक सिद्ध करते हुए यह बताते हैं कि वे पौद्गलिक प्राण पौद्गलिक कर्मों के बध के हेतु हैं।

गाथाये मूलत· इसप्रकार है –

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं॥१४८॥
पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादि कम्मेहिं॥१४९॥

(हरिगीत)

मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे।
अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे॥१४८॥
मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे।
पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे॥१४९॥

मोहादिक कर्मो से बधा हुआ होने से जीव प्राणो से सयुक्त होता हुआ कर्मफल को भोगता है और अन्य कर्मों से बधता है।

यदि जीव मोह और द्वेष के द्वारा स्व-पर जीव के प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं तो पूर्वकथित ज्ञानावरणादि कर्मों द्वारा बधते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''मोहादिक पौद्गलिक कर्मो से बँधा होने से जीव प्राणों से सयुक्त होता है और प्राणों से सयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पौद्गलिक कर्मों से बँधता है; इसलिए पौद्गलिक कर्म के कार्य व कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।

अब यह बताते हैं कि प्राण पौद्गलिक कर्म के कारण कैसे हैं ?

प्राणों से कर्मफल भोगता हुआ जीव मोह व द्वेष को प्राप्त होता है और मोह व द्वेष से स्वजीव व परजीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है।

परप्राणों को बाधा पहुँचाये, चाहे न पहुँचाये; उपरक्तपने से अपने भावप्राणों को बाधा पहुँचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मों को तो बाँधता ही है। इसप्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को प्राप्त होते हैं।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में वैसे तो तत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण करते हैं; किन्तु अन्त में उक्त तथ्य को निष्कर्ष के रूप में सोदाहरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"जिसप्रकार तपे हुए लोहे के गोले से दूसरों को मारने का इच्छुक पुरुष पहले तो स्वयं को ही जलाता है; दूसरे जलें या न जलें।

इसीप्रकार मोहादि परिणत अज्ञानी जीव पहले विकार रहित स्व-सवेदन ज्ञानस्वरूप अपने शुद्ध प्राणों का घात करता है; बाद में दूसरों के प्राणों का घात हो, चाहे न हो।"

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को १ मनहरण, १ द्रुमिल और ४ दोहा – इसप्रकार कुल मिलाकर छह छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। नमूने के तौर पर ४ दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

कारन के सादृश जगत, कारज होत प्रमान।
तातैं पुद्गल करम करि, पुद्गल बँधत निदान॥८॥
मोहादिक करि आपनो, करत अमलगुन घात।
ता पीछे परप्रान को, करत मूढ विनिपात॥१०॥
परप्राननि को घात तौ, होहु तथा मति होहु।
पै निज ज्ञान-प्रान तिन, निहचै घाते सोहु॥११॥
तब ज्ञानावरनादि तहँ, बँधैं करम दिढ़ आय।
प्रकृतिप्रदेशनुभागथिति, जथाजोग समुदाय॥१२॥

जगत में कार्य, कारण के समान ही होते हैं; इसलिए पुद्गल कर्म द्वारा पुद्गलकर्म बधते हैं। मूढ जीव पहले मोहादिक द्वारा अपने निर्मल

गुणों का घात करते हैं। बाद में पर प्राणों का घात करते हैं। पर प्राणों का घात हो अथवा न हो; फिर भी अपने ज्ञानप्राणों का घात तो निश्चितरूप से होता ही है। ऐसी स्थिति में ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के रूप में यथायोग्य बंधते ही हैं।

स्वामीजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जीव मोहादिभाव करता है, इसलिए मोहनीय आदि आठ पुद्गल कर्मों से बँधता है। यहाँ मोहनीय की मुख्यता से बात की है, ज्ञानावरणादि गौण हैं। जीव की अज्ञानदशा में कर्म निमित्त हैं। उन कर्मों के फल में पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वास और आयु प्राण की प्राप्ति होती है।[१]

इसप्रकार चारों प्राण पुद्गल कर्म के कारण प्राप्त होते हैं; आत्मा के स्वभाव के कारण नहीं।[२] इसप्रकार प्राण प्राप्ति का कारण पुद्गल कर्म है और नवीन कर्मबन्धन का कारण प्राण हैं, इसलिए प्राण पौद्गलिक हैं – ऐसा सिद्ध होता है।[३] वस्तुत. अपने चैतन्यप्राण की हिंसा अर्थात् भावहिंसा नवीन कर्म के बंध का कारण है। द्रव्यप्राण नवीन कर्म के बध का वास्तविक कारण नहीं है; परन्तु जीव द्रव्यप्राण से लाभ-हानि मानकर राग-द्वेष करता है और नवीन कर्म बन्धन करता है – इसका उपचार करके द्रव्यप्राण को नवीन कर्म बध का कारण कहा गया है। इसप्रकार प्राण नवीन कर्म बध के कारण हैं।[४]"

इसप्रकार इन गाथाओं में और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और कर्मफल को भोगता हुआ पुनः कर्मों से बधता है।

इसप्रकार प्राण पुराने पौद्गलिक कर्म के उदय के कार्य हैं और नये पुद्गल कर्म के बंध के कारण हैं। इसप्रकार प्राण पूर्णतः पौद्गलिक ही हैं। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१०२
२ वही, पृष्ठ-१०३
३ वही, पृष्ठ-१०४
४ वही, पृष्ठ-१०८

प्रवचनसार गाथा १५०-१५१

'प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारण भी हैं और कार्य भी हैं।' विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि पौद्गलिक प्राणों की सतति की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अतरंग हेतु क्या है ? गाथायें मूलत· इसप्रकार हैं –

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु ॥१५०॥
जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

(हरिगीत)

ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।
कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे ॥१५०॥
उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे।
इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करे ॥१५१॥

जबतक यह कर्ममल से मलिन आत्मा देहप्रधान विषयों में ममत्व नहीं छोडता, तबतक बारम्बार अन्य-अन्य प्राणों को धारण करता है।

जो आत्मा इन्द्रियादिक का विजयी होकर उपयोगमय आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों के द्वारा रजित नहीं होता; उसके प्राणों का सबध कैसे हो सकता है ?

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओ के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''पौद्गलिक प्राणो की सतानरूप प्रवृत्ति का अतरग हेतु शरीरादि मे ममत्वरूप उपरक्तपना है और उस उपरक्तपने का मूल अनादि पौद्गलिक कर्म है। पौद्गलिक प्राणों की सतति की निवृत्ति का अतरग हेतु पौद्गलिक कर्म के उदय से होनेवाले उपरक्तपने का अभाव है और वह (उपरक्तपने का अभाव) अनेक वर्णों वाले आश्रयों (पात्रों-डाको) के अनुसार सारी

परिणति से व्यावृत्त हुए स्फटिक मणि की भाँति जो आत्मा अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमय अकेले आत्मा में सुनिश्चिलतया बसता है; उसके वह उपरक्तपने का अभाव होता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण उच्छेद करनेयोग्य हैं।"

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका के समान ही इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हैं। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए अन्त में लिखते हैं कि इससे यह निश्चित हुआ कि शरीरादि में ममता ही इन्द्रियादि प्राणों की उत्पत्ति का अतरग कारण है और कषाय और इन्द्रियों पर विजय ही इन्द्रियादि प्राणों के अभाव का कारण है।

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी २ मत्तगयन्द सवैया, १ माधवी और २ दोहे – इसप्रकार कुल मिलाकर ५ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें से २ दोहे और १ मत्तगयन्द इसप्रकार है –

(दोहा)

जावत ममता भाव है, देहादिक के माहिं।
तावत चार सुपान धरि, जगतमांहि भरमांहि॥१४॥
तातैं ममताभाव को, करो सरवथा त्याग।
निज समतारसरंग मे, वृन्दावन अनुराग॥१५॥

जबतक देहादिक में ममताभाव है, तबतक चार प्राणों को धारण कर जगत में परिभ्रमण होता है। इसलिए ममताभाव को सर्वथा त्याग करो और अपने समता रसरूपी रग मे निरन्तर अनुराग करो।

(मत्तगयन्द)

जो भवि इन्द्रिय आदि विजै करि, ध्यावत शुद्धपयोग अभंगा।
कर्मनि सों तजि राग रहै, निरलेप जथा जल कंज प्रसंगा॥
झांक-विहीन जथा फटिकप्रभ, त्यों उर जोत की वृन्द तरंगा।
क्यों मल प्रान बँधै वह तो, नित न्हात विशुद्ध सुभाविक गंगा॥१६॥

जो भव्यजीव इन्द्रियादि प्राणों पर विजय प्राप्त कर अखण्डरूप से शुद्धोपयोग को ध्याते हैं और सभी प्रकार कर्मों से राग तजकर जल

में कमल के समान निर्लेप रहते हैं। जिनकी हृदय ज्योति की तरंग डाक रहित स्फटिक मणि के समान निर्मल है; वह व्यक्ति तो विशुद्ध स्वभाव की गगा में निरन्तर नहाता है; वह प्राणरूपी मल से बधा कैसे रह सकता है ?

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को १ कवित्त और १ सवैया इकतीसा – इसप्रकार २ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें कवित्त इसप्रकार है –

(कवित्त)

चेतन यहु सु अनादि काल तैं कर्म मेल तिहि कर सु मलीन।
तावत काल प्रान ये फिरि फिरि और और पुनि धरै नवीन।।
संसारी सु भोग-विषयादिक तिन्हि के विर्षे सरीर प्रवीन।
जिनि सौं सदा ममत्व बुद्धि अति छोड़ै नहीं महा मति हीन।।१०२।।

यह चेतन अनादिकाल से कर्मरूपी मैल से मलीन हो रहा है और जबतक मलीन रहेगा, तबतक बारम्बार नवीन प्राणों को धारण करता रहेगा। यह ससारी जीव शरीरादिक विषयभोगों में प्रवीन है और यह मतिहीन ससारी जीव शरीर और विषय भोगों से ममत्वबुद्धि नहीं छोडता।

अगले छन्द में यह कहा है कि जब यह जीव शरीर में ममत्वबुद्धि और विषयभोगों मे सुखबुद्धि छोड़ देता है तो फिर नवीन शरीर धारण नहीं करता।

इन गाथाओ के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अज्ञानी जीव चैतन्य स्वभाव के भान बिना शरीर अथवा स्त्री-पुत्रादि के प्रति ममता करता है तथा देव-शास्त्र-गुरु से अथवा दया, दानादि के भाव से मुझे धर्म होगा – ऐसा मानकर उनके प्रति भी ममता करता है। जबतक यह जीव इस ममतारूप विकारी परिणमन का परित्याग नहीं करता, तबतक विकार के निमित्त से बारम्बार आठों कर्मों का बंधन होता ही रहता है और इसी कारण पुन -पुन द्रव्यप्राणों का सबंध भी होता है।"[1]

इस गाथा में उपयोगमात्र आत्मा को ध्याने योग्य कहा है। उपयोगमात्र के ऊपर खास वजन है। आत्मा पाँच इन्द्रियों तथा प्राणरूप तो है ही नहीं;

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-११०

अपितु सकल्प, विकल्प, दया, दान स्वरूप भी नहीं है। वह तो जानने-देखने रूप सहज स्वभाव वाला है। उपयोगमात्र आत्मा को ध्याने से कर्म, शरीर और प्राण जीव से नहीं चिपकते।[१]

इसप्रकार अत्यन्त विशुद्ध उपयोग की आत्मा में लीनता ही प्राणों की परंपरा की निवृत्ति का अंतरंग हेतु है। गाथा १५० में कहा है कि देहप्रधानदृष्टि प्राणों की परंपरा का कारण है। गाथा १५१ में कहा है कि ज्ञानस्वभावप्रधानदृष्टि ही प्राण के अभाव का कारण है अर्थात् वही ससार के नाश का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि जिसे आत्मा को अत्यंत भिन्नपने साधना हो अथवा सिद्धदशा प्रगट करनी हो, उसे व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत प्राणों का इस रीति से नाश करना चाहिए। पॉच इन्द्रिय शरीर, मन, वाणी सभी जड हैं, वे आत्मा के स्वरूप नहीं; आत्मा ज्ञानस्वभाव है, उसकी प्रतीति करके एकाग्रता करना पूर्णपद की प्राप्ति का उपाय है। तीन काल में परमार्थ का पंथ एक ये ही है और इसी उपाय से प्राण रहित होते हैं।[२]

यथार्थ ज्ञान बिना सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्व बिना चारित्र नहीं होता, चारित्र बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान बिना सिद्धदशा नहीं होती। इसलिए सर्वज्ञ भगवान ने जैसा जाना है और कहा है, वैसा जानो। प्राणों से भिन्न होने का यही एक उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।[३]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जबतक यह आत्मा शारीरिक विषयों में ममत्व करना नहीं छोडता, उन्हें अपना मानना और उनसे राग-द्वेष करना नहीं छोडता; तबतक कर्मबध होता है और कर्मोदय से बारम्बार अन्य-अन्य गतियों में शारीरिक प्राणों को धारण करता है और जो आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा को ही अपना जानता-मानता है, उसमें ही अपनापन स्थापित करता है, उसका ही ध्यान करता है, विषयों में रजित नहीं होता; उसके प्राणों का सयोग नहीं होता अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-११३ २ वही, पृष्ठ-११६ ३ वही, पृष्ठ-११७

प्रवचनसार गाथा १५२-१५३

विगत गाथाओं में यह बताया था कि इन्द्रियादि प्राणों रूप शरीरादि के संयोग का अन्तरग कारण इनके प्रति एकत्व-ममत्व का होना है और अब इन गाथाओं में व्यवहारजीवत्व से आत्मा की अत्यन्त विभक्तता (भिन्नता) बताने के लिए देव-मनुष्यादि गतिरूप पर्यायों का स्वरूप एव भेद बताते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।१५२।।
णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।।१५३।।

(हरिगीत)

अस्तित्व निश्चित अर्थ की अन्य अर्थ के संयोग से।
जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय।।१५२।।
तिर्यंच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के।
उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार कीं।।१५३।।

अस्तित्व से निश्चित अर्थ (द्रव्य) का अन्य अर्थ (द्रव्य) में उत्पन्न जो अर्थ (भाव) वह पर्याय है; जो कि संस्थानादि भेदों सहित होती है।

मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव – ये नामकर्म के उदयादिक के कारण होनेवाली जीवों की पर्यायें हैं; जो कि संस्थानों द्वारा अन्य-अन्यप्रकार की होती हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है–

''स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित दूसरे अर्थ में विशिष्टरूप से उत्पन्न होता हुआ जो अर्थ (भाव) है, वह अनेकद्रव्यात्मक पर्याय है।

जिसप्रकार एक पुद्गल की अन्य पुद्गल के साथ मिलकर अनेक-द्रव्यात्मक समानजातीय द्रव्यपर्याय देखी जाती है; उसीप्रकार जीव की पुद्गलों में संस्थानादि से विशिष्ट उत्पन्न होती हुई अनेकद्रव्यात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय भी अनुभव में अवश्य आती है।

ऐसी पर्याय का होना असंभव नहीं है, न्याययुक्त ही है; क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है – ऐसी अस्खलित एकद्रव्यपर्याय ही अनेकद्रव्यों के संयोगात्मक रूप से भीतर अवभासित होती है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव – ये जीवों की पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों की सयोगात्मक हैं; इसलिए जिसप्रकार तुष की अग्नि और अंगार आदि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्यप्रकार की होती हैं; उसीप्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादिक के द्वारा अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।"

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट किया है।

इन गाथाओं का भाव कविवर वृन्दावनदासजी ने २ मनहरण और १ मत्तगयन्द – इसप्रकार कुल ३ छन्दों में प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है –

(मनहरण कवित्त)

संसार अवस्था माहिं जीवनि के निश्चैकरि,
पुग्गलविपाकी नामकर्म उदै आये तैं।
नर नारकौर तिरजंच देवगति विषैं,
जथाजोग देह बनै परजाय पाये तैं।।
संसथान संहनन आदि बहु भेद जाके,
पुग्गलदरवकरि रचित बताये तैं।
जैसें एक आगि है अनेक रूप ईंधन तैं,
नानाकार तैसे तहाँ चेतन सुभाये तैं।।१८।।

निश्चय से जीवों के संसार अवस्था में पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से नर, नारक, तिर्यंच और देवगति में पर्यायानुसार यथायोग्य देह

का संयोग होता है। उक्त देह में पुद्गलद्रव्य से रचित संस्थान, संहनन आदि बहुत भेद होते हैं।

जिसप्रकार एक प्रकार की अग्नि अनेकप्रकार के ईंधन के सयोग से अनेकप्रकार की दिखाई देती है; उसीप्रकार चेतन भी निश्चय से एकप्रकार का होने पर भी व्यवहार से अनेकप्रकार का दिखाई देता है।

(मत्तगयन्द)

जे भवि भेदविज्ञान धरैं, सब दर्वनि को जुत भेद सुजानै।
जे अपनो सद्भाव धरैं, निज भाव विषैं थिर हैं परधानै॥
द्रव्य गुनौ परजायमई, तिनको ध्रुव वै उतपाद पिछानै।
सो परदर्व विषैं कबहूँ नहिं, मोहित होत सुबुद्धिनिधानै॥१९॥

भेदविज्ञान के धारी जो जीव सब द्रव्यों को भेद सहित जानते हैं, अपने अस्तित्व को धारण किये हैं और प्रधानता से निजभाव में स्थिर हैं, जो द्रव्य, गुण और पर्यायमयी हैं और उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को पहिचानते हैं, वे सुबुद्धि के निधान परद्रव्यों में कभी भी मोहित नहीं होते।

(मनहरण कवित्त)

जानै काललब्ध पाय दर्शमोह को खिपाय,
उपशमवाय वा सुश्रद्धा यों लहाही है।
मेरो चिदानंद को दरव गुन परजाय,
उतपाद वय ध्रुव सदा मेरे पाहीं है॥
और परदर्व सर्व निज निज सत्ता ही में,
कोऊ दर्व काहू को सुभाव न गहाही है।
तातैं जो प्रगट यह देह खेह-खान दीसै,
सो तो मेरा रूप कहूँ नाहीं नाहीं नाहीं है॥२०॥

जिस जीव ने काललब्धि पाकर दर्शनमोह को खिपाकर, उपशमभाव व सुश्रद्धा को प्राप्त किया है; वह विचारता है कि मेरे चिदानन्द आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायें और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सदा मेरे पास ही रहते हैं।

इसीप्रकार सभी परद्रव्य भी अपनी-अपनी सत्ता में रहते हैं; कोई

द्रव्य किसी द्रव्य का स्वभाव ग्रहण नहीं करता। इसलिए प्रगट मल की खान जो यह देह दिखाई देती है; वह तो मुझरूप कभी भी नहीं हो सकती, नहीं हो सकती; नहीं हो सकती।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को ४ दोहों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें से २ दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

सहजरूप आतम दसा आदि अंत इक सूत।
अपनै निज अस्तित्वकरि रहित चतुर्गति तूत।।105।।
नर नारकादिक हैं सु जे गति चार दुखदाय।
कही जिनागम के विषैं यह विभाव परजाय।।107।।

आत्मा की दशा तो आदि से अन्त तक सहजरूप से एक सूत्र में अनुभूत रहती है और चारो गतियों के फल से असपृक्त ही रहती है।

नर-नारकादिकरूप जो दुखदायी चार गतियाँ हैं; उन्हें जिनागम मे विभाव पर्याय कहा है।

स्वामीजी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार एक पुद्गल परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर अनेक-द्रव्यात्मक पर्याय धारण करता है। रोटी, दाल, भात के परमाणु के कारण शरीर अनेकद्रव्यात्मक अवस्था धारण करता हुआ देखने में आता है। दूसरे अनेक पुद्गल परमाणु पुस्तकरूप मकानरूप अनेकद्रव्यात्मक अवस्था धारण किये हुये प्रत्यक्ष देखने में आते हैं, उसीप्रकार आत्मा अनेकद्रव्यात्मक पर्यायरूप ससारदशा में उत्पन्न होता हुआ देखने में आता है। एकेन्द्रिय हो तो एकेन्द्रिय के आकाररूप, मनुष्य हो तो मनुष्य के आकाररूप आदि अनेकद्रव्यात्मक अवस्था धारण करता हुआ देखने में आता है।[१]

आत्मा की व्यंजनपर्याय और पुद्गल की व्यजनपर्याय भिन्न-भिन्न है। एक द्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय में अत्यन्त अभाव है। जैसे बर्तन में रखे हुए पानी का आकार बर्तन जैसा होने पर भी पानी बर्तनरूप

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-११९

नहीं हुआ है। पानी और बर्तन भिन्न-भिन्न ही हैं। लकडी में रहनेवाली अग्नि लकड़ी के आकाररूप होती हुई लकडी से भिन्न है। यदि लकड़ी और अग्नि एक हो तो अग्नि बुझते ही लकडी का नाश होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए लकडी और अग्नि एक नहीं।

उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं के कारण क्षेत्रान्तर गमन करता है और शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। यदि शरीर और आत्मा एक हों तो आत्मा के साथ शरीर भी जाना चाहिए; परन्तु वह शरीर तो यहीं पडा रह जाता है – ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। यदि दोनों एक हों तो कभी भिन्न न हों। भिन्न हैं तभी भिन्न होते हैं।[१]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि कम से कम चार और अधिक से अधिक दश प्राणों से संयुक्त जीव की असमानजातीय नर-नारकादि पर्यायें विभिन्न आकारों में होती हैं। जिस गति में जीव जाता है, उसी गति के योग्य आकार हो जाता है। मनुष्य गति का जीव मनुष्याकार तो होता ही है, पर मनुष्य देह के भी तो दिन में अनेक आकार बनते हैं और उसके साथ जीव भी उन्हीं आकारों में परिणमित होता रहता है।

इस असमानजातीय मनुष्य पर्याय में आत्मा अलग है और देह अलग है। यद्यपि वे एकक्षेत्रावगाह हैं, तथापि उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है, उनके आकार भी भिन्न-भिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा भेदविज्ञान ज्ञानियों को निरन्तर विद्यमान रहता है। यदि हमें अपना कल्याण करना है तो ऐसा भेदविज्ञान निरन्तर कायम रखना चाहिए। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१२५

> अज्ञानजन्य व्याकुलता दूर करने के साथ-साथ राग-द्वेषजन्य व्याकुलता दूर करने के लिए भी सयोगों और पर्यायों की अस्थिरता-क्षणभगुरता का चिन्तन निरन्तर आवश्यक है। यही कारण है कि अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन ज्ञानी-अज्ञानी, सयमी-असयमियों – सभी को उपयोगी है, आवश्यक है, सुखकर है, शान्तिदायक है, परम अमृत है।
>
> **– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२४**

प्रवचनसार गाथा १५४

अब इस गाथा में आत्मा का अन्य द्रव्यों के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थनिश्चायक स्वरूपास्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतुरूप में समझाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ।।१५४।।

(हरिगीत)

त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से।
वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी ।।१५४।।

जो जीव उक्त अस्तित्व निष्पन्न, तीन प्रकार के कथित, सविकल्प भेदोंवाले द्रव्यस्वभाव को जानते हैं; वे अन्य द्रव्य में मोह को प्राप्त नहीं होते।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्य को निश्चित करनेवाला स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व ही वस्तुत· द्रव्य का स्वभाव है, क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से ही बना हुआ है। द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से त्रयात्मक भेदभूमिका मे आरूढ द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है; इसलिए स्वरूपास्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिए पद-पद पर लक्ष्य में लेना चाहिए।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं। चेतनत्व के अन्वयरूप द्रव्य, चेतना विशेषत्व रूप गुण और चेतनत्व के व्यतिरेकरूप पर्याय – यह त्रयात्मक तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले चेतनत्वरूप ध्रौव्य और चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व वाला मैं अन्य हूँ और अचेतनत्व के अन्वयरूप द्रव्य, अचेतना के विशेषत्वरूप गुण और अचेतनत्व के व्यतिरेकरूप

पर्याय – यह त्रयात्मकत्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले अचेतनत्वरूप ध्रौव्य और अचेतनत्व के उत्तर तथा पूर्व के व्यतिरेकरूप उत्पाद और व्यय – यह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व स्वभावी अन्य अचेतन पदार्थ अन्य हैं। इसलिए मुझे मोह नहीं है, स्वपर का विभाग है।''

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका का अनुकरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा को १ छन्द में ही अत्यन्त मार्मिक ढग से प्रस्तुत कर देते हैं। वह छन्द मूलत· इसप्रकार है –

(द्रुमिला)

उपयोगसरूप चिदातम सो, उपयोग दुधा छबि छाजत है।
नित जानन देखन भेद लिये, सो शुभाशुभ होय विराजत है।।
तिनही करि कर्मप्रबंध बँधै, इमि श्री जिनकी धुनि गाजत है।
जब आपमें आपुहि राजत है, तब श्यौपुर नौबत बाजत है।।२१।।

उपयोगस्वभावी आत्मा का उपयोग दो प्रकार का कहा गया है। एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। इस उपयोग के शुभोपयोग और अशुभोपयोग – ऐसे भेद भी किये जाते हैं। इन शुभाशुभ उपयोग के कारण कर्म बधते हैं। इसप्रकार की गर्जना अरिहंत भगवान की दिव्यध्वनि में होती है। इसप्रकार जब यह बात हमारे अंतरग में आती है, सुशोभित होती है; तब मुक्तिपुरी की नौबत बजती है, मुक्तिपुरी के नगाढे बजते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

कह्यौ जैसौ पूरव ही दरव कौ स्वरूपा सु
असतित्त्व ताहि लियैं लछिन सु जानैं हैं।
जीव निरजीव जे पदारथ उभै प्रकार
भेदग्यान दिष्टि सौं जुदे जुदे सु भानैं हैं।।
उतपत्य नास ध्रौव्य द्रव्य गुन परजाय
ये ही तीनि भावनि समेत सदा मानैं हैं।

सोई भेदग्यानी विषैं दरव अचेतनि के
हिये समदिष्टि सौं न मोह भाव आनैं हैं।।१०९।।

जो भेदज्ञानी जीव पहले कहे हुए द्रव्य के स्वरूपास्तित्व के आधार पर जीव और अजीव – दोनों प्रकार के द्रव्यों के भेदज्ञान की दृष्टि से भिन्न-भिन्न लक्षणों को जानता है और उक्त द्रव्यों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्य-गुण-पर्याय – इन भावों सहित सदा मानता है; वह भेदज्ञानी जीव अजीव द्रव्यों में समदृष्टि रखते हैं, उनसे भेदभाव नहीं रखते।

स्वामीजी इन गाथाओ के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"प्रत्येक द्रव्य का स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व प्रत्येक द्रव्य को निश्चित करता है। आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व आत्मा को निश्चित करता है और जड का स्वरूप-अस्तित्व जड को निश्चित करता है।[1]

जीवों को स्वरूप-अस्तित्व से प्रत्येक ज्ञेय को भिन्न-भिन्न जानकर यथार्थ निर्णय करना चाहिए। आत्मा सदा ही अपने द्रव्य-गुण पर्याय में रहता है, वह शरीर के द्रव्य-गुण-पर्यायों को कभी स्पर्श भी नहीं करता। छद्मस्थ जीव प्रदेश इत्यादि को भले ही प्रत्यक्षपने न जान सके; परन्तु परोक्षज्ञानपूर्वक केवली भगवान के जैसी ही प्रतीति कर सकता है। आत्मा प्रतिक्षण शरीरादि पदार्थों से जुदा है – ऐसा भेदज्ञान कराते हैं; इसलिए स्व-पर के विभाग की परिपूर्णता के लिए पर्याय-पर्याय में स्वरूप-अस्तित्व को ख्याल मे लेना चाहिए।[2]

प्रत्येक आत्मा और परमाणु भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। कोई किसी का कर्त्ता नहीं है। आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टास्वरूप पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ को उसके स्वरूप-अस्तित्व से भिन्न जानने से स्व-पर का भेद विज्ञान होता है। स्वरूप-अस्तित्ववाला स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्यायपने तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययपने इन तीन स्वरूप है।[3]

देखो! धर्मी जीव अन्यत्व भावना भाता है। वह मानता है कि मेरा

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१२९ २ वही, पृष्ठ-१३० ३ वही, पृष्ठ-१३०-३१

द्रव्य-गुण-पर्याय तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मेरे कारण से हैं और मेरे में हैं एवं जड के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जड के कारण हैं और जड़ में हैं। मैं चेतन हूँ, जड के कारण मेरी अवस्था नहीं और मेरे कारण जड़ की अवस्था नहीं।

लक्ष्मी, मकान, दुकान, देव-गुरु-शास्त्र, शरीर एवं कर्म से मैं जुदा हूँ। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय उनमें हैं। मेरा और उन द्रव्यों का कोई संबध नहीं। शुभाशुभ भाव मेरी चेतन पर्याय में नहीं। सभी को जाननेवाली मेरी चेतनपर्याय है, उससे मैं सभी को मात्र जानता हूँ। मैं शरीर कर्म विकार से जुदा ज्ञानस्वभावी चेतन द्रव्य हूँ। 'मैं सभी से जुदा हूँ' धर्मी जीव ऐसी भावना भाता है।

अनत ज्ञानी कहते हैं कि स्वरूप-अस्तित्व से अन्य पदार्थों व उनकी पर्यायों से भेदज्ञान करना धर्म है। ज्ञानी स्वय में आकर भेद-विज्ञान पूर्वक भावना भाता है। मैं अनुकूल-प्रतिकूल संयोगरूप नहीं, शरीरादिरूप नहीं, अल्प राग-द्वेष होते हैं, वह भी मैं नहीं। मैं तो देह-देवल में चैतन्य ज्ञानस्वरूप विराजता हूँ – ऐसा भान पात्र जीव कर सकता है। प्रथम ऐसा भान हो; फिर स्थिरता हो, पश्चात् मुनिपना अगीकार करके वीतरागदशा को प्राप्त करता है।

इसप्रकार स्वरूप-अस्तित्व स्वभाववाले चेतनद्रव्य को स्वज्ञेयरूप और परज्ञेय को परज्ञेयरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और वही धर्म है।[१]"

इस गाथा और उसकी टीका मे यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपास्तित्व प्रमाण ही है। प्रत्येक वस्तु में पाये जाने वाले द्रव्य, गुण और पर्यायें तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही उसका स्वरूपास्तित्व है।

मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्याय में जीव का स्वरूपास्तित्व अलग है और देहादि का स्वरूपास्तित्व अलग है। यह जानना ही भेदविज्ञान है और यह भेदविज्ञान निरन्तर भाने योग्य है, क्योंकि अनादि-कालीन देह में जो एकत्वबुद्धि है; वह इसके बिना टूटनेवाली नहीं है।●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१३४

प्रवचनसार गाथा १५५-१५६

'चार प्राणरूप शरीर अन्य है और मैं अन्य हूँ।' विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि उक्त शरीर के समागम का मूल कारण क्या है ? गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पगो हवदि।।१५५।।
उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।१५६।।

(हरिगीत)

आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं।
अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के।।१५५।।
उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का।
शुभ-अशुभ दोनों ही न हों तो कर्म का बंधन न हो।।१५६।।

आत्मा उपयोगात्मक है और ज्ञान-दर्शन को उपयोग कहते हैं। आत्मा का यह उपयोग शुभ और अशुभ के भेद से भी दो प्रकार होता है। उपयोग यदि शुभ हो तो पुण्य का सचय होता है और यदि अशुभ हो तो पाप का सचय होता है तथा दोनों के अभाव में कर्मों का सचय नहीं होता।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"वस्तुत: परद्रव्य के सयोग का कारण उपयोग विशेष है। चैतन्यानुविधायी परिणाम होने से उपयोग आत्मा का स्वभाव है और वह उपयोग ज्ञान-दर्शनरूप है; क्योंकि वह साकार और निराकाररूप से उभयरूप है।

यह उपयोग शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें शुद्धोपयोग निरुपराग (निर्विकार) है और अशुद्धोपयोग सोपराग (सविकार) है। शुभ और अशुभ के भेद से अशुद्धोपयोग भी दो प्रकार का है; क्योंकि वह विशुद्धिरूप और सक्लेशरूप होता है।

परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्धोपयोग है। वह अशुद्धोपयोग विशुद्धि और संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभरूप द्विविधता को प्राप्त होता हुआ पुण्य-पाप के बध का कारण होता है।

पुण्य से अनुकूल और पाप से प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते हैं। जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोगों का अभाव हो जाता है, तब उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का अर्थ सामान्य-सा ही कर देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन दो गाथाओं का भाव एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

जब इस आतमा के पूजा दान शील तप,
संजम क्रियादिरूप शुभ उपयोग है।
तब शुभ आयु नाम गोत पुन्यवर्गना को,
कर्मपिड बँधै यह सहज नियोग है।।
अथवा मिथ्यात विषैं अव्रत कषायरूप,
अशुभोपयोग भये पाप को संजोग है।
दोऊ के अभाव तैं विशुद्ध उपयोग वृन्द,
तहा बंध खंड के अखंड सुख भोग है।।२२।।

जब इस जीव के पूजा, दान, शील, तप और सयमादि क्रियारूप शुभोपयोग होता है; तब उसे शुभ आयु, शुभ नाम, ऊँच गोत्र और साता वेदनीय पुण्य वर्गणाओं के कर्मपिंड बँधते हैं – यह सहज नियोग है।

अथवा मिथ्यात्व दशा में अव्रत और कषायरूप अशुभोपयोग के होने से पाप का सयोग होता है। शुभ और अशुभ – दोनो के अभाव से उपयोग शुद्ध होता है। वहाँ बध का अभाव होकर अखण्डसुख की प्राप्ति होती है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को १ अडिल्ल और १ सवैया इकतीसा में प्रस्तुत करते हैं, जिनमें इकतीसा सवैया इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

दान पूजा वरत विधान आदि क्रिया सुभ
चेतना विकार सो असुद्ध परिणाम है।
जाकौ फल पुन्य साता कौ करनहार
तन पिंड जीव एक ठौर बंध धाम है।।
मिथ्या भाव विषय कषाय आदि तैं सही सु
असुभोपयोग सौं आतमा कौ धमाम है।
सुभासुभ भाव गऐं सुद्ध उपयोग भऐं
'वीतराग सुद्ध' एक आतमा ही राम है।।१११।।

दान, पूजा, व्रत-विधान आदि शुभक्रिया चेतना का विकार है, इसलिए अशुद्ध परिणाम है और उसका फल पुण्यबंध है, जो लौकिक सुख-साता करनेवाला है तथा शरीर और जीव का एक स्थान पर आवास है। मिथ्याभावों से विषय-कषाय आदि में प्रवृत्तिरूप अशुभोपयोग असाता का कारण है। शुभाशुभभावों के चले जाने पर और शुद्धोपयोग होने पर आत्माराम एकमात्र वीतराग शुद्धभावरूप ही है।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''उपयोग तो आत्मा का स्वभाव है, चैतन्य का अनुसरण करनेवाला परिणाम है। यह परिणाम शरीर, इन्द्रिय व मन का अनुसरण नहीं करता; अपितु चैतन्य का अनुसरण करता है – ऐसा कहा है। यह बात लक्ष्य में लेनेयोग्य है। उपयोग दो प्रकार का है –

ज्ञान उपयोग – साकारपने का नाम ज्ञानोपयोग है। आकार सहित का यह अर्थ नहीं कि जड का आकार ज्ञान में आता है; किन्तु यह है कि ज्ञान भेद-प्रभेद सहित प्रत्येक वस्तु को जुदा-जुदा जानता है।

दर्शन उपयोग – निराकारपने का नाम दर्शनोपयोग है। यह जीव है कि अजीव है अथवा यह द्रव्य है – ऐसा कोई भेद किये बिना सामान्य अवलोकनरूप उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं।

अब चारित्र की प्रधानता से उपयोग के भेद कहते हैं। उपयोग ज्ञान

तथा दर्शन गुण की पर्याय है, चारित्र गुण की पर्याय नहीं; किन्तु आचरण को मुख्य करके उपयोग के भेद कहते हैं।

१. शुद्धोपयोग – आत्मा ज्ञानस्वरूप है, शरीरादि जड हैं, पुण्य-पाप आत्मा के स्वरूप नहीं हैं – ऐसी प्रतीति और ज्ञान सहित शुद्ध-स्वभाव में होनेवाली रमणता को शुद्धोपयोग कहते हैं और वही धर्म है।

२. अशुद्धोपयोग – आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा न जानकर परपदार्थ की तरफ स्वय के परिणाम विकारसहित होना, उसको अशुद्धोपयोग कहते हैं।

वह अशुद्धोपयोग दो प्रकार का है –१.शुभोपयोग, २. अशुभोपयोग।

शुभोपयोग – स्वय के शुद्ध स्वभाव की तरफ उपयोग न करके जीव दया-दानादि मंद कषायरूप परिणाम में जुडता है, वह शुभोपयोग है और वह पुण्यरूपी अधर्म का कारण है।

अशुभोपयोग – स्वयं के शुद्धस्वभाव की तरफ उपयोग न करके तीव्र कषायरूप परिणाम में जुडना अशुभोपयोग है और वह पापरूपी अधर्म का कारण है।[१]''

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में अत्यन्त सक्षेप में यह कहा गया है कि ज्ञान-दर्शन को उपयोग कहते हैं और वह उपयोग आत्मा का स्वरूप है। यदि चारित्र की अपेक्षा बात करें तो वह उपयोग शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

अशुद्धोपयोग भी दो प्रकार का होता है – शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुभोपयोग से पुण्यबध होता है और अशुभोपयोग से पाप बधता है – इसप्रकार अशुद्धोपयोग बंध का कारण है और शुद्धोपयोग बंध के अभाव का कारण है, मोक्ष का कारण है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१४३

प्रवचनसार गाथा १५७-१५८

विगत गाथाओं में उपयोग के भेद बताकर उनके स्वरूप को स्पष्ट कर अब इन गाथाओं में शुभ और अशुभ उपयोग का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥
विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥

(हरिगीत)

श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को।
जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ ॥१५७॥
अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में।
श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में ॥१५८॥

जो जिनेन्द्रों को जानता है, सिद्धों और अनगारों की श्रद्धा करता है तथा जीवों के प्रति दयाभाव रखता है; उसका वह उपयोग शुभ कहलाता है। जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न है, कुश्रुत, कुविचार और कुसंगति में लगा है तथा उग्र है, उन्मार्ग में लगा हुआ है; उसका वह उपयोग अशुभोपयोग है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"विशेषप्रकार की क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, शुभ उपराग को ग्रहण किया होने से जो उपयोग परमभट्टारक महादेवाधिदेव अरहंत परमेश्वर, सिद्ध भगवान और साधुजनों की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकपा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।

विशिष्ट उदय दशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से, अशुभ उपराग को ग्रहण करने से जो उपयोग परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर अरहत-सिद्ध और साधुजनों के अतिरिक्त अन्य उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।"

वैसे तो आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि वे अन्त में दुःश्रुति, दुश्चित्त और दुष्टगोष्टी का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"शुद्धात्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुति, जिनवाणी, आगम सुश्रुति है और उससे विपरीत दुश्रुति है अथवा मिथ्याशास्त्ररूप श्रुति दु·श्रुति है।

चिन्ता रहित होकर आत्मा में लीन मन सुचित्त है और उस आत्मलीनता का विनाश करनेवाला मन दु श्चित्त है अथवा स्व और पर के लिए इच्छित काम-भोग की चिन्तारूप परिणत रागादि अपध्यान दुश्चित्त है। परम चैतन्य परिणति को नष्ट करनेवाली सगति दुष्टगोष्टी है अथवा परम चैतन्य परिणति के विरोधी कुशील पुरुष आदि की गोष्टी (सगति) दुष्टगोष्टी है।"

कविवर वृन्दावनदासजी इन दो गाथाओं का भाव दो छन्दों मे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मत्तगयन्द)

जो जन श्री जिनदेव को जानत, प्रीति सों वृन्द तहाँ लव लावैं।
सिद्धनि को निज ज्ञान तैं देखि कै, ध्यापक होय के ध्यान में ध्यावै॥
औ अनगार गुरूनि में भक्ति, दया सब जीवनि माहिं दिढ़ावै।
ताकहँ श्रीगुरुदेव बखानत, सो शुभरूपपयोग कहावै॥२३॥

जो लोग जिनेन्द्र भगवान को जानते हैं और प्रेम से उनमें लौ लगाते हैं, सिद्ध भगवान का ध्यान करते हैं और जिनकी दिगम्बर साधुओं में भक्ति होती है तथा जो सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव रखते हैं, वे शुभोपयोगी हैं – ऐसा श्रीगुरु कहते हैं।

(मनहरण कवित्त)

इंद्रिनि के विषै और क्रोधादि कषायनि में,
जाको परिनाम अवगाढ़ागाढ़ रुखिया।
मिथ्याशास्त्र सुनै सदा चित्त में कुभाव गुनै,
दुष्ट संग रंग को उमंग रस चुखिया॥
जीवनि के घातवे को जतन करत नित,
कुमारग चलिवे में उग्रमुख मुखिया।
ऐसो उपयोग सोई अशुभ कहावत है,
जाके उर बसै वह कैसे होय सुखिया॥२४॥

इन्द्रियों के विषयों में और क्रोधादिक कषायों में जिसके परिणाम गहराई से लिप्त रहते हैं; जो मिथ्या शास्त्रों को सुनते हैं और चित्त से सदा ही खोटे भाव कर चिन्तन करते हैं, दुष्टों की संगति में उमंग के साथ रहते हैं; जीवों के घात करने के यत्न में सदा लगे रहते हैं, कुमार्ग पर चलने में मुखिया बनकर उत्साहित रहते हैं।

उनका इसप्रकार का उपयोग अशुभोपयोग कहलाता है। जिसके हृदय में यह अशुभोपयोग बसता है, वह सुखी कैसे हो सकता है ?

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित देवीदासजी ठीक इसीप्रकार अत्यन्त सरल भाषा में शुभोपयोग और अशुभोपयोग का स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं; जो मूलत: पठनीय है।

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जब जीव स्वय के स्वभाव में स्थिर नहीं हो पाता, तब सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति और चारित्रमोहनीय प्रकृति का निमित्त पाकर क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव का उपयोग पचपरमेष्ठी की तरफ बसनेवाला होता है।[१]

जो भाव पचपरमेष्ठी की श्रद्धा करने में तथा सभी जीवों के प्रति अनुकम्पा करने में प्रवर्तता है, वह भाव शुभभाव कहा जाता है।[२]

इसप्रकार ज्ञानी जीव को होनेवाला शुभ उपयोग पुण्य बध का कारण है।[३]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१४९ २ वही, पृष्ठ-१४९ ३ वही, पृष्ठ-१५०

अज्ञानी जीव सर्वज्ञ, देवाधिदेव अरहंत, सिद्ध तथा मुनि की श्रद्धा नहीं करता और सर्वज्ञ से विरुद्ध कहे जानेवाले की श्रद्धा करता है। जो जीव पुण्य से धर्म मानता है, निमित्त से लाभ मानता है; वह जैन नहीं, उसको पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा नहीं, वह तो भगवान का विरोध करता है। अज्ञानी जीव विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करता हुआ प्रवर्तता है, वह अशुभ उपयोग है।[१]"

शुभोपयोग और अशुभोपयोग का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली उक्त गाथाओं में अत्यन्त सक्षेप में यह कहा गया है कि जो व्यक्ति पचपरमेष्ठी का स्वरूप जानकर उनमें श्रद्धा रखता है, उनकी भक्ति करता है, उनका गुणगान करता है और जीवों के प्रति करुणाभाव रखता है; उसका वह भाव शुभभाव कहलाता है और वह शुभभाव पुण्यबध का कारण है।

जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न रहता है, जो उग्रस्वभावी है, उन्मार्ग में लगा है और कुश्रुत, कुविचार और कुसगति में पडा है, वह अशुभोपयोगी है और वह पापबध करता है।

जो व्यक्ति इन दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग से विरक्त रह अपने आत्मा का ध्यान करता है, वह शुद्धोपयोगी कर्मों का नाश करता है।●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१५१

आचार्य भगवन्तों का मात्र यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सन्देश है कि सम्पूर्ण जगत से दृष्टि हटाकर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करो, आराधना करो, उसे ही जानो, पहिचानो, उसी में जम जावो, उसमें ही रम जावो, उसमें ही समा जावो, इससे ही अतीन्द्रियानन्द की प्राप्ति होगी – परमसुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

पर को छोड़ने के लिए, पर से छूटने के लिए इससे भिन्न कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पर तो छूटे हुए ही हैं। वे तेरे कभी हुए ही नहीं हैं, तूने ही उन्हें अज्ञानवश अपना मान रखा था, अपना जान रखा था और उनसे राग कर व्यर्थ ही दु खी हो रहा था। तू अपने में मगन हुआ तो वे छूटे हुए ही हैं।

– बारह भावना . एक अनुशीलन, पृष्ठ-७०-७१

प्रवचनसार गाथा १५९

विगत गाथाओं में शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयेग के भेद-प्रभेदों और उनका फल दिखाकर अब इस गाथा में परद्रव्य के सयोग के कारण के विनाश का अभ्यास कराते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए॥१५९॥

(हरिगीत)

आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो।
ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में॥१५९॥

अन्य द्रव्य मे मध्यस्थ होता हुआ मै अशुभोपयोग से रहित होता हुआ और शुभोपयोग मे उपयुक्त नहीं होता हुआ ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ गाथा में अशुभोपयोग से निवृत्ति और शुभोपयोग में प्रवृत्ति न करने की बात कही है। दोनों के हेयपने में थोडा-बहुत अन्तर डाला है। तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग को तो बुद्धिपूर्वक छोडना पडता है; पर शुभोपयोग सहज ही छूट जाता है; क्योकि शुद्धोपयोग में चले जाने पर शुभोपयोग रहता ही नहीं है। मेरा कहना मात्र इतना ही है कि अशुभ से निवृत्ति और शुभ में अप्रवृत्ति – इस कथन में कुछ विशेष भाव भरा हुआ है। उसे जानने की कोशिश की जानी चाहिए।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

‘‘परद्रव्य के सयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग वस्तुत: मन्द-तीव्र उदय दशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, अन्य कारण से नहीं। इसलिए मैं समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ।

इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन न होने से शुभाशुभरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से शुद्धोपयोगी होता हुआ उपयोगरूप निजस्वरूप से आत्मा में ही सदा निश्चल रूप से उपयुक्त रहता हूँ।

यह मेरा परद्रव्य के सयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।''

तात्पर्यवृत्ति में पूर्णत. तत्त्वप्रदीपिका का अनुकरण किया गया है।

वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मत्तगयन्द और ४ दोहे – इसप्रकार पाँच छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मत्तगयन्द)

मैं निज ज्ञानसरूप चिदातम, ताहि सुध्यावत हौं भ्रम टारी।
भाव शुभाशुभ बंध के कारन, तातैं तिन्हैं तजि दीनों विचारी॥
होय मधस्थ विराजत हौं, परदर्व विषैं ममता परिहारी।
सो सुख क्यों मुख सों बरनौं, जो चखै सो लखै यह बात हमारी॥२५॥

मैंने अपने ज्ञानस्वरूप चैतन्य आत्मा का ध्यान करके सभी प्रकार के भ्रमों को टालकर बंध के कारणरूप शुभाशुभ भावों को छोडने का विचार कर लिया है और मध्यस्थ भाव धारण करके परद्रव्य के प्रति ममत्व भाव को छोड दिया है। ऐसा करने से अर्थात् शुद्धोपयोग से जिस सुख की प्राप्ति होती है; वह सुख मुख से कैसे कहा जा सकता है ? हम तो यह कहते हैं कि उस सुख को जो व्यक्ति चखता है; वही लखता है अर्थात् वही जानता है।

(दोहा)

तातैं यह उपदेश अब, सुनो भविक बुधिवान।
उद्दिम करि जिनवचन सुनि, ल्यो निजरूप पिछान॥२६॥
ताही को अनुभव करो, तजि प्रमाद उनमाद।
देखो तो तिहि अनुभवत, कैसो उपजत स्वाद॥२७॥
जाके स्वादत ही तुम्हें, मिलै अतुल सुख पर्म।
पुनि शिवपुर में जाहुगे, परिहरि अरि वसु कर्म॥२८॥

यही शुद्ध उपयोग है, जीवन-मोच्छसरूप।
यही मोखमग धर्म यहि, यही शुद्धचिद्रूप॥२९॥

इसलिए हे बुद्धिमान भव्यजीवो ! मेरे इस उपदेश को ध्यान से सुनो। पुरुषार्थ कर जिन वचनों को सुनकर निजस्वरूप को पहिचान लो।

प्रमाद और उन्माद छोडकर उसका ही अनुभव करो। जरा देखो तो सही कि उसका अनुभव करने पर किसप्रकार का स्वाद आता है ?

उसका स्वाद लेते ही तुम्हें अतुलनीय परमसुख मिलेगा और अन्त में आठों कर्मों का परिहार करके मुक्तिपुरी में जावोगे।

यह शुद्धोपयोग जीवों को मोक्षस्वरूप ही है। यही मोक्षमार्ग है, यही धर्म है और यही शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा है।

पण्डितदेवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कुण्डलिया)

स्वपर विवेकी हौं सु मैं ग्यान स्वरूप सदीव।
सुद्धभाव करि अनुभवौं सुद्ध स्वरूप सु जीव॥
सुद्ध स्वरूप सु जीव सुभासुभ भाव न मैरो।
अपनौं रसु दै करि सु आपु खिरि जात सवैरौ॥
तार्थें मैं मध्यस्तर हौहि थिरता सु न देखी।
करनहार निज ध्यान कौ सु मैं स्वपर विवेकी॥११४॥

स्वपरविवेकी मैं सदा ज्ञानस्वरूप हूँ और शुद्धभावों से अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करता हूँ। मैं शुद्धस्वरूपी जीव हूँ, शुभाशुभभाव मेरे नहीं हैं, वे तो अपना रस देकर समय पाकर अपने आप खिर जाते हैं। मैंने इनमें कभी स्थिरता नहीं पाई है; इसलिए इनसे मध्यस्थ रहता हूँ। स्वपरविवेकी मैं तो अपने आत्मा का अनुभव करनेवाला हूँ।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"आचार्य भगवान को इस गाथा के लिखते समय तो शुभ उपयोग वर्तता है; किन्तु दृष्टि में शुभ का निषेध वर्तता है। शुद्ध स्वभाव का जोर है; इसलिए शुभ को गौण करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हूँ

– ऐसा कहा है। यह ज्ञेय अधिकार है और पचपरमेष्ठी परज्ञेय हैं, स्वज्ञेय नहीं; इसकारण उनकी तरफ से लक्ष्य छूटकर आत्मा में शुद्धोपयोग प्रगट होने से अशुद्ध उपयोग उत्पन्न ही नहीं होता तथा परद्रव्य का संयोग भी नहीं रहता। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं शुद्धोपयोग में रहता हूँ और यह अशुद्ध उपयोग के विनाश का अभ्यास है।[1]"

१५६वीं गाथा की टीका में कहा था कि परद्रव्य के सयोग का कारण अशुद्धोपयोग है और वह अशुद्धोपयोग विशुद्धि और सक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभरूप द्विविधता को प्राप्त होता हुआ पुण्य-पाप के बध का कारण होता है। पुण्य से अनुकूल और पाप से प्रतिकूल सयोग मिलते हैं।

अब यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि शुद्धोपयोग में रहना ही परद्रव्य के सयोग के कारणरूप अशुद्धोपयोग के विनाश का कारण है। अत· अब मैं समस्त परद्रव्यों से मध्यस्थ होता हूँ।

इसप्रकार शुभाशुभभावरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर शुद्धोपयोगी होता हुआ पुण्य-पाप से मुक्त होकर मैं निजात्मा में निश्चल होता हूँ; क्योंकि अशुद्धोपयोग के विनाश का एकमात्र यही उपाय है। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१५५

जीव और देह की पारमार्थिक भिन्नता समझने के लिए पहले उनकी व्यावहारिक एकता की वास्तविक स्थिति जानना आवश्यक है, अन्यथा व्यावहारिक एकता की तात्कालिक उपयोगिता के साथ-साथ स्वभाविक भिन्नता का भी भलीभाँति परिचय प्राप्त नहीं होगा, पारमार्थिक प्रयोजन की भी सिद्धि नहीं होगी, अत देह और आत्मा की पारमार्थिक भिन्नता के साथ-साथ व्यावहारिक एकता का ज्ञान भी आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, पर ध्यान रहे इसकी पारमार्थिक भिन्नता तो भिन्नता जानने के लिए है ही, व्यावहारिक एकता का स्वरूप जानना भी पारमार्थिक भिन्नता जानने के लिए ही है।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७८

प्रवचनसार गाथा १६०-१६१

विगत गाथा में अशुद्धोपयोग के विनाश के अभ्यास की बात करके अब इन गाथाओं में शरीरादि परद्रव्यों के प्रति माध्यस्थ भाव दिखाकर मन-वचन-काय परद्रव्य हैं – यह समझाते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥१६०॥
देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं॥१६१॥

(हरिगीत)

देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं।
ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ॥१६०॥
देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे।
ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं॥१६१॥

मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी ही हूँ। मैं इन मन-वचन-काय का कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला भी नहीं हूँ और करनेवालों की अनुमोदना करनेवाला भी नहीं हूँ।

देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और वे पुद्गल द्रव्य परमाणुओं के पिण्ड हैं – ऐसा वीतरागदेव ने कहा है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ; इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – वस्तुत: मैं शरीर, वाणी

और मन के स्वरूप का आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे बिना ही वे अपने स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिए मैं इन शरीरादि का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ।

इसीप्रकार मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारणरूप अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे कारण हुए बिना ही वे कारणवान हैं; इसलिए मैं उनके कारणपने का पक्षपात छोडकर अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ।

मैं स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी और मन का कर्ता अचेतन द्रव्य नहीं हूँ; क्योंकि मेरे कर्ता हुए बिना भी वे किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोडकर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

स्वतंत्ररूप से शरीर, वाणी व मन का कारकरूप अचेतन द्रव्य का मैं प्रयोजक (करानेवाला) नहीं हूँ; क्योंकि मेरे बिना भी वे किये जाते हैं। इसलिए मैं उनमें कर्तापने के प्रयोजकपने (करानेवाला पने) का पक्षपात छोडकर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

स्वतत्ररूप से शरीर, वाणी और मन का कारक जो अचेतन द्रव्य है; मैं उनका अनुमोदक नहीं हूँ; क्योंकि मेरे अनुमोदक हुए बिना ही वे किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्ता के अनुमोदनपने का पक्षपात छोडकर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

पुद्गलद्रव्यात्मक होने से शरीर, वाणी और मन परद्रव्य हैं। उनमें पुद्गलपना है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित हैं। शरीररूप पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुओं का एक पिंडपर्यायरूप परिणाम है; क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक (भिन्न-भिन्न) होकर भी कथचित् एकत्वरूप अवभासित होते हैं।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण और २ दोहे – इसप्रकार कुल मिलाकर ३ छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

मैं जो हों शुद्ध चिनमूरत दरव सो,
त्रिकाल में त्रिजोगरूप भयो नाहिं कबही।
तन मन वैन ये प्रगट पुद्गल यातैं,
मैं तो याको कारन हू बन्यो नाहिं तब ही।।
तथा करतार और करावनहूहार नाहिं,
करता को अनुमोदक हूँ नाहिं जब ही।
ये अनादि पुग्गलकरम ही तैं होते आये,
ऐसी वृन्द जानी जिनवाणी सुनी अब ही।।३०।।

मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति द्रव्य हूँ और मैं त्रिकाल में कभी भी मन-वचन-ायरूप – त्रियोगरूप नहीं हुआ हूँ; क्योंकि ये मन-वचन-काय तो गष्टरूप से पुद्गल हैं; इसलिए मैं इनका कभी कारण भी नहीं बना, कर्ता ो नहीं बना, करानेवाला भी नहीं बना और अनुमोदक भी नहीं बना। ये ब तो अनादि से पौद्गलिक कर्मोदय से ही होते आये हैं। वृन्दावन कवि ःहते हैं कि मैंने जिनवाणी सुनकर अब यह सब जान लिया है।

(दोहा)

तन मन वचन त्रिजोग हैं, पुद्गलदरवसरूप।
ऐसे दयानिधान वर, दरसाई जिनभूप।।३१।।
सो वह पुद्गल दरव के, अविभागी परमानु।
तासु खंध को पिंड है, यों निहचै उर आनु।।३२।।

मन, वचन और काय – ये त्रियोग पुद्गल द्रव्यरूप हैं। दयानिधान गवान ने यह बात बताई है।

ये देहादिक अविभागीरूप पुद्गल परमाणु द्रव्य के स्कंध हैं, पिण्ड – यह बात निश्चयनय की है – ऐसा हृदय में धारण करो।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(छप्पय)

तनमन वचन स्वरूप मैं न वे रूप न मेरो।
'उपादान कारन सु मैं न करता तिनि केरौ।।

मैं न करावनहार पुनि सु जोगनि कौं तीनों।
मो विनु तन मन वचन भाव पुद्गल करि कीनौं॥
तिनि जोगनि करिवे की सकति पुद्गल पिंड विषैं कही।
ताथैं मध्यस्तर हौं सु मैं दरव अचेतन सौं सही॥११५॥

न तो मैं मन-वचन-कायरूप हूँ और न वे मुझरूप हैं। मैं उनका उपादान कारण नहीं हूँ, कर्ता भी नहीं हूँ, इसीप्रकार तीन योगों का करानेवाला भी नहीं हूँ। ये मन-वचन-काय मेरे बिना पुद्गल के किये हुए हैं; क्योंकि उन्हें करने की शक्ति पुद्गलपिण्ड में कही गई है। इसलिए मैं अचेतन पदार्थों से मध्यस्थ रहता हूँ।

(दोहा)

मैं न नैन तन कान पुनि घ्रान वैन मनु हैं न।
ग्यान प्रान गन जान पन लीन तीन गुन अैंन॥११६॥

मैं आँख, कान, घ्राण, तन और मनरूप नहीं हूँ। मैं तो ज्ञानप्राण का धारक ज्ञायक आत्मा हूँ और दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणों में लीन रहनेवाला हूँ।

(चौपाई)

तन मन वचन जोग ये तीन्हों, जड़ पर दरव स्व रूप सु चीन्हौ।
पुद्गल परमानू अविभागी, तिनके लखौ पिंड बड़भागी॥११७॥

मन-वचन-काय – ये तीनों योग जडद्रव्य हैं, परद्रव्य हैं। ये अविभागी पुद्गल परमाणुओं के पिंड हैं, मैंने इन्हें इस रूप में ही पहिचाना है।

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"धर्मी जीव शरीर, मन व वाणी की अवस्था का ज्ञाता-दृष्टा होता है। आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं शरीर, वाणी और मन को परपदार्थ समझता हूँ। लिखते समय मन की तरफ का जुडाव होने पर स्वभाव की अधिकता में उसको गौण किया है। जब वाणी निकलती है तो बहुत से

जीवों को लाभ का कारण होती है, ऐसी अनुमोदना मैं नहीं करता। वाणी इत्यादि के प्रति मुझे पक्षपात नहीं।

आत्मा है – इसकारण शरीर, मन, वाणी की क्रिया हो रही है – ऐसा मैं नहीं मानता। शरीर, मन, वाणी परद्रव्य हैं, वे अपने कारण परिणमन कर रहे हैं। मैं उनके बंध के प्रति अत्यंत मध्यस्थ हूँ।[१]

ज्ञानी जीव विचार करता है कि शरीर, मन व वाणी तो परज्ञेय हैं; वे मेरे आधार बिना स्वतंत्ररूप से परिणमन कर रहे हैं। इसकारण उनके आधार का पक्षपात छोडकर मैं अत्यत ज्ञाता-दृष्टा रहता हूँ।[१]

अज्ञानी जड आदि का कर्त्ता और कारण स्वयं को भले ही माने; किन्तु उन जड शरीर, मन व वाणी का आधार, कारण, कर्त्ता, कारयिता एव अनुमोदनकर्त्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा ज्ञान करना और परज्ञेय स्वतंत्र हैं – ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान और धर्म है।[२]

शरीर, मन, वाणी के परमाणुओं के स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व जुदे-जुदे हैं; फिर भी रूखापने और चिकनेपने के कारण बधरूप होने से वे एकपने भासते हैं; किन्तु आत्मा के कारण तो उनकी स्कंधरूप अवस्था होती ही नहीं है। जब एक परमाणु की अवस्था दूसरे पुद्गल परमाणु के कारण नहीं होती; तो फिर आत्मा के कारण शरीर इत्यादि की अवस्था होती है – ऐसा मानना अज्ञान है।

तात्पर्य यह है कि रूखेपन और चीकनेपन के कारण अनेक परमाणु साथ होकर व्यवहार से एकपने भासते हैं; किन्तु आत्मा के कारण व्यवहार से भी वे साथ नहीं होते।[३]''

उक्त गाथाओं और उनकी टीका का भाव यह है कि आत्मा और उसके सयोग में रहनेवाले मन-वचन-काय का स्वरूपास्तित्व

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१५७
२ वही, पृष्ठ-१६३
३ वही, पृष्ठ-१६५

पूर्णत: भिन्न-भिन्न है। वे न तो एक-दूसरे के रूप हैं, न एक-दूसरे के स्वामी हैं।

इसीप्रकार वे एक-दूसरे के परस्पर कर्ता नहीं हैं, कारण नहीं हैं, कारयिता नहीं हैं और अनुमन्ता भी नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें परस्पर एकक्षेत्रावगाह संबध के अतिरिक्त कोई भी संबंध नहीं है।

इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा जीव इनके प्रति पूर्णत: मध्यस्थ रहते हैं, शरीरादि में कुछ करने के बोझ से पूर्णत: मुक्त रहते हैं। यदि कमजोरी के कारण तत्संबंधी कोई विकल्प खडा हो जाता है तो उसे भी जान लेते हैं, सहजभाव से ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं; उसके कारण आकुल-व्याकुल नहीं होते। ●

'अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख-दु.ख भी अकेले ही भोगना होगा' – इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिंतन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए। यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए। जरा गहराई से विचार करें तो सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा।

आपको यह शिकायत हो कि सुख-दु.ख, जीवन-मरण सबकुछ आपको अकेले ही भोगने पडते हैं; कोई सगा-सबधी भी साथ नहीं देता। क्या आपकी यह शिकायत उचित है ?

जरा इस पर गौर कीजिए कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता ? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता, तब 'साथ नहीं देता' – यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-६७

प्रवचनसार गाथा १६२

विगत गाथा में मन-वचन-काय का परद्रव्यत्व बताकर अब इस गाथा में उक्त मन-वचन-काय के कर्तृत्व का निषेध करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्य देहस्य ॥१६२॥

(हरिगीत)

मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हैं इन्हें।
मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं॥१६२॥

मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप नहीं किये गये हैं; इसलिए मैं देह नहीं हूँ तथा उस देह का कर्ता भी नहीं हूँ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसका प्रकरण चल रहा है – ऐसा यह शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक परद्रव्य है; इसके भीतर वाणी और मन का भी समावेश हो जाता है। इसप्रकार मन-वचन-काय के पिण्डरूप शरीर मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं अपुद्गलमय हूँ; इसलिए मेरा पुद्गलमय शरीर होने में विरोध है।

इसीप्रकार शरीर के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कारयिता द्वारा और अनुमोदक द्वारा भी मैं शरीर का कर्ता नहीं हूँ; क्योंकि अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्डरूप परिणाम का अकर्ता मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्डरूप पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का मेरे कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

(मनहरण कवित्त)

मैं जो हों विशुद्ध चेतनत्वगुनधारी सो तो,
पुग्गल दरवरूप कभी नाहिं भासतो।
तथा देह पुग्गल को पिंड है सुखंध बंध,
सोउ मैंने कीनों नाहिं निहचै प्रकासतो ॥
ये तो हैं अचेतन औ मूरतीक जड़ दर्व,
मेरो चिच्चमतकार जोत है चकासतो।
तातैं मैं शरीर नाहिं करता हूँ ताको नाहिं,
मैं तो चिदानंद वृन्द अमूरत सासतो ॥३३॥

मैं तो विशुद्ध चैतन्यगुणधारी हूँ। वह मैं कभी भी पुद्गलद्रव्यरूप प्रतिभासित नहीं होता। पुद्गल के पिण्डरूप अच्छी तरह बंधे हुए इस शरीर को मैंने नहीं किया है। यह बात सुनिश्चित ही है, निश्चयनय से प्रकाशित है। यह शरीर तो अचेतन है, मूर्तिक है, जड द्रव्य है और मेरा स्वरूप तो जगमगाती चिच्चमत्कार ज्योतिरूप है; इसलिए न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर का कर्ता हूँ। वृन्दावन कवि कहते हैं कि मैं तो अमूर्तिक शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावी द्रव्य हूँ।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

(सवैया तेईसा)

चेतनि द्रव्य सु मैं न अचेतन पुग्गल भाव जुदौ निरवारो।
सूछम जो तन की परमानूं यकौ यह पिंड कियौ न हमारो ॥
मैं तिहि तैं निज ग्यान स्वरूप सरीरमई सु विकार तैं न्यारो।
पुग्गल द्रव्य स्वरूप सु देह न मैं तिहि कौं उपजावनहारो ॥११८॥

मैं अचेतन पौद्गलिक पदार्थों से भिन्न चेतन द्रव्य हूँ। जिन सूक्ष्म परमाणुओं से शरीर की रचना हुई है, उनका और उनके पिंड का कर्ता मैं नहीं हूँ। मैं तो विकारी भावों से भिन्न ज्ञानशरीरी तत्त्व हूँ। पुद्गलमयी देह को उत्पन्न करनेवाला मैं नहीं हूँ।

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"१. आत्मा ज्ञानस्वरूपी चेतन है और शरीर ज्ञान बिना अचेतन है।

२. आत्मा अमूर्त – स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित है और शरीर मूर्त – स्पर्श-रसवाला है।

३. आत्मा अखण्ड एकरूप है और शरीर पूरण व गलनरूप होने से खण्ड-खण्ड वाला है।

इसकारण आत्मा का शरीरपने होने में विरोध है।

शरीर का कर्त्ता, करण, प्रयोजक अथवा अनुमोदक मैं नहीं हूँ; क्योंकि अनेक परमाणुओं में स्वयं ही पिण्डरूप होने की योग्यता होने से वे पिण्डरूप होते हैं। वाणी के परमाणु स्वयं पिण्डरूप होकर शब्दरूप परिणमते हैं। शरीर अनेक परमाणुओं की एक पिण्डरूप अवस्था है और उसके कर्त्ता वे परमाणु ही हैं, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है।[१]"

इस गाथा और इसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। यह भगवान आत्मा शरीर का न तो कर्ता है, न करण, न कारयिता है और न अनुमता ही है। पुद्गल परमाणुओं से बना यह शरीर स्वय परिणमनशील है; वह अपने परिणमन का कर्ता स्वयं है। इसीप्रकार भगवान आत्मा भी स्वयं परिणमनशील पदार्थ है; इसकारण वह भी अपने परिणमन का कर्ता स्वय है। न तो परद्रव्य उसके कर्ता हैं और न वह शरीरादि परद्रव्यों का कर्ता है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१६७

पर के साथ के अभिलाषी प्राणियो ! तुम्हारा सच्चा साथी आत्मा का अखण्ड एकत्व ही है, अन्य नहीं। यह एकत्व तुम्हारा सच्चा साथी ही नहीं, ऐरावत हाथी भी है, इसका आश्रय ग्रहण करो, इस पर चढ़ो और स्वय अन्तर के धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर बन जावो; धर्म की धवल पाण्डुक शिला पर तुम्हारा जन्माभिषेक होगा, पावन परिणतियों की प्रवाहित अजस्र धारा में स्नान कर तुम धवल निरजन हो जाओगे।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७१

प्रवचनसार गाथा १६३-१६५

१६२वीं गाथा में आत्मा शरीरादि का कर्ता नहीं है – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में पुद्गल में परस्पर बंधरूप परिणमन का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो द सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि।।१६३।
एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि।।१६४।
णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा।।१६५।

(हरिगीत)

रे अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं।
अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं।।१६३।।
परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए।
अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से।।१६४।।
परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो।।१६५।।

अप्रदेशी और प्रदेशमात्र अशब्द परमाणु स्निग्ध तथा रूक्ष होता हुआ द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

परमाणु के परिणमन के कारण एक (अविभागी प्रतिच्छेद) से लेकर एक-एक बढते हुए जबतक अनंतपने (अनत अविभागी प्रतिच्छेदपने) को प्राप्त हों; तबतक स्निग्धत्व और रूक्षत्व है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। परमाणु-परिणाम स्निग्ध हों या रूक्ष हों, सम अंशवाले हों या विषम अशवाले हों; यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो बंधते हैं जघन्य अशवाले नहीं बँधते।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"परमाणु दो आदि प्रदेशों के अभाव के कारण अप्रदेशी और एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र हैं तथा स्वयं अनेक परमाणु-द्रव्यात्मक शब्द पर्याय की प्रगटता असंभव होने से अशब्द हैं।

चार स्पर्श, पाँच रस, दो गंध और पाँच वर्णों के अविरोधपूर्वक सद्भाव के कारण वह परमाणु स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है; इसलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है।

एक परमाणु की दूसरे एक परमाणु के साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशीपने की अनुभूति है; एक परमाणु की अन्य दो परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशीपने का अनुभव है। इसप्रकार परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणत होने पर अनेकप्रदेशीपने का अनुभव करता है। इसप्रकार स्निग्ध-रूक्षत्व पिण्डपने का कारण है।

परमाणु के परिणाम होता है; क्योंकि परिणाम वस्तु का स्वभाव होने से उसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। उस परिणाम के कारण कादाचित्क (कभी-कभी होनेवाली) विचित्रता (अनेकरूपता) धारण करता हुआ, एक से लेकर एक-एक बढते हुए अनंत अविभागप्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है; क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।

समान से दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है – यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता होना परिणमन करानेवाला होने से बंध का कारण है।

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता – यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व और रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामकता का अभाव होने से बंध के कारणपने का अभाव है।"

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन सोदाहरण विस्तार से समझाते हैं; जिसका सार इसप्रकार है –

"जिसप्रकार शुद्ध-बुद्ध स्वभाव द्वारा यह आत्मा बन्ध रहित होने पर भी, पश्चात् अशुद्धनय से स्निग्ध के स्थानीय रागभाव तथा रूक्ष के स्थानीय द्वेषभावरूप से जब परिणमित होता है; तब परमागम में कही गयी विधि से बन्ध का अनुभव करता है।

उसीप्रकार परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी, जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप से परिणमित होता है; तब दूसरे पुद्गल के साथ विभाव पर्यायरूप बन्ध का अनुभव करता है।

बकरी के दूध में, गाय के दूध मे, भैंस के दूध में चिकनाई की वृद्धि के समान, जिसप्रकार जीव में बन्ध के कारणभूत स्निग्ध के स्थानीय-रागपना तथा रूक्ष के स्थानीय-द्वेषपना, जघन्य विशुद्धि-सक्लेश स्थान से प्रारम्भ कर परमागम में कहे गये क्रम से उत्कृष्ट विशुद्धि-संक्लेश पर्यन्त बढते हैं, उसीप्रकार पुद्गल परमाणु द्रव्य में भी, बन्ध के कारणभूत स्निग्धता और रूक्षता पहले कहे गये जलादि की तारतम्य (क्रम से बढती हुई) शक्ति के उदाहरण से एक गुण नामक जघन्य शक्ति से प्रारम्भ कर गुण नामक अविभागी प्रतिच्छेदरूप दूसरे आदि शक्ति विशेष से अनत सख्या तक बढते हैं; क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामी होने के कारण परिणाम का निषेध किया जाना शक्य नहीं है।

विशेष यह है कि – परम चैतन्य परिणति लक्षण परमात्मतत्त्व की भावनारूप धर्मध्यान, शुक्लध्यान के बल से, जिसप्रकार जघन्य स्निग्ध शक्ति के स्थानीय राग के क्षीण होने पर और जघन्य रूक्ष शक्ति के स्थानीय द्वेष के क्षीण होने पर, जल और रेत के समान जीव का बन्ध नहीं होता है; उसीप्रकार पुद्गल परमाणु के भी जघन्य स्निग्ध और रूक्ष शक्ति का प्रसग होने पर बन्ध नहीं होता है – ऐसा अभिप्राय है।"

यहाँ पर जानने की विशेष बात यह है कि यहाँ पर आत्मा के बध का उदाहरण देकर पुद्गल के बंध को समझाया गया है।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को ३ मनहरण और ८ दोहे – कुल मिलाकर ११ छन्दों मे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

अप्रदेशी अनू परदेशपरमान दर्व,
सो तो स्वयमेव शब्द परज रहत है।
तामैं चिकनाई वा रुखाई परिनाम बसै,
सोई बंध जोग भाव तास में कहत है॥
ताही सेती दोय आदि अनेक प्रदेशनि की,
दशा को बढ़ावत सुपावत महत है।
ऐसे पुद्गल को सुपिंडरूप खंध बँधै,
यासों चिदानंदकंद जुदोई लहत है॥३४॥

एक प्रदेशप्रमाण अप्रदेशी अणु स्वयमेव शब्द पर्याय से रहित है। उसमें जो चिकनाई और रूक्षता है; वही स्कधरूप बध का कारण है। उसी के कारण दो आदि प्रदेशों (परमाणुओं) का बध होता है। इसप्रकार स्कधरूप पुद्गल का पिंड बनता है, पर भगवान आत्मा इनसे जुदा ही है।

(दोहा)

अविभागी परमानु वह, शुद्ध दरव हैं सोय।
वरनादिक गुन पंच तो, सदा धरैं ही होय॥३५॥
एक वरन इक गंध इक, रस दो फास मँझार।
अंतर भेदनि में धरे, श्रुति लखि लेहु विचार॥३६॥

शुद्ध पुद्गलद्रव्य तो अविभागी परमाणु है। वह पाँच वर्णादि गुणों को सदा ही धारण किये रहता है।

वह एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो स्पर्श धारण किये रहता है – इसके भेदों के सदर्भ में शास्त्रों में देखना चाहिए।

(मनहरण कवित्त)

पुग्गल अनू में चिकनाई वा रुखाई भाव,
एक अंश तैं लगाय भाषे भेदरास है।
एकै एक बढ़त अनंत लौं विभेद बढै,
जातैं परिनाम की शकति ताके पास है॥

जैसे छेरी गाय भैंस ऊँटनी के दूध घृत,
तामें चिकनाई वृद्धि क्रमतैं प्रकास है।
धूलि राख रेत की रुखाई में विभेद जैसे,
तैसे दोनों भाव में अनंत भेद भास है।।३७।।

पौद्गलिक परमाणु में रूक्षता और चिकनाई एक अंश से ल भेदों की अनेक राशियाँ आगम में बताई गई हैं। एक-एक बढते अनंत तक भेदों का विस्तार है। इसीकारण उसमें स्वयं परिणमन शक्ति विद्यमान है। जिसप्रकार बकरी, गाय, भैंस और ऊँटनी के दूध में चिकनाई क्रमशः बढ़ती हुई पायी जाती है और धूल, राख और रेत रूक्षता में भेद होता है; उसीप्रकार पुद्गल की रूक्षता और स्निग्धत अनंत भेद पडते हैं।

पुग्गल की अनु चीकनाई वा रुखाईरूप,
आपने सुभाव परिनाम होय परनी।
अंशनि की संख्या तामें सम वा विषम होय,
दोय अंश बाढ़ही सों बंधजोग वरनी।।
एक अंश घटे बढ़े बँधत कदापि नाहिं,
ऐसो नेम निहचै प्रतीति उर धरनी।
चीकन रुखाई अनुखंध हू बँधत ऐसे,
आगमप्रमान तैं प्रमान वृन्द करनी।।३८।।

वृन्दावन कवि आगम प्रमाण के आधार पर यह बात कहते हैं पुद्गलाणु की चिकनाई व रूखाई अपने स्वभाव के अनुसार परिण होती है। उसके अंशों की सख्या या तो सम होती है या विषम होती सम का सम के साथ और विषम का विषम के साथ दो अश अधिक पर बंध होता है। यदि इसमें एक अश भी घट-बढ जावे तो फिर बंध होता। ऐसा निश्चित नियम है – इस बात का विश्वास करना चाहि

(दोहा)

दोय चार षट आठ दश, इत्यादिक सम जान।
तीन पॉच पुनि सात नव, यह क्रम विषम बखान।।३९।।

चीकनताई की अनू, सम अंशनि परमान।
दोय अधिक होतें बँधै, यह प्रतीत उर आन।।४०।।
रुच्छ भाव के जे अनू, ते विषमांश प्रधान।
दोय अधिक तैं बँधत हैं, ऐसें लखो सयान।।४१।।
अथवा चीकन रूक्ष को, बंध परस्पर होय।
दोय अंश की अधिकता, जोग मिलै जब सोय।।४२।।
एक अनू इक अंशजुत, दुतिय तीनजुत होय।
जदपि जोग है बंध के, तदपि बँधे नहिं सोय।।४३।।
एक अंश अति जघन है, सो नहिं बँधै कदाप।
नेमरूप यह कथन है, श्रीजिन भाषी आप।।४४।।

दो, चार, छह, आठ और दश आदि अंकों को सम जानो और तीन, पॉच, सात और नौ अंकों को विषम का क्रम कहा गया है।

चिकनाई वाले अणु सम अंशों के अनुसार दो अधिक होने पर बंधते हैं – हृदय में यह विश्वास करो।

रूक्ष भाववाले जो परमाणु हैं, उनमें विषम अशों की प्रधानता है। इनका भी दो अशों की अधिकता के साथ ही बध होता है। चतुर लोग ऐसा जानते हैं।

अथवा चिकने और रूखे परमाणुओं का परस्पर में जो बंध होता है, वह भी दो अंशों की अधिकता के आधार पर ही होता है।

एक अशवाला एक अणु हो और दूसरा अणु तीन अंशवाला हो तो ये दोनों यद्यपि बध के योग्य हैं, तथापि बँधते नहीं हैं।

एक अंश यदि अत्यन्त जघन्य हो तो वह कभी भी बंधता नहीं है। यह बात सुनिश्चित है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

पण्डित देवीदासजी भी इन गाथाओं का १ छप्पय, १ कवित्त और १ सवैया इकतीसा में इसीप्रकार विस्तार से स्पष्ट करते हैं, जो मूलत: पठनीय है। पुनरावृत्ति के भय से यहाँ देना उचित प्रतीत नहीं होता।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''छोटे से छोटे अणु के दो, तीन इत्यादि प्रदेश नहीं होते हैं; इसलिए वह अप्रदेशी है, किन्तु उसके एक प्रदेश तो होता ही है अर्थात् वह प्रदेशमात्र है।

एक परमाणु शब्दरूप नहीं होता; किन्तु अनेक परमाणु स्कंधरूप अवस्था धारण करें, तब शब्द उत्पन्न होता है। एक परमाणु में शब्द उत्पन्न करने की शक्ति नहीं; अत परमाणु अशब्द है।

उस परमाणु में आठ स्पर्श – हल्का-भारी, रूखा-चिकना, कडा-नरम, ठण्डा-गरम, पाँच रस, दो गध और पाँच वर्ण का सद्भाव होता है। उसमें **चिकने अथवा रूखेपन के कारण** परमाणु द्विप्रदेशादिपने से लेकर अनेकप्रदेशीपने रूप स्कंधरूप हो जाता है।

एक परमाणु का दूसरे एक परमाणु के साथ स्कंधरूप मे होना द्विप्रदेशीपना है तथा एक परमाणु का दूसरे दो परमाणु के साथ स्कधरूप में होना, वह त्रिप्रदेशीपना है।

इसप्रकार एक परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणमता हुआ अनेकप्रदेशीपने रूप होता है। इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलों की स्कधरूप अवस्था का कारण यह रूखापन और चिकनापन ही है।[1]

शरीर, मन व वाणी की पिण्डरूप अवस्था का कारण आत्मा नहीं; किन्तु उसके रूखेपन और चिकनेपनेरूप गुण हैं – ऐसा उन ज्ञेयों का सच्चा ज्ञान करे तो परद्रव्य के कर्त्तापने का अहंकार टूटे और सम्यग्ज्ञान हो।[2]

किसी गुण की पर्याय में अंश कल्पना करने पर उसमें जो छोटे से छोटा (निरशरूप) अश पडता है, उसको उस गुण की पर्याय का अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। उदाहरण के लिए जैसे बकरी की अपेक्षा गाय के दूध में और गाय की अपेक्षा भैंस के दूध में चिकनेपन के

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७० २ वही, पृष्ठ-१७०

अविभागप्रतिच्छेद अधिक होते हैं तथा धूल की अपेक्षा राख में और राख की अपेक्षा रेत में रूखेपन के अविभागप्रतिच्छेद अधिक होते हैं।

इसप्रकार स्कंधों की तारतम्यता का कारण उनके चिकने और रूखे गुण हैं – ऐसा उन ज्ञेयों का ज्ञान करो।[1]

पुद्गल की स्कंधरूप अवस्था उसके स्निग्धत्व व रूक्षत्व के कारण होती है। दो अधिक गुण वाला परमाणु दो कम गुणवाले को परिणमाने में निमित्त होता है। आत्मा स्कंध का कर्त्ता तो है ही नहीं; किन्तु उसमें निमित्त भी नहीं।[2]

कम अशवाला परमाणु परिणम्य है और दो अधिकवाला परमाणु परिणामक है। एक अशवाला रूक्षत्व अथवा स्निग्धत्ववाला परमाणु परिणामक तो है ही नहीं और जघन्यभाव में वर्तता होने से परिणम्य भी नहीं। इसप्रकार जघन्यभाव बंध का कारण नहीं। परिणम्य अर्थात् परिणमने योग्य और परिणामक अर्थात् दूसरे को परिणमाने में निमित्तभूत।

यहाँ गुण का अर्थ त्रिकाली गुण नहीं; अपितु गुण अर्थात् अंश समझना चाहिये।[3]

ज्ञेयों का इसप्रकार का स्वभाव है। ज्ञान ज्ञेयों के स्वभाव को जानता है; किन्तु ज्ञेयों को करता नहीं। ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो पर के कर्तृत्व का अहकार टलता है और स्वयं को शाति मिलती है।[4]''

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में पुद्गल स्कन्धों के बनने की प्रक्रिया समझाई गई है। एकप्रदेशीय पुद्गल परमाणु मूलत. पुद्गलद्रव्य है और अनेक परमाणुओं के स्कंध पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं।

पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से एकसाथ रहते हुए भी कभी परस्पर में मिलते नहीं हैं। आकाश, धर्म और अधर्म – ये तो

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७२
२ वही, पृष्ठ-१७४
३ वही, पृष्ठ-१७५
४ वही, पृष्ठ-१७५

एक-एक ही हैं; अत: इनके मिलने का तो कोई प्रश्न नहीं है। ये आकाशादि द्रव्य भी परस्पर नहीं मिलते; भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

कालद्रव्य असंख्यात हैं; परन्तु वे भी परस्पर कभी मिलते नहीं हैं। न तो आपस में ही मिलते हैं और न अन्य द्रव्यों के साथ ही मिलते हैं। इसप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन चार द्रव्यों में बंध का अभाव होने से इनमें बंधप्रक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता।

जीव अनन्त हैं; पर वे भी परस्पर नहीं मिलते। न तो वे परस्पर मिलते हैं और न धर्म, अधर्म, आकाश और काल से ही मिलते हैं। हाँ, पुद्गल के साथ उनका संबध अवश्य होता है, बंध अवश्य होता है।

पुद्गल तो परस्पर बंधते ही हैं; स्कध के रूप में परिणमित होते ही हैं। उनमें परस्पर और जीव के साथ उनके बध की प्रक्रिया का क्या स्वरूप है – यही बात यहाँ समझाई जा रही है।

उक्त बंध होने में कारण उनमे होनेवाली स्निग्धता और रूक्षता है। यद्यपि जीवों में स्निग्धता और रूक्षता नहीं होती; तथापि राग-द्वेष होते हैं। जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बध और नोकर्मों का सबध होने का कारण जीव की रागरूप स्निग्धता और द्वेषरूप रूक्षता ही है। बंध होने की उक्त संक्षिप्त प्रक्रिया यहाँ समझाई जा रही है।

विशेष जानने की बात यह है कि पुद्गलों के स्कन्धरूप परिणमन को जीव जानते तो हैं, पर उनमें कुछ करते नहीं हैं। ●

> यद्यपि यह बात सत्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव-पर्याय अनादि से नहीं है, तथापि अनादि-अनन्त सदा उपलब्ध ज्ञानस्वभाव के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और उसी में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है, अत सदा उपलब्ध त्रिकाली ध्रुव आत्मा के दर्शन भी स्वाधीन होने से सुलभ ही है। जबकि लौकिक सयोग पराधीन होने से सहज सुलभ नहीं, दुर्लभ हैं।
>
> – बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१५६

प्रवचनसार गाथा १६६-१६७

जो बात विगत गाथाओं में कही गई है; उसी बात को इन गाथाओं में और विशेष विस्तार से समझाते हैं तथा यह बताते हैं कि आत्मा उन पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ।।१६६।।
दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ।।१६७।।

(हरिगीत)

दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हो यदि चार तो।
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो ।।१६६।।
यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्षम-थूल हों संस्थान में।
तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से ।।१६७।।

दो अंशोंवाला स्निग्ध परमाणु चार अशोंवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ बंधता है अथवा तीन अंशोंवाला रूक्ष परमाणु पाँच अशोंवाले के साथ युक्त होकर बंधता है।

दो से लेकर अनन्त प्रदेशवाले सस्थानों (आकारों) सहित सूक्ष्म और स्थूल स्कध पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूप स्वयं के परिणामों से ही होते हैं।

इन गाथाओ का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यथोक्त हेतुओं से परमाणुओं का पिण्डत्व निर्धारित करके यह जानना चाहिए कि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पाँच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-

रूक्ष परमाणुओं के अर्थात् एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के परस्प बध होता है – यह प्रसिद्ध है। कहा भी है –

"णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला॥"
"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥"

पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी' होते हैं। उनमें से स्निग्ध पुद्गल स्निग के साथ बँधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बँधते हैं, स्निग्ध और रूक्ष भ बँधते हैं। जघन्य के अतिरिक्त सम अशंवाला हो या विषम अशवाला हो स्निग्ध का दो अधिक अशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का द अधिक अशवाले रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध का (दो अधिव अशवाले) रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है।

किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अशोवाल दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा र 'अरूपी' कहलाते हैं। जैसे – पॉच अश स्निग्धतावाले परमाणु को पॉच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसवे लिए 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि – विसदृशजाति के समा अशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' हैं और सदृशजाति के अथवा असमा अशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।

इसप्रकार विशिष्ट अवगाहनशक्ति से सूक्ष्म या स्थूल तथा विशि आकार धारण करने की शक्ति से अनेक प्रकार आकार धारण करनेवाल द्विप्रदेशादिक स्कध अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादि चतुष्क के आविर्भा और तिरोभाव की स्वशक्ति से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अप परिणामो से ही होते हैं।

इससे निश्चित होता है कि द्विअणुकादि अनतानत पुद्गलो क पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं। यहाँ तक कि उदाहरण के रूप में भी वे ही गाथायें उद्धृत करते हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में उद्धृत की गई हैं।

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण, १ छप्पय और ४ दोहे – इसप्रकार कुल मिलाकर ६ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें दोहे और छप्पय इसप्रकार हैं –

(दोहा)

चीकन की सम अंश तैं, विषम अंश तैं रुच्छ।
दोय अधिक होतें बँधैं, पुग्गलानु के गुच्छ ।।४६।।
चीकनता गुन की अनू, पाँच अंशजुत जौन।
सात अंश चीकन मिलै, बंध होतु है तौन ।।४७।।
चार अंश जुत रुच्छ सों, षट जुत सों बँध जात।
यही भाँति अनंत लगु, जानों भेद विख्यात ।।४८।।
दोय अनू अंशनि गिनैं, होहिं बराबर जेह।
ताको बँध बँधै नहीं, यों जिनवैन भनेह ।।४९।।

चिकने में सम अशों में और रूखे में विषम अशों में एक से दूसरे में दो अश अधिक होने पर पुद्गल परमाणुओं में बध होता है, उनसे स्कंध बन जाते हैं, गुच्छे बन जाते हैं। जो चिकनाई गुण का अणु पाँच अंशवाला हो, वह सात अंशवाले चिकने अणु से बध जाता है। चार अशवाला रूक्ष गुण छह अंशवाले से बध जाता है। इसीप्रकार अनन्त तक बधन की प्रक्रिया जानना चाहिए।

दोनों अणुओ के अश यदि बराबर हों तो उनमे परस्पर बध नहीं होता है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

(छप्पय)

दो प्रदेश आदिक अनंत, परमानु खंध लग।
सूच्छिम-बादररूप, जिते आकार धरे जग।।
तथा अवनि जल अनल, अनिल परजाय विविध गन।
ते सब निग्ध रु रुच्छ, सुभावहितैं उपजे भन।।

यह पुद्गलदरवरचित सरव, पुग्गल करता जानिये।
चिनमूरति यातैं भिन्न है, ताहि तुरित पहिचानिये ।।५०।।

दो प्रदेश से लेकर अनत प्रदेशों तक के परमाणुओं के सूक्ष्म और स्थूल आकारों के स्कध; जिनमें पृथ्वी, जल, अग्नि और हवा शामिल हैं; वे सभी स्कंध इसी सूक्ष्म और स्निग्ध स्वभाव के कारण ही उत्पन्न हुए हैं।

यह सब पुद्गलद्रव्य से निर्मित हैं और पुद्गल ही इनका कर्ता है; चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा इनसे पूर्णतः जुदा है। यदि आत्मकल्याण की भावना हो तो उसे तत्काल पहिचानना चाहिए, जानना चाहिए।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को ३ छप्पय, ३ दोहों – इसप्रकार ६ छन्दों में उसीप्रकार विस्तार से स्पष्ट करते हैं, जैसे कि ऊपर स्पष्ट किये जा चुके हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पॉच अश चिकने परमाणु के लिए पाँच अश रूखा दूसरा परमाणु रूपी है और बाकी के सब परमाणु उसके लिए अरूपी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विसदृश जाति के समान अशवाले परमाणु परस्पर रूपी हैं; सदृश जाति के अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर अरूपी हैं।[1]

जघन्य एक अशवाले परमाणु को छोडकर दो अशवाला हो या तीन अशवाला हो, उसमें दो अधिक अशवाला परमाणु रूखा, रूखे के साथ, चिकना चिकने के साथ और चिकना रूखे के साथ परस्पर पिंडरूप होता है।[2]

मात्र एक अशवाले परमाणु में जघन्यभाव होने के कारण स्कंधरूप होने की योग्यता नहीं है; अत एक अंशवाला चिकना या रूखा परमाणु तीन अंशवाले चिकने या रूखे परमाणु के साथ नहीं बंधता।[3]

एक अंशवाले को छोड़कर दो परमाणुओं के बीच में दो अश का

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७८
२ वही, पृष्ठ-१७८
३ वही, पृष्ठ-१७९

अंतर हो तो ही वे बंधते हैं। दो से अधिक या कम अंश का अंतर हो तो बंध नहीं होता। जैसे कि पाँच अंशवाला सात अंश वाले के साथ बधता है; पर आठ अंशवाले या छ· अशवाले के साथ नहीं बधता।[१]

स्कध स्वय की विशिष्ट अवगाहनशक्ति के कारण सूक्ष्म और स्थूल रूप होता है। शरीर, लकड़ी आदि स्थूल स्कंध हैं और भाषावर्गणा, कार्मणवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कंध हैं।[२]

स्कंधों में स्वयं में खास **अवगाहन विशिष्ट शक्ति** है, इसीकारण से सूक्ष्म और स्थूलरूप धारण करते हैं। आत्मा उनका कर्त्ता-हर्त्ता है ही नहीं। आत्मा है; इसलिए शरीरादि की, लकडी की या मकान आदि की स्थूल अवस्था होती है, यह बात पूर्णतया मिथ्या है। स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी स्कंध का कर्त्ता, हर्त्ता या प्रेरक आत्मा है ही नहीं।

वे स्कंध स्वयं की विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के कारण विचित्र आकार धारण करते हैं। उस आकार के होने में आत्मा कारण नहीं है। मिट्टी के पिण्ड में से घडे का आकार होता है, वह मिट्टी के कारण ही होता है; कुम्हार के कारण नहीं। निमित्त आए तो आकार बदलता है और निमित्त न आए तो आकार नहीं बदलता – ऐसा मानना बहुत बडी भूल है।[३]

इसप्रकार निश्चित होता है कि दो परमाणुओं के स्कंध से लेकर अनतानत परमाणुओं के स्कध तक सभी स्वयं के कारण परिणम रहे हैं, उनका कर्त्ता आत्मा नहीं है। अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ तो पुद्‌गलों की अवस्था होती है, परन्तु यह उसका भ्रम है। संयोगी दृष्टिवाला जीव हमेशा स्व तथा पर – दोनों को संयोग दृष्टि से देखता है; परन्तु यह आत्मा पर के संयोग रहित, निमित्त और विकार से भी रहित है, जो जीव अपने आत्मा को ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से देखता है, वह पर पदार्थों को भी उनके स्वभाव से देखता है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१७९

२ वही, पृष्ठ-१८१

३ वही, पृष्ठ-१८३

इसप्रकार स्कंधों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कर्त्ता-हर्त्ता या व्यवस्थापक आत्मा नहीं है; अपितु जड स्कंध स्वय ही स्वयं के व्यवस्थापक और कर्त्ता-हर्त्ता हैं – ऐसा स्कधों का, ज्ञेयों का ज्ञान करना ही धर्म का कारण है।[1]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि पुद्गलपरमाणु द्रव्यों की परस्पर स्कन्धरूप बध होने की एक सुनिश्चित प्रक्रिया है, जिसका सक्षेप में विवेचन यहाँ किया गया है। इसका विस्तृत विवेचन करणानुयोग के ग्रन्थो में प्राप्त होता है। उक्त सन्दर्भ में जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, वे अपनी जिज्ञासा उक्त ग्रन्थों के अध्ययन से शान्त करें।

यहाँ तो सक्षिप्त कथन करने के उपरान्त इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि पुद्गल परमाणु और स्कधों से जो शरीरादि की रचना होती है; उसमें भी आत्मा तो निमित्तरूप ही है, वह सम्पूर्ण रचना पुद्गलों की पर्यायगत योग्यता के कारण स्वसमय में स्वयमेव होती है।

इसलिए आत्मार्थी भाइयों को न तो उनमें अपनी इच्छानुसार फेरफार करने का विकल्प करना चाहिए और अपनी इच्छानुसार कार्य न होने पर किसी भी प्रकार की आकुलता भी नहीं करनी चाहिए।

यदि चारित्रगत कमजोरी के कारण विकल्प आ जावे, थोडी-बहुत आकुलता हो जावे तो भी उसे सहजभाव से ज्ञान का ज्ञेय बना लेना चाहिए। उस पर अधिक क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं है, व्यर्थ में अधिक आकुलता करने की भी आवश्यकता नहीं है।

इन गाथाओं और उनकी टीकाओं में एक तो यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों और शारीरिक नोकर्मों का कर्ता-धर्ता नहीं है और दूसरी बात यह बताई गई है कि यह आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों के लिए कार्मण वर्गणायें कहीं से लाता भी नहीं है।

लाने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार सम्पूर्ण

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१८४

लोकाकाश में संसारी जीव ठसाठस भरे हुए हैं, कहीं कोई भी जगह खाली नहीं है; उसीप्रकार कार्मण वर्गणायें भी सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र विद्यमान हैं; अत: उन्हें कहीं से लाने की आवश्यकता ही नहीं है।

जहाँ जीव हैं और उनके स्वयं के कारण जिससमय उनमें जिसप्रकार के रागादि भाव होते हैं; उसीसमय वहीं विद्यमान कार्मणवर्गणायें स्वयमेव ही तदनुरूप कर्मरूप परिणमित हो जाती है, उन्हें कहीं बाहर से नहीं लाना पडता।

यद्यपि दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिकभाव रहता है; तथापि वे स्वय ही अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण परिणमित होते हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीका में यह स्पष्ट किया गया है कि पौद्गलिक स्कन्धों का परस्पर बध एवं कार्मण वर्गणा के स्कंधों का आत्मा के साथ बध किसप्रकार होता है और उक्त बंध की क्रिया का कर्ता-धर्ता कौन है ? ●

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के सयोगों और सयोगीभावों में महान अतर हो सकता है। कहाॅ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक मे आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

सयोग और सयोगीभावों में महान् अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही हैं, एक सी ही है। अत. संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी सयोग और सयोगीभावो के आधार पर नहीं किया जा सकता।

– **पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-३९**

प्रवचनसार गाथा १६८-१६९

१६६-१६७वीं गाथा में **'आत्मा पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है'** – यह सिद्ध करने के उपरान्त अब आगामी गाथाओं में यह सिद्ध करते **हैं कि जिसप्रकार यह आत्मा पुद्गलपिण्डों का कर्ता नहीं है; उसीप्रकार उन्हें लानेवाला भी नहीं है तथा यह आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप भी नहीं करता।**

गाथाये मूलत: इसप्रकार हैं –

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं।।१६८।।
कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा।।१६९।।

(हरिगीत)

भरा है यह लोक सूक्षम-थूल योग्य-अयोग्य जो।
कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खंध के संयोग से।।१६८।।
स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति।
पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें।।१६९।।

यह लोक कर्मत्व के योग्य व अयोग्य सूक्ष्म और बादर – पुद्गल स्कन्धों से ठसाठस भरा हुआ है।

जीव की परिणति को निमित्तरूप से प्राप्त करके कर्मत्व के योग्य स्कध कर्मरूप परिणमित होते हैं; जीव उनको नहीं परिणमाता।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अति सूक्ष्म और अति स्थूल न होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले और अति सूक्ष्म और अति स्थूल होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित पुद्गलस्कन्धों द्वारा अवगाह की विशेषता के

कारण परस्पर बाधा किये बिना स्वयमेव सर्वप्रदेशों से लोक ठसाठस भरा हुआ है।

इससे निश्चित होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को नहीं लाता।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता। कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति संपन्न पुद्गल स्कंध तुल्य क्षेत्रावगाही बाह्य कारणरूप जीव के परिणाममात्र का आश्रय करके स्वयमेव ही कर्मभाव से परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में यद्यपि इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही करते हैं, तथापि निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं –

''अब यह अर्थ है कि निश्चय से शुद्धस्वरूप होने पर भी, व्यवहार से कर्मोदय के अधीन होने से पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म-स्थावरत्व को प्राप्त जीवों से लोक जिसप्रकार भरा रहता है; उसीप्रकार पुद्गलों से भी भरा रहता है। इससे ज्ञात होता है कि जिस शरीरावगाहक्षेत्र में जीव रहता है; उसी में बध के योग्य पुद्गल भी रहते हैं; जीव उन्हें बाहर से नहीं लाता।''

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ दोहा और २ मनहरण छन्दों में इसप्रकार समझाते हैं –

(मनहरण कवित्त)

लोकाकाश के असंख प्रदेश प्रदेश प्रति,
कारमानवर्गना भरी है पुद्गल की।
सूच्छिम और बादर अनंतानंत सर्वठौर,
अति अवगाढागाढ संधिमाहिं झलकी ।।
आठ कर्मरूप परिनमन सुभाव लियें,
आतमा के गहन करन जोग बल की।
तेईस विकार उपयोग को संजोग पाय,
कर्मपिंड होय बंधै रहै संग ललकी ।।५१।।

अनंतानंत सूक्ष्म और बादर पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें लोकाकाश

के असंख्य प्रदेशों में प्रदेश-प्रदेश में ठसा-ठस भरी हुई हैं। आठ कर्मरूप परिणमनस्वभाव को धारण करनेवाली वे वर्गणायें आत्मा के विकारी उपयोग का संयोग पाकर कर्मपिंड होकर आत्मा के साथ बंधी रहती हैं।

(दोहा)

तातैं पुद्गल करम को, आतम करता नाहिं।
भूल भावतैं जीव कै, करम धूलि लपटाहिं ।।५२।।

इसलिए पौद्गलिक कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा की भूलरूप भावों का निमित्त पाकर आत्मा से कर्मरूप धूल लिपट जाती है।

(मनहरण कवित्त)

कर्मरूप होन की सुभाव शक्ति जामैं वसै,
ऐसे जे जगत माहिं पुग्गल के खंध हैं।
तेई जब जगतनिवासी जग जीवनि के,
परिनाम अशुद्ध को पावैं सनबंध हैं।।
तबै ताईं काल कर्मरूप परिनवैं सोई,
ऐसो वृन्द अनादि तैं चलो आवै धंध है।
ते वै कर्मपिंड आतमा ने प्रनवाये नाहिं,
पुग्गल के खंध ही सों पुग्गल को बंध है ।।५३।।

जिनमें कर्मरूप परिणमन की स्वभाविक शक्ति रहती है; जगत में ऐसे जो पुद्गल के स्कध हैं; वे ही ससारी जीवो के अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर उसीसमय कर्मरूप परिणमित होकर जीवों से बध जाते हैं।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि इसप्रकार का धंधा अनादिकाल से चला आ रहा है। वस्तुत बात यह है कि उन कर्मपिण्डों को आत्मा ने परिणमित नहीं किया; इसलिए यह नक्की है कि पुद्गल का बध पुद्गल के साथ ही है; आत्मा के साथ नहीं।

वस्तुत: बात यह है कि बधप्रक्रिया सबधी यह प्रकरण करणानुयोग सबधी है। अत: इसमें सभी विद्वानों का वर्णन एक जैसा ही होता है। अत. सबके उद्धरण देने में पुनरावृत्ति बहुत होती है। इस बात को ध्यान मे रखकर ही यहाँ देवीदासजी के उद्धरणों को नहीं दिया जा रहा है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"कर्म होने योग्य परमाणु अतिसूक्ष्म नहीं होते; क्योंकि कर्म अनंत परमाणुओं का जत्था है। एक परमाणु से लेकर असख्य परमाणु तक कर्मरूप होने लायक नहीं हैं। अनंत परमाणु मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं।

इसीप्रकार से अतिस्थूलरूप परमाणु भी कर्मरूप नहीं परिणमते। जैसे कर्म के परमाणु अति सूक्ष्म नहीं होते, वैसे ही अति स्थूल भी नहीं होते।

कर्मरूप परिणमना अथवा नहीं परिणमना तो परमाणुओं की योग्यता है। यह परमाणु की समय-समय की योग्यता की बात है।[१]

जिसप्रकार मकान बनाने के लिए गाँव के बाहर से लकड़ी लानी पडती है; उसीप्रकार आत्मा राग-द्वेष करे तब कर्म के लकडे बाहर से लाने पडते हों – ऐसा नहीं है। जीव जितनी मात्रा में रागद्वेष करे, उतनी मात्रा में कर्म के लायक, उतने परमाणु अपने कारण से परिणमते हैं। आत्मा उन परमाणुओं को बाहर से नहीं लाता।[२]

कर्मरूप परिणमने की योग्यतावाले पुद्गल स्कंध जीव के साथ एक क्षेत्रावगाही होते हैं। वे जीव के परिणामों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमते हैं। उन स्कंधों का ज्ञानावरणादिप्रकृतिरूप परिणमना अंतरंग साधन है और जीव के परिणाम मात्र बाह्य साधन हैं।

दोनो का स्वतत्र परिणमन एक ही समय में है, कालभेद नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं परिणमाता।

एक क्षेत्र में रहने वाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्त मात्र बनाकर कर्म के योग्य पुद्गल अपनी अतरग शक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप से परिणम जाते हैं। जीव उनको परिणमाता नहीं है।[३]"

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१८६
२ वही, पृष्ठ-१८७
३ वही, पृष्ठ-१८९

इसप्रकार इन गाथाओं में और उनकी टीका में यह कहा गया है कि जिसप्रकार यह लोक अनन्त जीवों से ठसाठस भरा हुआ है; उसीप्रकार अनन्त कार्मण वर्गणाओं से भी भरा हुआ है; इसलिए जब आत्मा के रागादिभावों का निमित्त पाकर कार्मण-वर्गणायें अपनी पर्यायगत योग्यता से कर्मरूप परिणमित होती हैं; तब उन वर्गणाओं को दूसरी जगह से नहीं लानी पडती है; अपितु जहाँ जीव है, उसी स्थान से स्थित कार्मणवर्गणायें ही कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि न तो आत्मा पौद्‌गलिक कार्मणवर्गणाओं को कर्मरूप परिणमाता है और न उन्हें कहीं से लाता ही है। वहीं स्थित वे कार्मण वर्गणायें आत्मा के रागादिभावों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं, आत्मा से बंध जाती हैं – ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। ●

समवशरण में भी तो बाग-बगीचें हैं, नृत्यशालाऐं-नाट्यशालाऐं हैं, उनका दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं बनता है, अपितु दिव्यध्वनि मे आनेवाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्यग्दर्शन का देशनालब्धिरूप निमित्त है।

रगारग के कार्यक्रम में तो राग-रग में ही निमित्त बनते हैं, वीतरागतारूप धर्म के निमित्त तो वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं। अत सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत इन महोत्सवों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हों। तदर्थ शुद्धात्मा के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए। अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए।

– पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-७२-७३

प्रवचनसार गाथा १७०-७१

'आत्मा न तो पुद्गल कर्मों का कर्ता ही है और न उन्हें कहीं से लाता ही है' – विगत गाथाओं में यह सिद्ध करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह समझाते हैं कि औदारिक आदि शरीर पौद्गलिक हैं और वे जीव के साथ स्वयं बद्ध होते हैं।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥१७०॥
ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

(हरिगीत)

कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर।
को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुनः वे जीव की ॥१७०॥
यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण।
तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय ॥१७१॥

कर्मरूप परिणत वे-वे पुद्गलपिण्ड देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके पुनः पुनः शरीर होते हैं।

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर और कार्मण शरीर – ये सभी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में सक्षेप में इसप्रकार समझाते हैं –

''जिस जीव के परिणामों को निमित्तमात्र करके जो-जो पुद्गलकाय (पुद्गल-पिण्ड) स्वयमेव कर्मरूप परिणमित होते हैं; अनादि सततिरूप प्रवर्तमान देहान्तर (भवान्तर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर वे-वे पुद्गलकाय स्वयमेव शरीर बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस और कार्मण शरीर पुद्गल-द्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि शरीर आत्मा नहीं है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त गाथाओं का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं, पर निष्कर्ष के रूप में इससे क्या कहा गया – ऐसा प्रश्न उठाकर उसके उत्तर में लिखते हैं कि औदारिक शरीर नामक नामकर्म रहित परमात्मा को प्राप्त न करनेवाले अज्ञानी जीवों के द्वारा उपार्जित औदारिक शरीर नामकर्म उन्हें भवान्तर में प्राप्त होकर उदय में आते हैं; उनके उदय से नोकर्म पुद्गल औदारिकादि शरीर के आकार में स्वय ही परिणमित होते हैं।

यही कारण है कि जीव औदारिक शरीरों का कर्ता नहीं होता।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं का भाव २ छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण कवित्त)

जे जे दर्वकर्म परिनये रहे पुग्गल के,
कारमानवर्गना सुशक्ति गुप्त धरिके।
तेई फेर जीव के शरीराकार होहि सब,
देहान्तर जोग पाये शक्त व्यक्त करिके।।
जैसे बटबीज में सुभाव शक्ति वृच्छ की सो,
वटाकार होत वही शक्ति को उछरिके।
ऐसे दर्वकर्म बीजरूप लखो वृन्दावन,
ताही को सुफल देह जानों मर्म हरिके।।५४।।

औदारिक देह जो विराजै नरतीरक के,
नानाभाँति तास के अकार की है रचना।
तथा वैक्रीयक शरीर देव-नारकी के,
जथाजोग ताहू के अकार की है रचना।।
तैजस शरीर जो शुभाशुभ विभेद औ,
अहारक तथैव कारमान की विरचना।
ये तो सर्व पुग्गल दरव के बने हैं पिंड,
यातैं चिदानंद भिन्न ताहीसों परचना।।५५।।

गुप्त शक्ति की धारक पौद्गलिक कार्मण वर्गणायें जिन-जिन द्रव्यकर्मों रूप परिणमित हुई हैं; उनके उदय में आने पर आहारादि वर्गणायें औदारिकादि शरीररूप परिणमित होकर भवान्तर में भी देहादिरूप परिणमित हो जाती है।

जिसप्रकार वटवृक्ष होने की शक्ति वटबीज में विद्यमान रहती है और वह समय पर उल्लसित होकर वटवृक्षरूप हो जाती है; उसीप्रकार द्रव्यकर्म को बीजरूप जानना चाहिए और उसके सुफल के रूप में इस देह को जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि नोकर्मरूप देह देह नामक नामकर्म के उदय का परिणाम है।

जिसकी रचना अनेक प्रकार की होती है – ऐसा औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यंच के होता है। यथायोग्य है रचना जिसकी – ऐसा वैक्रियिक शरीर देव और नारकियों को होता है। शुभ और अशुभ के भेद से तैजस शरीर दो प्रकार का होता है। आहारक और कार्मण शरीर की भी रचना विशेषप्रकार से होती है।

उक्त सभी शरीर तो पुद्गल के पिण्ड हैं और भगवान आत्मा की सरचना इनसे पूर्णत: भिन्न ही है।

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ मुख्यता से शरीर की बात की है, उसमें मन, वाणी के परमाणु भी साथ ले लेना चाहिए। अत जो परमाणु मनरूप अथवा वाणीरूप परिणमते हैं, उसमें भी कर्म निमित्तरूप होता है।[१]

यहाँ तो शरीर, मन, वाणी आदि नोकर्म के कारणरूप से कर्म पुद्गल ही लिए हैं, पर आत्मा को निमित्त रूप से भी नहीं कहा। अत आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है।[२]

जैसे दिव्यध्वनि अपने कारण से परिणमती है; वैसे ही संसारी जीव की भाषा के पुद्गल भी अपने स्वयं के परिणमन के स्वकाल में वाणीरूप होकर निकलते हैं।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१९१ २ वही, पृष्ठ-१९१

अनंतवीर्यवाले तीर्थंकर भगवान भी भाषा की पर्याय नहीं कर सकते हैं तो फिर उनसे अनंतवें भाग जिसका वीर्य है – ऐसा संसारी जीव भाषा की पर्याय को बना सके – यह कैसे संभव है।[1]

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में कहा है कि मनुष्य तथा तिर्यंच का औदारिक शरीर होता है, नारकी तथा देव का वैक्रियिक शरीर होता है तथा किन्हीं मुनिराज का आहारक शरीर होता है, किन्तु तैजस व कार्मण शरीर तो सभी संसारी जीवों के ही होता है और यहाँ कहते हैं कि जीव को शरीर होता ही नहीं, शरीर तो पुद्गल जड परमाणु का बना हुआ है। सिद्धान्त प्रवेशिका में ससारी दशा में शरीर के संयोग का ज्ञान कराया है; किन्तु शरीर आत्मा का है, यहाँ ऐसा कहने का आशय नहीं है। पाँच शरीर पुद्गल परमाणुओं से बने हैं। रूखे-चिकनेपन के कारण पुद्गल स्कंध बने हैं, अवगाहना के कारण स्थूल सूक्ष्म बने हैं, आकार के कारण भिन्न-भिन्न संस्थान होता है।

कर्म की योग्यता के कारण स्कंध कर्मरूप होते हैं और कर्म का निमित्त पाकर जुदे-जुदे शरीर होते हैं। आत्मा उनका कर्ता नहीं, इसलिए आत्मा शरीर नहीं – ऐसा निश्चित होता है।[2]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ये औदारिक आदि शरीर शरीर नामक नामकर्म के उदयानुसार होनेवाले नोकर्मरूप परिणमन हैं। उक्त नामकर्म भी पौद्गलिक है और उसके उदयानुसार होनेवाला नोकर्मरूप शरीर भी पूर्णतः पुद्गल की रचना है; अत· इनका कर्ता-धर्ता पुद्गल ही है, आत्मा नहीं।

वस्तुतः बात यह है कि यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा और मन-वचन-कायरूप औदारिक शरीर पूर्णत. भिन्न-भिन्न हैं; अतः वे शरीरादि स्वय ही स्वय के स्वामी हैं और स्वयं ही स्वयं के कर्ता-भोक्ता हैं। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-१९२

२ वही, पृष्ठ-१९४

प्रवचनसार गाथा १७२

विगत गाथा में 'औदारिक आदि शरीर आत्मा नहीं है' – यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब यह बताते हैं कि शरीरादि सर्व परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न बतानेवाला आत्मा का असाधारण स्वलक्षण क्या है ?

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२।।

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है।।१७२।।

जीव को ऐसा जानो कि वह अरस है, अरूप है, अगंध है, अव्यक्त है, अशब्द है, अनिर्दिष्टसंस्थान है, चेतनागुण से युक्त है और अलिंग-ग्रहण है।

आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह गाथा, वह गाथा है कि जो आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों ग्रन्थों में पाई जाती है। समयसार में ४९वीं, नियमसार में ४६वीं, पचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड के भावपाहुड में ६४वीं गाथा है और इस प्रवचनसार में यह १७२वीं गाथा तो है ही।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है और पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह उद्धृत की गई है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथा है।

इस गाथा में अरस, अरूप, अगंध आदि आठ विशेषणों के माध्यम से आत्मा का स्वरूप समझाया गया है।

यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने कुन्दकुन्दत्रयी पर महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी हैं। समयसार पर आत्मख्याति, पंचास्तिकाय पर समय व्याख्या और इस प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका नामक टीकायें लिखी हैं।

उन्होंने अपनी इन तीनों टीकाओं में इस गाथा का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है; जो अपने-आप में अद्भुत है, मूलतः पठनीय है, मननीय है, गहराई से अध्ययन करने योग्य है और विशेष प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला है।

समयसार की आत्मख्याति टीका में अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त और अशब्द पदों की व्याख्या पर जोर दिया गया है, उनमें से प्रत्येक के छह-छह अर्थ किये हैं और अनिर्दिष्टसस्थान के चार अर्थ किये हैं; पर अलिंगग्रहण का सामान्य-सा एक अर्थ करके ही छोड दिया है; परन्तु प्रवचनसार की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका मे स्थिति इससे एकदम उल्टी है। इसमें अरसादि विशेषणों का एक-एक अर्थ ही किया गया है, जबकि अलिंगग्रहण का एक सामान्य अर्थ के अतिरिक्त बीस अर्थ और किये हैं; जो अपने-आप में अद्भुत हैं, गहराई से समझने योग्य हैं, मथन करने योग्य हैं।

तत्त्वप्रदीपिका में किये विशेष अर्थों पर विचार करने के पूर्व एक बात और भी जान लेना जरूरी है और वह यह कि मूल गाथा में पुद्गल के स्पर्श गुण का निषेध करनेवाला कोई शब्द नहीं है, इसकारण उसे आत्मख्याति में छन्दानुरोध से छूटा हुआ मानकर शामिल कर लिया गया है और उसके भी छह अर्थ किये हैं, परन्तु प्रवचनसार की इस तत्त्वप्रदीपिका टीका में अव्यक्त का ही अर्थ अस्पर्श किया है। जबकि आत्मख्याति मे अव्यक्त के अलग से चार अर्थ किये गये हैं।

उपर्युक्त सामान्य जानकारी देने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र इस ग्रथ प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में किसप्रकार करते हैं। टीका का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है –

"रस गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, रूप गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, गंध गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से तथा इन सबके कारण लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श (अव्यक्त) है, अशब्द है, अलिंगग्रहण है और अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है; इसकारण यह आत्मा पुद्गल से भिन्न है।

पुद्गल और अपुद्गल – ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का मूल साधन तो चेतनागुणवाला होना है। मात्र वही स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करता है।

यद्यपि यहाँ **अलिंगग्राह्य** कहा जाना चाहिए था; तथापि यहाँ **अलिंगग्रहण** कहा गया है। यह इस बात का सकेत है कि इस विशेषण के अनेक अर्थ हैं।

वे अनेक अर्थ इसप्रकार हैं –

१ ज्ञायक आत्मा लिंगों अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता; इसलिए अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

२ जिसे लिंगों अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

३ जिसप्रकार धुयें से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य) चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

४ दूसरों के द्वारा मात्र लिंग (अनुमान) द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं

होता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान से ही ज्ञात करने योग्य नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है; क्योंकि आत्मा अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जाना जाता है।

५. जो मात्र लिंग अर्थात् अनुमान से ही पर का ग्रहण (ज्ञान) नहीं करता; इसलिए अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा मात्र अनुमाता (अनुमान करनेवाला) ही नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी पर को जानता है।

६ आत्मा लिंग से नहीं, स्वभाव से ही ग्रहण करता है अर्थात् जानता है; इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

७ जो उपयोगलक्षण लिंग द्वारा ज्ञेय पदार्थों का ग्रहण नहीं करता अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं लेता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के बाह्य पदार्थों के अवलम्बनवाला ज्ञान नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

८. जो उपयोगलक्षण लिंग को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उपयोगलक्षण लिंग को बाहर से नहीं लाता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा बाहर से नहीं लाये जानेवाले ज्ञानवाला है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

९. जिसके उपयोगलक्षण लिंग का पर के द्वारा हरण नहीं हो सकता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१० जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है, उसीप्रकार जिसके उपयोगलक्षण लिंग में मलिनता नहीं है, विकार नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

११ जिसके उपयोगलक्षण लिंग द्वारा पौद्गलिक कर्मों का ग्रहण नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्यकर्म से असयुक्त है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१२ जिसे लिंग अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१३. लिंग अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणों के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण किये रहना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा रज और वीर्य के अनुसार होनेवाला नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१४. लिंग अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की गुप्तेन्द्रिय के आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है; वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१५. लिंग अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है; वह आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला-लोकव्याप्तिवाला नहीं है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१६. जो स्त्री, पुरुष और नपुसक लिंगों (वेदों) को ग्रहण नहीं करता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष व नपुंसक नहीं है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१७. जिस आत्मा के लिंगों अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण नहीं है; वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है – इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

१८ लिंग अर्थात् गुण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

१९. लिंग अर्थात् पर्याय, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

२०. लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार द्रव्य से नहीं आलिंगित शुद्धपर्याय है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए अलिंगग्रहण पद को छोड़कर शेष पदों का अर्थ तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; पर अलिंगग्रहण का अर्थ करते समय अलिंगग्रहण के अनेक अर्थ करते हुए भी तत्त्वप्रदीपिका के समान २० अर्थ नहीं करते।

वे लिंग शब्द के मुख्यरूप से तीन अर्थ करते हैं – १. इन्द्रियाँ २. अनुमान और ३ चिह्न।

आत्मा न तो मात्र इन्द्रियों द्वारा पर को जानता है और न पर से इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है; इसलिए अलिंगग्रहण है अर्थात् अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानता है और अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जाना जाता है।

इसीप्रकार आत्मा न तो अनुमान द्वारा पर को जानता है और न पर के द्वारा अनुमान से जाना जाता है; इसलिए अलिंगग्रहण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय होने से अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानता है और उसी के द्वारा जाना जाता है।

आत्मा न तो किन्हीं चिन्हों द्वारा जानता है और न किन्हीं चिन्हों द्वारा जाना जाता है; अतः अलिंगग्रहण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय होने से उसे चिन्हों द्वारा जानने और चिन्हों द्वारा ही जाने जाने (जानने में आने) की आवश्यकता नहीं है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा का भाव १ मनहरण, १ दोहा और १० चौपाइयों के माध्यम से समझाते हैं, पर वे भी २० अर्थों को पूरी तरह नहीं समझाते, कुछ अर्थों को ही समझाते हैं।

उनका कथन इसप्रकार है –

(मनहरण कवित्त)

अहो भव्यजीव तुम आतमा को ऐसो जानो,
जाके रस रूप गंध फास नाहिं पाइये।
शब्द परजाय सों रहित नित राजत है,
अलिंगग्रहन निराकार दरसाइये॥
चेतना सुभाव ही मैं राजै तिहूँकाल सदा,
आनंद को कंद जगवंद वृन्द ध्याइये।

भेदज्ञान नैन तैं निहारिये जतन ही सों,
ताके अनुभव रस ही में झर लाइये ।।५६।।

हे भव्यजीवो ! तुम आत्मा को इसप्रकार जानो कि उसमें पुद्गल के रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण तथा शब्द पर्यायें नहीं हैं और वह उन पर्यायों के बिना ही शोभायमान है, अलिंगग्रहण है, निराकार है और तीनों काल चेतना स्वभाव से ही शोभायमान हो रहा है।

कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि ऐसे आनन्द के कंद, जगत से वंदनीय भगवान आत्मा को भेदज्ञान की आँखों से बडे ही जतन से निहारिये, उसका ही ध्यान कीजिए और उसके अनुभवरस में ही सराबोर हो जाइये।

(दोहा)

शब्द अलिंगग्गहन गुरु, लिख्यौ जु गाथामांहि।
कछुक अरथ तसु लिखत हों, जुगतागम की छांहि ।।५७।।

गुरुदेव ने गाथा में अलिंगग्रहण शब्द लिखा है। युक्ति और आगम के अनुसार उसके कुछ अर्थों को लिखता हूँ।

(चौपाई)

चिह्न सुपुद्गल के हैं जिते। फरस रूप रस गंध जु तिते।
तिन करि तासु लखिय नहिं चिह्न। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।५८।।
अथवा तीन लिंग जगमाहिं। नारि नपुंसक नर ठहराहिं।
ताहूकरि न लखिय तसु चिह्न। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।५९।।
अथवा लिंग जु इंद्रिय पंच। ताहूकरि न लखिय तिहि रंच।
अतिइन्द्रियकरि जानन सहन। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।६०।।
अथवा इन्द्रियजनित जु ज्ञान। ताकरि है न प्रतच्छ प्रमान।
नहिं है आतम को यह चिह्न। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।६१।।
अथवा लिंग नाम यह जुप्त। लच्छन प्रगट लच्छ जसु गुप्त।
धूम अग्नि जिमि तिमि नहिं चिह्न। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।६२।।
अथवा आनमती बहु बकैं। दोषसहित लच्छन अन तकैं।
ताहूकरि न लखिय तसु चिह्न। याहूतैं सु अलिंगग्गहन ।।६३।।

इत्यादिक बहु अरथविधान। शब्द अलिंगगहन को जान।
सो विशाल टीकातैं देखि। पंडित मन में दियौ विशेखि॥६४॥
यह चेतन चिद्रूप अनूप। शुद्ध सुभाव सुधारसकूप।
स्वसंवेदनहिकरि सो गम्य। लखहिं अनुभवी समरसरम्य॥६५॥
शब्दब्रह्म को पाय सहाय। करि उद्दिम मन-वचन-काय।
काललब्धि को लहि संजोग। पावैं निकटभव्य ही लोग॥६६॥
तातैं गुन अनंत को धाम। वचन अगोचर आतमराम।
वृन्दावन उर नयन उघारि। देखो ज्ञानज्योति अविकारि॥६७॥

रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि पुद्गल के जितने भी चिन्ह हैं; उन सभी से आत्मा की पहिचान नहीं होती, इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है।

अथवा जगत में स्त्रीलिंग, पुल्लिंग और नपुसक लिंग – ये लिंग प्रसिद्ध हैं; इनसे भी आत्मा की पहिचान नहीं होती; इसलिए भी आत्मा अलिंगग्रहण है।

अथवा पाँच इन्द्रियाँ ही लिंग हैं, चिन्ह हैं; उनसे भी आत्मा की पहिचान रंचमात्र नहीं होती; क्योंकि वह तो अतीन्द्रियज्ञान से जाननेवाला या जानने में आनेवाला तत्त्व है; इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है।

अथवा इन्द्रियजनितज्ञान से प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण, वह भी आत्मा का चिन्ह नहीं है, इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है।

अथवा लिंग नामक जो युक्ति है, वह प्रगट है; इसप्रकार लक्षण प्रगट है, पर लक्ष्य गुप्त है। जिसप्रकार धूम से अग्नि जान ली जाती है; उसीप्रकार आत्मा लिंग नामक चिन्ह से नहीं जाना जाता; अत. अलिंगग्रहण है।

अथवा अन्यमती बहुतप्रकार की बातें करते हैं, वे जो भी लक्षण बताते हैं; वे सभी सदोष हैं। उनसे भी आत्मा जानने में नहीं आता; इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है।

अलिंगग्रहण शब्द के अनेकप्रकार के बहुत से अर्थ होते हैं। उन्हें आचार्य अमृतचन्द्रकृत विशाल टीका तत्त्वप्रदीपिका से जानना चाहिए। उसे जानकर पंडितजनों को विशेष हर्ष होगा।

यह चेतन आत्मा अनुपम है, अमृतरस का कुआँ है, शुद्धस्वभावी है, स्वसंवेदन ज्ञान से ही गम्य है, स्वसंवेदनज्ञान से ही जाना जाता है। रमणीय समतारस से संपन्न उक्त आत्मा को अनुभवी आत्मा ही देखते हैं, जानते हैं।

काललब्धि के संयोग होने पर, शब्दब्रह्म के सहयोग से, मन-वचन-कायपूर्वक पुरुषार्थ करने पर निकट भव्यजीव ही उक्त आत्मा की प्राप्ति करते हैं।

इसलिए वृन्दावन कवि कहते हैं – वचन-अगोचर अनन्त गुणों के धाम आतमराम को हमने हृदयरूपी नयनों को उघाडकर अविकारी ज्ञानज्योति को देखा है।

पण्डित देवीदासजी प्रवचनसारभाषाकवित्त में इस महत्त्वपूर्ण गाथा को मात्र एक छन्द में ही समेट लेते हैं। इसका कारण यह है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन कृत टीकाओं को आधार न बनाकर मूल ग्रन्थ के आधार पर ही अपने प्रवचनसारभाषाकवित्त को प्रस्तुत कर रहे हैं।

उनका उक्त छन्द इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जाकैं पंच रस नांही पंच ही वरन नाहीं
दुविध प्रकार जाकैं गंध सो न आनियै।
आठ ही सपर्स गुन नाहीं सो स्वरूप गुप्त
ग्यान और दर्शन मई सु पहिचानियै ॥
सब्द पर्जाय नय सुभाव जाकौ निश्चैकरि
पुग्गलीक चिन्ह करि ग्राहज न मानियै।
सवइ संस्थानि विना निराकार सुद्ध रूप
भैया भव्य ऐसो जीव द्रव्य ताहि जानियै ॥१३३॥

जिसके स्वभाव में पाँच रस नहीं हैं, पाँच वर्ण नहीं हैं; दो प्रकार की गंध तथा आठ प्रकार के स्पर्श भी नहीं हैं। जो अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप में गुप्त है, ज्ञान-दर्शनमय है। निश्चय से जिसके स्वभाव के ग्राहक पौद्गलिक

शब्द पर्याय या चिन्ह विशेष नहीं है। सभी संस्थानों से रहित निराकार शुद्धरूप जो जीव का स्वभाव है; हे भाई ! हे भव्यजनों !! तुम उसे जीवद्रव्य जानो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"आत्मा को सर्वप्रथम पुद्गलों से भिन्न किया। पश्चात् अन्य अजीवों से भिन्न किया। अब अन्य जीवों से भिन्न करते हैं। अपना चेतनागुण अपने आत्मा के आश्रय से है, अन्य आत्मा के आश्रय नहीं है। वह स्वयं का चेतना गुण स्वय को अनत केवली, सिद्ध, अनंत निगोद इत्यादि अनंत जीवों से भिन्न करता है; क्योंकि स्वय का चेतना गुण स्वयं का स्वलक्षण है। उसको सदा स्वय धारण कर रखता है। साधकदशा में धर्म की साधना के लिए चेतना गुण प्रयुक्त होता है।[१]

इस ज्ञेयतत्त्व अधिकार में अलिंगग्रहण कहने का कारण यह है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों तथा पर्यायों का पिंड है। यह ज्ञेय (आत्मा) पदार्थ इन्द्रियों से कार्य करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। इन्द्रिय के अवलम्बन बिना स्वय से ज्ञान करे, ऐसा उस ज्ञेय का स्वभाव है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो – ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है, अन्तर्मुख देखने से ज्ञात हो – ऐसा है।[२]

१ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है; ऐसा तू जान।[३]

२ आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है; ऐसा तू जान।

३ आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है; ऐसा तू जान।[४]

४ आत्मा स्वतत्त्व है, वह परतत्त्व द्वारा नहीं जानता है, परतत्त्व द्वारा ज्ञात नहीं होता है, उसीप्रकार परतत्त्व के अनुमान द्वारा भी ज्ञात नहीं होता, परन्तु स्वतत्त्व से ही जानता है और ज्ञात होता है; ऐसा तू जान।[५]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२०१
२ वही, पृष्ठ-२११
३ वही, पृष्ठ-२१७
४ वही, पृष्ठ-२१८
५ वही, पृष्ठ-२१९

सर्वज्ञ देवाधिदेव अरहंत तथा सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय, मुनि आदि के आत्मा को जानना हो तो मात्र अनुमान द्वारा ज्ञात हो सके – ऐसा वह आत्मा नहीं है।[१]

चौथे बोल में कहा है कि अन्य जीव तेरे आत्मा को अथवा पंचपरमेष्ठी के आत्मा को मात्र अनुमान द्वारा जानने का प्रयत्न करें तो वे ज्ञात नहीं होंगे।

अब यहाँ पाँचवें बोल में कहते हैं कि तू केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है। आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला हो तो अनुमानरहित प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करने का अवसर ही नहीं आयेगा।[२]

यहाँ यह कहा है कि आत्मा इन्द्रियों से स्व-पर को नहीं जानता है, आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है, आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है, आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से ज्ञात नहीं होता है और आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से स्व-पर को नहीं जानता है। इन पाँच लिंगों द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता; अतः आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे भाव की प्राप्ति होती है।[३]

पहले पाँच बोलों में द्रव्य का (आत्मा का) नास्ति से कथन किया है। आत्मा किसी बाह्य चिन्ह से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; इसप्रकार नास्ति से आत्मद्रव्य का कथन किया। छठवें बोल में आत्मद्रव्य की अस्ति से बात कही। अब सातवें बोल से आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय-उपयोग का कथन करते हैं।

यहाँ लिंग का अर्थ उपयोग कहा है। जिसको लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलंबनवाला ज्ञान नहीं है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।[४]

जिस उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का आलंबन नहीं है; परन्तु स्व का

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२२०
२ वही, पृष्ठ-२२३
३ वही, पृष्ठ-२२६
४ वही, पृष्ठ-२२८-२२९

आलंबन है – ऐसे उपयोग लक्षणवाला तेरा आत्मा है। इसप्रकार तेरे आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलबनयुक्त ज्ञान नहीं है; परन्तु स्वभाव के आलंबनयुक्त ज्ञान है।

अब इस आठवें बोल में उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता, ऐसा कहते हैं।[१]

बोल १ आत्मा द्रव्य है, वह स्वयं इन्द्रियों से स्व तथा पर को जाने, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।

बोल २. आत्मा स्वय इन्द्रियों से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।

बोल ३ धूम्र द्वारा अग्नि ज्ञात हो, उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियों के अनुमान से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वभाव नहीं है।

बोल ४ अन्य द्वारा आत्मा केवल अनुमान से ज्ञात हो, वह ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है। अन्य जीव रागरहित स्वसवेदनज्ञान द्वारा आत्मा को जाने तो वह ज्ञात हो सकता है।

बोल ५ स्वयं अन्य आत्मा को केवल अनुमान से जाने, स्वय का ऐसा स्वभाव नहीं है, वह स्वसंवेदन से जान सकता है।

बोल ६ आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। परपदार्थ की अपेक्षारहित, इन्द्रिय तथा मन के आलबनरहित, स्वय स्वयं को प्रत्यक्ष जाने – ऐसा उसका ज्ञातास्वभाव है।

बोल ७ छह बोलों में द्रव्य का कथन किया है। सातवें बोल से ज्ञान उपयोग का कथन करते हैं। उपयोग भी ज्ञेय है। उस ज्ञेय का स्वभाव कैसा है, वह कहते हैं[२] –

उपयोग को पर का आलबन नहीं हो सकता है, इसप्रकार सातवें बोल में कहा है; उसे बाहर से लाया नहीं जाता है, ऐसा आठवें बोल में कहा है और उसे कोई हरण नहीं कर सकता है – ऐसा नवमें बोल में कहा है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२३४ २ वही, पृष्ठ-२३५

ज्ञेयों का आलंबन लेना ज्ञान का कार्य नहीं है, बाहर से वृद्धि को प्राप्त होना ज्ञान का कार्य नहीं है और किसी के द्वारा हीन हो जाय – ऐसा भी वह ज्ञान नहीं है।[१]

जिसे लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोग-स्वभावी है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

द्रव्य, गुण तो अनादि-अनत शुद्ध हैं; परन्तु उपयोग में भी मलिनता नहीं है, ऐसा इस बोल में कहा है। चन्द्र कलंकित कहलाता है; परन्तु सूर्य में कोई धब्बा नहीं है। जिसप्रकार सूर्य में किसी भी प्रकार की मलिनता नहीं है; उसीप्रकार उपयोग भी सूर्य की भाँति कलकरहित है।[२]

जिसप्रकार द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है; उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध है – ऐसा कहा है। अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव शुद्ध है, उसमें जो पर्याय एकाकार होती है; यहाँ उस पर्याय को ही उपयोग कहा है और शुद्धोपयोगस्वभावी आत्मा को ही आत्मा कहा है।[३]

लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असयुक्त (असबद्ध) है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

उपयोग द्रव्यकर्म को ग्रहण ही नहीं करता है और द्रव्यकर्म के आने में निमित्त भी नहीं होता है – ऐसा यहाँ कहना है।[४]

आत्मा द्रव्य है और उपयोग उसकी पर्याय है अथवा आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है। लक्षण के बिना लक्ष्य नहीं हो सकता है और लक्ष्य के बिना लक्षण नहीं हो सकता है। आत्मा पहिचानने योग्य पदार्थ लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है, जिससे आत्मा पहिचाना जा सकता है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२४२
२ वही, पृष्ठ-२४२-२४३
३ वही, पृष्ठ-२४३
४ वही, पृष्ठ-२४४

१. सातवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही आलंबन करता है; अत: उसे परपदार्थों का अवलंबन नहीं है।

२. आठवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में से आता है। अत: ज्ञान परपदार्थों में से नहीं आता है।

३. नवमें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही आश्रय करता है। अत: ज्ञान को पर के द्वारा हरण नहीं किया जा सकता है।

४. दसवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में ही एकाग्र होता है, परपदार्थों में एकाग्र नहीं होता है; अत: उसमें मलिनता नहीं है।

५. ग्यारहवें बोल में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में ही एकाग्र होता है, परन्तु परपदार्थ, कर्म आदि का ग्रहण नहीं करता है, अत: यह असंयुक्त है।[१]

इसप्रकार अपना ज्ञान-उपयोग भी ज्ञेय है। वह ज्ञेय पुद्‌गलकर्म को ग्रहण नहीं करता है; जिससे उपयोग लक्षणयुक्त आत्मा भी पुद्‌गलकर्म को ग्रहण नहीं करता है – ऐसा तेरा स्वज्ञेय जिसप्रकार है, उसप्रकार तू जान; ऐसा आचार्य भगवान आदेश देते हैं।

ज्ञेय जिसप्रकार है, उसीप्रकार यथार्थ जानना-सम्यग्दर्शन है और सम्यग्ज्ञान का कारण है और उससे धर्म और शांति की प्राप्ति होती है।[२]

जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह बारहवाँ बोल है।[३]

लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवतत्त्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है,' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह तेरहवाँ बोल है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२४६ २ वही, पृष्ठ-२४७ ३ वही, पृष्ठ-२४९

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु – ये दस प्राण हैं; परन्तु जीव उनसे जीवित नहीं रहता है; क्योंकि वे दसों प्राण जड़ हैं और आत्मा तो शाश्वत चैतन्यप्राणवाला है। जड़प्राण का आत्मा में अभाव है; अतः आत्मा जड़प्राण से जीवित नहीं रहता है।[१]

इसप्रकार आत्मा माता-पिता के रज और शुक्र का अनुसरण करके होनेवाला नहीं है और उनके द्वारा उत्पन्न नहीं होता है।[२]

लिंग का अर्थात् मेहनाकार का (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) ग्रहण जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह चौदहवाँ बोल है।

जो पुरुष की इन्द्रिय की, स्त्री की इन्द्रिय की, नपुंसक की इन्द्रिय की आकृतियाँ दिखाई देती हैं; वे तो सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। उन आकृतियों का आत्मा में अभाव है और उस आकार में आत्मा का अभाव है। जिस वस्तु का जिसमें अभाव होता है, उस अभावरूप वस्तु का ग्रहण हो, ऐसा बन ही नहीं सकता। अतः आत्मा इन्द्रिय के आकार का ग्रहण नहीं करता है।[३]

आत्मा पुरुषादि की इन्द्रिय के आकार को ग्रहण नहीं करता है; अतः आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि तू जड़ इन्द्रियों का आश्रय छोड और चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता कर तो तेरे में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यरूप पर्याय प्रगट होगी। अतः आत्मा लोकोत्तर साधन है।

इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है, परन्तु लोकोत्तर साधन है; ऐसा स्वज्ञेय का ज्ञान-श्रद्धान करना वह धर्म का कारण है।[४]

लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात्

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२५७
२ वही, पृष्ठ-२५२
३ वही, पृष्ठ-२५३
४ वही, पृष्ठ-२५४

लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला – लोकव्याप्तिवाला नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह पन्द्रहवाँ बोल है।[१]

प्रत्येक आत्मा जिसप्रकार संसार में प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रहता है; उसीप्रकार मुक्त होने के पश्चात् भी भिन्न-भिन्न रहता है। वह लोक में व्याप्त नहीं होता है, अपने असख्य प्रदेश को छोडकर लोक में व्याप्त होना, यह उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा शुद्ध होने के पश्चात् अपने अंतिम शरीरप्रमाण से किंचित् न्यून अपने आकार में – निश्चय से अपने असंख्य प्रदेश में रहता है और ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण व्यवहार से लोक के अग्रभाग में विराजता है।[२]

जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुसक नहीं है', इस अर्थ की प्राप्ति होती है – यह सोलहवाँ बोल है।

शरीर का आत्मा में अभाव है। चौदहवें बोल में कहा था कि पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार आत्मा में नहीं है। यहाँ कहते हैं कि स्त्री, पुरुष अथवा नपुसक शरीर का आत्मा में अभाव है; क्योंकि वह जड है, अजीवतत्त्व है और आत्मा तो जीवतत्त्व है।[३]

आत्मा भाववेद और द्रव्यवेद रहित अवेदी है, अपने ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध आनद का भोग करनेवाला है, ऐसी स्वदृष्टि करे और पर की दृष्टि छोडे तो सम्यग्दर्शन होता है और धर्म होता है।[४]

आत्मा तो अपने ज्ञान, दर्शन, सुख आदि का वेदक है; परन्तु शरीर तथा विकारी भाव का वेदक नहीं है।[५] पुरुषादि के आकार को आत्मा मानना, वह जड को जीव मानने जैसा है और भाववेद को आत्मा मानना, वह पापतत्त्व को जीवतत्त्व मानने जैसा है। अजीव को जीव मानना तथा

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२५४ २ वही, पृष्ठ-२५५
३ वही, पृष्ठ-२५६ ४ वही, पृष्ठ-२५७ ५ वही, पृष्ठ-२५८

पाप को जीव मानना अधर्म है; परन्तु शरीर तथा भाववेद से रहित आत्मा शुद्धचिदानन्दस्वरूप है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है, जीवनकला है; सुखी जीवन कैसे जीना, उसकी यह कुंजी है।

लिंगों का अर्थात् धर्मचिन्हों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'; इस अर्थ की प्राप्ति होती है – यह सत्तरहवाँ बोल है।[१]

लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला – ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह अठारहवाँ बोल है।

आत्मा वस्तु है। वह अनंतगुणों का पिण्ड है। वह मात्र ज्ञानगुणवाला नहीं है। अभेद आत्मा गुण के भेद को स्पर्श करे – ऐसा नहीं है।[२]

आत्मा में ज्ञानादि अनत गुण हैं। ज्ञानगुण, दर्शनगुण आदि गुणभेद आत्मा में होने पर भी अनंत गुणों का एक पिंडरूप आत्मा गुणभेद का स्पर्श नहीं करता है। 'मैं ज्ञान का धारक हूँ और ज्ञान मेरा गुण है' ऐसे गुण-गुणी के भेद को अभेद आत्मा स्वीकार नहीं करता है। अभेद आत्मा भेद का स्पर्श करे तो वह भेदरूप हो जाये, भेदरूप होने पर अभेद होने का प्रसंग कभी भी प्राप्त नहीं हो और अभेद माने बिना कभी भी धर्म नहीं होता है।[३]

आत्मा त्रिकाली गुणों का पिंड है, वह सामान्य है और दर्शन आदि गुण वे विशेष हैं। सामान्य विशेष को स्पर्श नहीं करता है, सामान्य सामान्य में है, विशेष विशेष में है। सामान्य में विशेष नहीं है और विशेष में सामान्य नहीं है। सामान्य ऐसे आत्मा विशेष ऐसे ज्ञानगुण को स्पर्श करे तो सामान्य और विशेष एक हो जायें, दोनों पृथक् नहीं रहें। अनंतगुणों का समूहरूप एकाकार आत्मा मात्र ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२५९
२ वही, पृष्ठ-२६१
३ वही, पृष्ठ-२६१-२६२

यहाँ शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा कराई है। शरीररहित, कर्मरहित, विकाररहित गुणभेदरहित – ऐसे अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करानी है।[१]

लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला – ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह उन्नीसवाँ बोल है।[२]

१८वें बोल में 'अर्थावबोध' शब्द दिया था और कहा था कि गुणभेद होने पर भी अभेद आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है, इसप्रकार गुणभेद का निषेध कराकर अभेद आत्मा की श्रद्धा कराई थी। यहाँ ऐसा कहते हैं कि साधकदशा में सम्यग्ज्ञान की निर्मलपर्याय को अथवा केवलज्ञान के समय केवलज्ञानी की पूर्ण निर्मलपर्याय का आत्मा चुम्बन नहीं करता है, स्पर्श नहीं करता है। द्रव्य, पर्याय जितना ही नहीं है इसप्रकार कहकर पर्याय-अंश का लक्ष छुड़ाना है और अंशी द्रव्य की श्रद्धा करानी है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता है आलिंगन नहीं करता है; परन्तु आत्मा नित्य शुद्धद्रव्य है - ऐसा तेरा ज्ञेयस्वभाव है। जैसा ज्ञेयस्वभाव है; वैसा जाने तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो। ऐसी अपूर्व बात अनंतकाल में सुनने को मिली है। यथार्थ समझ करके सम्यक् प्रतीति करे तो धर्म हो, परन्तु जिसको यह बात सुनने को भी नहीं मिली है, उसे तो धर्म कहाँ से होगा ?[३]

शुद्धस्वभावी द्रव्य नित्य है और निर्मल पर्याय एकसमय की होने से अनित्य है। नित्य शुद्धद्रव्य अनित्य सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की पर्याय को निश्चय से स्पर्श करे तो द्रव्य नित्य नहीं रहता है अर्थात् द्रव्य के क्षणिक होने का प्रसंग आता है; परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२६३
२ वही, पृष्ठ-२६४
३ वही, पृष्ठ-२६५

जिसप्रकार १८वें बोल में कहा था कि अभेद आत्मा में भेद का अभाव है; अतः अभेद आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है; उसीप्रकार यहाँ नित्य ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा त्रिकाली है, वह एकसमय की अनित्य निर्मलपर्याय का स्पर्श नहीं करता है।[1]

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है – यह बीसवाँ बोल है।

अठारहवें बोल में – त्रिकाली द्रव्य, सामान्य, वह ज्ञानरूप गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है। आत्मा में ज्ञानगुण का भेद नहीं है अर्थात् आत्मा सामान्य अभेदरूप है, ऐसा कहा था। उन्नीसवें बोल में – त्रिकाली द्रव्यसामान्य में ज्ञान की पर्याय नहीं है। अर्थात् सामान्य में विशेष नहीं है, सामान्य में विशेष का अभाव है; ऐसा कहा था। यहाँ बीसवें बोल में कहते हैं कि एकसमय की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अभाव है। ज्ञानगुण की पर्याय त्रिकाली ज्ञानगुण के आधार से नहीं है, विशेष सामान्य के आधार से नहीं है। एकसमय की सम्यग्ज्ञान की पर्याय अथवा केवलज्ञान की पर्याय निरपेक्ष है। त्रिकाली गुण के आधार से वह प्रगट नहीं होती है; इसप्रकार निरपेक्षता बतलाई है।

इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसी शुद्धपर्याय है; ऐसा यहाँ बतलाया है।

सामान्य के आधार से विशेष मानने में आये तो विशेष निरपेक्ष सिद्ध नहीं होता है। विशेष को पराधीन माने तो पराधीनदशा होती है, वह पर्यायबुद्धि है।[2]

जिसप्रकार १८वें बोल में कहा था कि द्रव्य अभेद है, उसीसमय ज्ञानादि गुणभेद है तो सही; किन्तु अभेदस्वभाव में ज्ञानादि गुणभेद का अभाव है; अतः द्रव्य ज्ञान को स्पर्श नहीं करता।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२६५ २ वही, पृष्ठ-२७५

१९वें बोल में कहा था कि गुण सामान्य है, उसीसमय ज्ञान की निर्मल पर्याय है; परन्तु सामान्य शक्तिस्वरूप द्रव्य में ज्ञान की निर्मलपर्याय का अभाव है अर्थात् सामान्य में विशेष का अभाव है; अत: द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता।

२०वें बोल में इसप्रकार कहते हैं कि जब शुद्धपर्याय है; उसीसमय त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है; परन्तु ज्ञान की शुद्धपर्याय में द्रव्यसामान्य का अभाव है अर्थात् विशेष में सामान्य का अभाव है; अत: शुद्धपर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती।

शुद्धपर्याय में सामान्य का अभाव है; क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव नहीं हो तो विशेष और सामान्य एक हो जायें; वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। विशेष विशेष से ही है, सामान्य से नहीं है। यहाँ विशेष निरपेक्ष है, यह सिद्ध करना है।[१]

समय-समय की पर्याय सत् अहेतुक है। वह निमित्त की अथवा राग की अपेक्षा नहीं रखती है; किन्तु ज्ञानगुण सामान्य है, उसकी भी अपेक्षा नहीं रहती है। इसप्रकार उसकी निरपेक्षता बतलाई है। जो शुद्धपर्यायरूप परिणमित है, वही आत्मा है, आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। इसप्रकार बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराई है। सामान्य तथा विशेष के भेदवाला आत्मा सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं है। शुद्धपर्याय, वही आत्मा है; इसप्रकार कहकर अभेददृष्टि कराई है।[२]

इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसी शुद्धपर्याय है। आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। आत्मा और शुद्धपर्याय में भेद नहीं है।

इसप्रकार तेरे स्वज्ञेय आत्मा को जानना-श्रद्धा करना धर्म है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह भगवान आत्मा औदारिक आदि शरीर रूप पुद्गलों से तो भिन्न है ही; किन्तु अचेतन आकाश, काल और धर्म व अधर्म – इन अरूपी द्रव्यों से भी पृथक् है; यहाँ तक कि अन्य जीवों से भी भिन्न ही है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२७६ २ पृष्ठ-२७८ ३ वही, पृष्ठ-२७८

परद्रव्यों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान करानेवाली उक्त गाथा में अरसादि विशेषणों के मध्यम से पुद्गल से; चेतना गुण वाला विशेषण के माध्यम से आकाशादि अमूर्त अजीवद्रव्यों से और स्वयं की चेतना के माध्यम से अन्य जीवों से भिन्नता सिद्ध की गई है।

इस प्रवचनसार परमागम में १७२वीं गाथा के रूप में समागत इस गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में **अलिंगग्रहण** पद पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यद्यपि सामान्यरूप से तो यही कहा गया है कि रूपरसादि चिन्हों के द्वारा ग्राह्य न होने से यह भगवान आत्मा अलिंगग्रहण है; तथापि यह प्रश्न उपस्थित कर कि यदि यही बात है तो फिर अलिंगग्रहण क्यों कहा, अलिंगग्राह्य ही कहना चाहिए था ?

इसके उत्तर में यह कहा गया है कि विशिष्ट अर्थों की निष्पत्ति के लिए **अलिंगग्रहण** पद का प्रयोग किया गया है।

इसके बाद अलिंगग्रहण पद के २० अर्थ किये गये हैं। 'लिंग' और 'ग्रहण' पदों के विभिन्न अर्थ होने से यह सब संभव हुआ है। अलिंगग्रहण के आरभ का 'अ' तो सर्वत्र निषेधवाचक ही है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह ज्ञेयाधिकार है और अपना भगवान आत्मा भी एक ज्ञेयपदार्थ है। अरसादि के समान उसका स्वभाव अलिंगग्रहण भी है। जिसप्रकार आत्मा को जानने के लिए उसके ज्ञानस्वभाव को जानना जरूरी है; उसीप्रकार उसके ज्ञेयस्वभाव को भी जानना आवश्यक है। उस भगवान आत्मा का ग्रहण (जानना) कैसे होता है – यह जानना भी आवश्यक है, अनिवार्य है। 'आत्मा का ग्रहण कैसे होता है' – यह जानने के साथ-साथ कैसे नहीं होता है – यह जानना भी अति आवश्यक ही है। इस अलिंगग्रहण प्रकरण में भगवान आत्मा के इस ज्ञेयस्वभाव को ही समझाया गया है।

'अलिंगग्रहण' पद के बीस अर्थों का संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है –

१. 'यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है' – इस अर्थ की प्राप्ति

करानेवाले प्रथम बोल में लिंग शब्द का अर्थ इन्द्रिय और ग्रहण शब्द का अर्थ जानना किया गया है। इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि यह ज्ञायक आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता; इसलिए अलिंगग्रहण है, अतीन्द्रियज्ञानमय है।

२. 'यह भगवान आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले द्वितीय बोल में भी यद्यपि लिंग का अर्थ इन्द्रिय और ग्रहण का अर्थ जानना ही किया गया; तथापि यह कहा गया है कि जिसे इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

इसप्रकार उक्त दोनों अर्थों में 'लिंग' शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ, 'ग्रहण' शब्द का अर्थ 'जानना' और 'अ' का अर्थ 'नहीं' किया गया है। इसप्रकार न तो आत्मा इन्द्रियों द्वारा स्व-पर को जानने का काम करता है और न स्व-पर द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से जानने में ही आता है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से हमारा कोई भी संबंध नहीं है, क्योंकि न तो आत्मा उनसे जानता है और न उनसे जाना जाता है। आखिर इन्द्रियाँ देह का ही तो अंग हैं और आत्मा देह से भिन्न ही है।

३. 'भगवान आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले तीसरे बोल में यह कहा गया है कि इन्द्रियों से दिखाई देनेवाला ऐसा कोई लिंग (चिह्न) नहीं है कि जिससे आत्मा का अनुमान किया जा सके।

जिसप्रकार धुयें को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है, अग्नि को अनुमान ज्ञान से जाना जाता है; उसप्रकार का ऐसा कोई इन्द्रियगम्य लिंग (चिन्ह) नहीं है कि जिससे अनुमान द्वारा आत्मा को जाना जा सके।

प्रथम दो बोल इन्द्रियों सबधी थे और यह तीसरा बोल इन्द्रिय और अनुमान का मिश्रित रूप है। अब आगे के तीन बोल अनुमान से सबंधित हैं।

४. यह आत्मा मात्र अनुमान से ही ज्ञात करनेयोग्य नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जाना जाता है। इसप्रकार दूसरे के द्वारा मात्र अनुमान से ही जिसका ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता, वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

५. आत्मा मात्र लिंग अर्थात् अनुमान से पर को नहीं जानता; इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा मात्र अनुमाता नहीं है, अनुमान से ही जाननेवाला नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी पर को जानता है।

चौथे और पाँचवें बोल में मात्र इतना ही अन्तर है कि चौथे में कहा गया है कि आत्मा मात्र अनुमान से ही नहीं जाना जाता और पाँचवें बोल में कहा है कि मात्र अनुमान से ही नहीं जानता।

इसप्रकार ये दोनों बोल विशुद्ध अनुमान संबंधी नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) बोल हैं; क्योंकि अबतक के सभी बोलों में यही बताया गया है कि आत्मा किसप्रकार नहीं जानता है और किसप्रकार नहीं जाना जाता है। इसकारण अबतक के सभी पाँच बोल नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) बोल हैं।

६. 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले छठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा लिंग अर्थात् इन्द्रियों और अनुमान से नहीं; अपितु स्व-पर पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है।

आरभ में पाँच बोल नास्तिपरक-नकारात्मक (निगेटिव) थे; क्योंकि उनमें यही कहा गया था कि आत्मा इन्द्रियों और अनुमान से न तो जानता ही है और न जाना ही जाता है; अब इस छठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; इसलिये यह अस्तिपरक-सकारात्मक (पॉजिटिव) बोल है।

अबतक के बोल इन्द्रिय, अनुमान और प्रत्यक्ष संबंधी थे और अब आगे के सातवें से ग्यारहवें बोल तक के पाँच बोल उपयोग संबंधी हैं।

ध्यान रहे उपयोग आत्मा का लक्षण है और आत्मा उपयोगलक्षण से जानने में आनेवाला लक्ष्य है। इसप्रकार आत्मा और उपयोग में लक्ष्य-लक्षण सबंध है। आत्मा की पहिचान उपयोग लक्षण से ही होती है।

७-९ – सातवें बोल में यह कहा है कि उपयोग लक्षण लिंग द्वारा ज्ञेयपदार्थों को ग्रहण नहीं करता अर्थात् उनका आलम्बन नहीं लेता;

इसलिए आत्मा अलिंगग्रहण है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के बाह्य पदार्थों के आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है।

आठवें बोल में यह कहा गया है कि आत्मा उपयोग लक्षण लिंग को बाहर से नहीं लाता और नौवें बोल में यह कहा है कि आत्मा के उपयोग लक्षण लिंग का पर के द्वारा हरण नहीं हो सकता।

इसप्रकार भगवान आत्मा के उपयोगलक्षण को न तो ज्ञेयों के आलंबन की जरूरत है, न उसे बाहर से लाने की जरूरत है और न उसके अपहरण हो जाने के भय से आक्रान्त होने की आवश्यकता है।

१०. 'भगवान आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' – इस अर्थ के सूचक दशवें बोल में यह कहा गया है कि जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के उपयोग लक्षण में भी मलिनता नहीं है, विकार नहीं है। चन्द्रमा में कलक है, मलिनता है, पर सूर्य में कलक नहीं है, मलिनता नहीं है। यही कारण है कि यहाँ चन्द्रमा का उदाहरण न देकर सूर्य का उदाहरण दिया गया है।

११ 'आत्मा द्रव्यकर्म से असयुक्त है' – ऐसे भाव को व्यक्त करनेवाले ग्यारहवे बोल में कहा गया है कि जिसके उपयोग लक्षण लिंग द्वारा पौद्गलिक कर्मों का ग्रहण नहीं है, बध नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

उपयोग सबधी इस १०वे बोल में यह कहा गया है कि भगवान आत्मा में मलिनता नहीं है, शुभाशुभरूप भावकर्म नहीं है और ११वें बोल में यह कहा गया है कि वह द्रव्यकर्मों से असयुक्त है। तात्पर्य यह है कि वह आत्मा शुभाशुभभावरूप भावकर्मों और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से रहित शुद्धोपयोगस्वभावी निर्लेप तत्त्व है।

उपयोगसबधी या लक्ष्य-लक्षण सबंधी उक्त ७वें से ११वें तक के पाँच बोलो को लक्ष्य-लक्षण की मुख्यता से इसप्रकार समझ सकते हैं –

(१) उपयोग नामक लक्षण अपने आत्मा रूप लक्ष्य का आलम्बन लेता है; अत: उसे पर-पदार्थों के आलम्बन की क्या आवश्यकता है ?

(२) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा में से ही आता है; अत: उसे पर-पदार्थों में से आने की क्या आवश्यकता है ?

(३) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा के आश्रय में ही रहता है; ;सलिए उसका अपहरण कौन कर सकता है ?

(४) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा में ही एकाग्र होता है, रपदार्थों में एकाग्र नहीं होता; इसकारण उसमें मलिनता भी क्यों हो ?

(५) उपयोग लक्षण अपने लक्ष्य आत्मा को ही ग्रहण करता है, पर-ादार्थों को ग्रहण नहीं करता; अतः वह पर से संयुक्त भी क्यों हो ?

तात्पर्य यह है कि उपयोग नामक लक्षण न तो पर का आलम्बन नेता है, न पर में से आता है, न पर के द्वारा अपहृत होता है; न वह मलिन ोता है और न वह पर से संयुक्त ही होता है।

१२-१३ – 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है' – इस अर्थ में प्राप्त करानेवाले १२बोल में यह कहा गया है कि जिसके लिंग अर्थात् ;न्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण अर्थात् उपभोग नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

'आत्मा माता के रज और पिता के वीर्य के अनुसार होनेवाला नहीं ै' – इस अर्थ की प्राप्ति करानेवाले १३वें बोल में यह कहा गया है कि जेस आत्मा के लिंग अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणों के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व धारण किये रहना नहीं है; वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

उपभोगसबधी उक्त दोनों बोलों का निष्कर्ष यह है कि आत्मा पंचेन्द्रिय के भोगों का भोक्ता नहीं है और स्पर्शन इन्द्रिय के भोग से मिले हुए रज और वीर्य की रचना भी नहीं है; क्योंकि रज और वीर्य के सम्मिश्रण का फल तो देह की रचना है और आत्मा तो देह से पूर्णतः भिन्न ही है।

१४-१५ – मेहनाकार और अमेहनाकार सबधी इन बोलों में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा न तो लौकिक साधनमात्र है और न ाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला है, लोकव्याप्तिवाला है।

लिंग अर्थात् मेहनाकार का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण ै। पुरुष की गुप्तेन्द्रिय (लिंग-जननेन्द्रिय) को मेहन कहते हैं और उसके आकार के समान है आकार जिसका, उसे मेहनाकार कहते हैं। ऐसा ोहनाकार जिसके नहीं है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है।

पुत्रादि की उत्पत्ति के साधन को लौकिक साधन कहते हैं। जिसप्रकार मेहनाकार अर्थात् लिंगाकार पुत्रादि की उत्पत्ति का साधनमात्र है; उसप्रकार लौकिक साधनमात्र आत्मा नहीं है।

देखो, ध्यान से देखने की बात यह है कि यहाँ लिंग का अर्थ मेहनाकार और अमेहनाकार – दोनों किया है। पुरुष की गुप्तेन्द्रिय के आकार को मेहनाकार कहते हैं और लोकव्यापी आकार को अमेहनाकार कहते हैं। यह भगवान आत्मा केवली समुद्घात के काल को छोड़कर शेष काल में लोकव्यापी आकारवाला भी नहीं है; क्योंकि संसारावस्था में तो यह प्राप्त देह के आकार में रहता है और सिद्धावस्था में किंचित्न्यून अन्तिम देहाकार रहता है। इसप्रकार यह आत्मा अमेहनाकार भी नहीं है।

इसप्रकार मेहनाकार नहीं है; इसलिए भी अलिंगग्रहण है और अमेहनाकार नहीं है; इसलिए भी अलिंगग्रहण है।

१६ इस सोलहवें बोल का सीधा-सादा अर्थ यह है कि यह भगवान आत्मा द्रव्य और भाव से न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुसक है, तीनों लिंगों से रहित है, तीनों लिंगों को ग्रहण नहीं करता; इसलिए अलिंगग्रहण है।

द्रव्यपुरुषादि को आत्मा मानना जड को आत्मा मानना है और भावपुरुषादि को आत्मा मानना पापतत्त्व को, आस्रवतत्त्व को आत्मा (जीवतत्त्व) मानना है।

१७ धर्मचिन्हों को भी लिंग कहते हैं। जैसे मुनिलिंग, ग्रहस्थ-लिंगादि। जिस आत्मा के इन धर्मचिन्हों अर्थात् लिंगों का अभाव है, वह आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार इस आत्मा के बहिरंग यतिलिंग का अभाव है, इसकारण अलिंगग्रहण है।

लिंग शब्द के लोक में प्रसिद्ध अर्थ दो हैं – १ वेद और २ भेष। स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुसकलिंग – ये तीन लिंग वेद हैं और मुनिभेष आदि भेष हैं। १६वें बोल में वेदरूप लिंगों की बात है और १७वें बोल में धर्मचिन्ह सबधी भेष की बात है। इन दोनों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण नहीं होता, अत: वह दोनों अपेक्षा अलिंगग्रहण है।

अलिंगग्रहण संबंधी उक्त सम्पूर्ण प्रकरण में गुण, पर्याय और द्रव्यसंबंधी १८वाँ, १९वाँ और २०वाँ बोल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोल हैं।

इन बोलों में भगवान आत्मा को गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य, पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला शुद्धद्रव्य और सामान्यद्रव्य से आलिंगित न होनेवाली शुद्धपर्याय कहा गया है; क्योंकि अलिंगग्रहण आत्मा के न तो लिंग अर्थात् गुण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध है; न लिंग अर्थात् पर्याय, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष है और न लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण द्रव्य और ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा के न तो अर्थावबोध रूप गुण है, न अर्थावबोध विशेषरूप पर्याय है और न प्रत्यभिज्ञान का कारणभूत अर्थावबोध द्रव्यसामान्य है।

ध्यान रहे यहाँ लिंग शब्द के द्रव्य, गुण और पर्याय – ये तीन अर्थ किये गये हैं। द्रव्य को भी लिंग शब्द से कहा, गुण को भी लिंग शब्द से कहा और पर्याय को भी लिंग शब्द से ही कहा गया है।

ग्रहण का अर्थ गुण के संदर्भ में अर्थावबोध, पर्याय के संदर्भ में अर्थावबोध विशेष और द्रव्य के सदर्भ में अर्थावबोध सामान्य किया गया है।

उक्त तीनों बोलों के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि परमपवित्रपर्याय सहित भगवान आत्मा न तो गुणभेदरूप है, न पर्यायभेदरूप है और न द्रव्यसंबधी विकल्परूप ही है। तात्पर्य यह है कि वह तो समस्त विशेषों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प सामान्यरूप महातत्त्व है; क्योंकि यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वह अलिंगग्रहण भगवान आत्मा न गुणविशेष से आलिंगित है, न पर्याय विशेष से आलिंगित है और न सामान्य द्रव्य से आलिंगित है; वह तो शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्यायरूप है।

भगवान आत्मा में अनंत गुण हैं, वह अनत गुणों का अखण्ड पिण्ड

है; वह मात्र अर्थावबोध अर्थात् ज्ञानगुण मात्र नहीं है। मात्र ज्ञानगुण को लेना गुणविशेष को लेना है। यहाँ अलिंगग्रहण से आत्मा में गुणों का निषेध नहीं, गुणविशेष का निषेध है।

इसीप्रकार पर्याय के संदर्भ में समझना चाहिए। अलिंगग्रहण भगवान आत्मा पर्यायों के अखण्ड प्रवाहरूप तो है, पर एक-एक पर्याय रूप नहीं है।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत आत्मा अनंत गुणों का अखण्ड पिण्ड तो है, पर विशेषगुणरूप नहीं है, गुणभेदरूप नहीं है; अनादि-अनंत अनंत पर्यायों के अखण्ड प्रवाहरूप तो है, पर क्षणवर्ती विशेष पर्यायरूप नहीं है; पर्याय भेदरूप नहीं है।

इसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनादि-अनंत, असख्यातप्रदेशी, अनंत-गुणात्मक द्रव्यरूप तो है, पर द्रव्यसबधी विकल्परूप नहीं है, निर्विकल्प शुद्धपर्याय रूप है।

इसप्रकार यह आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायमय होकर भी इनके भेदरूप नहीं है, विकल्परूप नहीं है।

यहाँ द्रव्य, गुण और पर्याय को निरपेक्ष सिद्ध करना है। उन्हें अपने अस्तित्व के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है। वे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते – इसका और क्या अर्थ हो सकता है ?

उक्त २० बोलों के माध्यम से भगवान आत्मा के अलिंगग्रहण स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ये अरसादि और अलिंगग्रहण भाव भगवान आत्मा के ज्ञेयस्वभाव हैं। ज्ञानस्वभाव के समान ही आत्मा के ज्ञेयस्वभाव को जानना भी आवश्यक है। ज्ञेयस्वभाव और ज्ञानस्वभाव – दोनों के स्पष्ट होने पर ही भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट होता है। ●

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है, तथापि इस खुशी में चचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढिया, खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह भगवान के सयोग का नहीं, वियोग का दिन है। **– पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२**

प्रवचनसार गाथा १७३-१७४

विगत १७२वीं गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है; अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अरूपी आत्मा का रूपी पौद्गलिक कर्मों के साथ बंध कैसे हो सकता है ?

आगामी १७३-१७४वीं गाथाओं में उक्त प्रश्न को उपस्थित कर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ।।१७३।।
रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ।।१७४।।

(हरिगीत)

मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से।
अमूर्त आतम मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह ।।१७३।।
जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को।
बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को ।।१७४।।

मूर्त पुद्गल तो रूपादि गुणों से युक्त होने से स्पर्श गुण के द्वारा परस्पर बधन को प्राप्त होते हैं; किन्तु उससे विपरीत अमूर्त आत्मा पौद्गलिक कर्मों को किसप्रकार बांधता है ?

जिसप्रकार रूपादि गुणों से रहित जीव रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को देखता-जानता है; उसीप्रकार अरूपी का रूपी के साथ बंध जानो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''रूपादि गुणों से युक्त होने से मूर्त पुद्गल द्रव्य तो स्निग्ध-रूक्षत्व

रूप बंध योग्य स्पर्शविशेष के कारण परस्पर बंधते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं – यह बात तो समझ में आती है; किन्तु आत्मा और पुद्गल परस्पर बंधन को प्राप्त होते हैं – यह कैसे माना जा सकता है ?

यद्यपि मूर्तकर्मपुद्गल में रूपादि गुण पाये जाते हैं; इसकारण उनमें यथायोग्य स्निग्ध-रूक्षत्व स्पर्शविशेष होते हैं; तथापि अमूर्त आत्मा में रूपादि गुणों का अभाव होने के कारण आत्मा में यथोचित स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष असंभव होने से एक अंग की विकलता है।

अत: जीव और पौद्गलिक कर्मों का परस्पर बंध कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि परस्पर बंधनेवाले दोनों द्रव्यों में यथोचित स्निग्ध-रूक्षत्व विशेष स्पर्श गुण होना चाहिए, तभी बंध हो सकता है। आत्मा में स्पर्श गुण का अभाव है – इसकारण एक अंग की विकलता है; अत: आत्मा का कर्मों से बंधना संभव नहीं है।

यह शिष्य की शंका है; जिसका समाधान आचार्यदेव इसप्रकार करते हैं –

जिसप्रकार रूपादि गुणों से रहित जीव, रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता-जानता है; उसीप्रकार रूपादि रहित जीव, कर्म पुद्गलों के साथ बधता है। यदि ऐसा न हो तो देखने-जानने के संबंध में भी यह प्रश्न अनिवार्य हो जाता है कि अमूर्त, मूर्त को कैसे जान सकता है ?

यह बात अत्यन्त दुर्घट है; इसलिए इसे दार्ष्टान्त रूप बनाया है – यह बात भी नहीं है। यह बात आबाल-गोपाल सभी की समझ में आ जाय, इसलिए इसे दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जिसप्रकार बालक अथवा वृद्ध या ग्वाले का, उससे पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल अथवा वास्तविक बैल को देखने-जानने पर भी बैल के साथ कोई संबंध नहीं है; तथापि विषयरूप (ज्ञेयरूप) रहनेवाला बैल जिसका निमित्त है; ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार ज्ञान-दर्शन के साथ का सबंध बैल के साथ के संबंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

इसीप्रकार अरूपित्व के कारण आत्मा स्पर्श शून्य है; इसलिए उसका

कर्म-पुद्गलों के साथ संबंध नहीं हैं; तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिसके निमित्त हैं – ऐसे उपयोगारूढ राग-द्वेषादि भावों के साथ का संबंध कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।''

'बाल' शब्द के बालक, मूर्ख, अनजान आदि अनेक अर्थ होते हैं और गोपाल के ग्वाला, वृद्ध, भगवान आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसप्रकार आबाल-गोपाल शब्द के अर्थ भी बालक से वृद्ध तक अज्ञानी से भगवान तक और बालक और ग्वाले जैसे स्थूल बुद्धिवाले लोग हो सकता है।

ग्वाले को लोक में अत्यन्त स्थूल बुद्धिवाला माना जाता है; इसकारण यहाँ यह कहा गया है कि बालक और ग्वाले जैसे स्थूलबुद्धि वालों की भी समझ में आ जावे, इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

इसीप्रकार बालक से वृद्ध तक अर्थात् सभी लोग और अजान से भगवान के समान बुद्धिमान तक के सभी जीव सहजभाव से समझ सकें – इसकारण दृष्टान्त से समझाया गया है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं के भाव को नयविभाग से मुक्त जीव, भेदज्ञान रहित अज्ञानी जीव और भेदज्ञानी जीव को आधार बनाकर समझाते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

उक्त गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार छन्दोबद्ध करते हैं –

(मनहरण)

मूरतीक रूप आदि गुन को धरैया यह,
पुग्गल दरव सों फरस आदिवान सों।
आपुस में बंधै नाना भांति परमानू खंध,
सो तो हम जानी सरधानी परमान सों॥
तासों विपरीत जो अमूरत चिदातमा सो,
केसे बँधे पुग्गल दरव मूर्तिमान सों।
यह तौ अचंभौ मोहि ऐसो प्रतिभासै वृन्द,
अमिलमिलाप ज्यों ''नितंब जुरे कान सों''॥६८॥

मूर्तिक रूपादि गुणों को धारण करनेवाले इस पुद्गलद्रव्य के स्पर्शवान होने से अनेकप्रकार के परमाणु परस्पर बध कर स्कन्ध बनते हैं – यह बात तो हम प्रमाण से जानते हैं और मानते भी हैं; किन्तु मूर्तिक पुद्गल से विपरीत अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पुद्गल से कैसे बंध सकता है ? यह तो बड़े अचंभे की बात है।

मुझे तो यह अमिलमिलाप ऐसा लगता है कि जैसे नितंब कान से जुड रहा हो।

(मनहरण)

रूपी दर्व घट-पट आदिक अनेक तथा,
ताके गुन-परजाय विविध वितान सौं।
तिनको अरूपी जीव देखै जानै भली-भांत,
यह तो अबाध सिद्ध प्रतच्छ प्रमान सों ॥
जो न होत अस्तरूप वस्त यह आतमा तौ,
कैसे ताहि देखतौ औ जानतौ महान सों।
तैसे ताके बंध को विधान हु सुजानौ वृन्द,
समिलमिलाप ज्यों ''शबद जुरैं कान सों'' ॥७०॥

विविध गुण-पर्यायवाले घट-पट आदि अनेक रूपी द्रव्यों को अरूपी जीव भली-भाँति देखता-जानता है। यह तो अबाधित प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध बात है।

यदि इस आत्मा का अस्तित्व नहीं होता तो वह उन्हें कैसे देखता-जानता ?

इसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म के बध का विधान जानना चाहिए। इसप्रकार यह अमिलमिलाप नहीं है, अपितु जिसप्रकार शब्द कान से जुडते हैं; उसीप्रकार का सहज मिलाप है।

(दोहा)

देखन जानन की शकति, जो न जीवमँह होत।
तब किहि विधि संसार में, बंधन होत उदोत ॥७१॥

मोह राग रुष भावकरि, देखत जानत जीव।
ताही भाव विकार सों, आपु हि बँधत्त सदीव।।७२।।
राग चिकनताई भई, दोष रुच्छता भाय।
याही के सुनिमित्त तैं, पुद्गलकरम बँधाय।।७३।।
आतम के परदेश प्रति, दर्वित कर्म अनाद।
तिनसों नूतन करम को, बंध परत निरवाद।।७४।।
यह विवहारिक बंधविधि, निहचै बंध न सोय।
जहँ अशुद्ध उपयोग है, मोह त्रिकंटक जोय।।७५।।

यदि जीव में देखने-जानने की शक्ति नहीं होती तो फिर ससार में बंधन की जानकारी भी कैसे होती।

यह देखने-जाननेवाला जीव मोह-राग-द्वेषरूप विकारी भावों से सदा स्वय बधन को प्राप्त होता है।

राग स्निग्धभाव है और द्वेषभाव रूक्षता रूप है – इन्हीं के निमित्त से पुद्गल कर्मों का बंध होता है।

आत्मा के प्रदेशों में अनादिकाल से द्रव्यकर्मों का बधन है; उनमे नये कर्मों का बंध होता है – यह बात निर्विवाद है।

यह बंधन की प्रक्रिया व्यवहार से कही गई है। निश्चयनय से तो बध होता ही नहीं है। जहाँ अशुद्धोपयोग है, वहाँ तीनप्रकार का मोह होता ही है।

(मनहरण)

जैसे ग्वालबालगन बैल सांचे माटीनि के,
देखि जानि तिन्हें अपनाये राग जोर सों।
तिनके निकट कोऊ मारै छोरै बैलनि कों,
तबै ते अधीर होंय रोवैं धोवैं शोर सों।।
तहां अब करो तो विचार भेदज्ञानी वृन्द,
बंधे वे वयल सो की ममता की डोर सों।।
तैसें पुद्गल कर्म बाहिज निमित्त जानो,
बंध्यो जीव निहचै अशुद्धता मरोर सों।।७६।।

जैसे ग्वालों के बालक सच्चे या मिट्टी के बने हुए बैलों को देखकर-जानकर राग के जोर से उनमें अपनापन स्थापित करते हैं। जब उनका कोई निकटवर्ती बैलों को छोड़कर ले जाता है, मारता है; तब वे बहुत अधीर हो जाते हैं; रोते-धोते हैं और शोर मचाते हैं।

हे भेदज्ञानियो ! उक्त स्थिति में विचार करके देखो कि वे बालक बैलों से स्वयं की ममता की डोर से ही बंधे हैं। उसीप्रकार पुद्गलकर्म तो मात्र बाह्य निमित्त है; निश्चयनय से तो जीव अशुद्धोपयोग की मरोर से ही बंधा है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव एक-एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कवित्त छन्द)

पुग्गलखंध वा सु परमानू विषै गुन सु वरनादिक चार।
पुनि चीकनैं परसपर रूखे अंसनि सौं सुबंध निरधार॥
पुग्गल के सु चीकनैं रूखे गुन करि रहित आतमा सार।
पूछत सिष्य वरगना पुद्गल बाँधै जीव कौन परकार॥१३४॥

पुद्गल स्कन्ध हो अथवा परमाणु हो, उसमें वर्णादिक चार गुण पाये जाते हैं तथा उनमें स्पर्श गुण के स्निग्धता-रूक्षता अशों से परस्पर बंध का निर्धारण होता है। जिनसे बंध होता है – ऐसे स्निग्धता-रूक्षता रूप शक्त्यंश पुद्गल के ही होते हैं और आत्मा इन गुणों से रहित होता है।

जब ऐसा है तो फिर शिष्य पूछता है कि आत्मा में स्निग्धता-रूक्षता है ही नहीं तो फिर पुद्गल कार्माणवर्गणा को जीव कैसे बाँध सकता है ?

(छप्पय)

जीव अमूरतिवंत गुन सुवरनादि रहित है।
वरनादिक गुन घटपटादि पुद्गल सु सहित है॥
गुन घट पटनि विषैं सुपेत पीतादि बखानैं।
विकलपता करिकैं तिन्हैं सु देखैं अरु जानैं॥

परकार सु इहि पुद्गल दरव बंधै जीव सौं जाइकैं।
तुम सिष्य सुनौ उत्तर सु यहु कहै सुगुरु समुझाइ कैं।।१३५।।

जीव अमूर्तिक है तथा वर्णादिक गुणों से रहित है। घट-पटादिक पुद्गल ही वर्णादिक गुण सहित हैं। यह वस्त्र सफेद या पीला – इसप्रकार वर्णादिक गुण घट-पटरूप पुद्गल स्कन्धों में कहे जाते हैं और अमूर्तिक आत्मा उन श्वेत-पीतादिक को जानता-देखता है। यहाँ गुरु शिष्य को समझाकर कह रहे हैं कि हे शिष्य तुम अब अपना उत्तर सुनो। जिसप्रकार अमूर्तिक आत्मा वर्णादि गुण सम्पन्न पुद्गल को जानता है; उसीप्रकार अमूर्तिक आत्मा वर्णादि गुणवाली कार्माणवर्गणाओं से बंध जाता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"एक बालक के पास मिट्टी का बैल है तथा एक वृद्ध के पास सच्चा बैल है। वह मिट्टी का बैल बालक से जुदा है और सच्चा बैल वृद्ध से जुदा है। उनके जुदा होने पर भी बालक मिट्टी के बैल को जानता है तथा वृद्ध भी सच्चे बैल को जानता है।

बैल को जानते हुए बालक तथा वृद्ध दोनों बैलों से जुदे हैं। बैलो के साथ उनका कोई सबंध नहीं है। जैसे बालक बैल को जानता-देखता हुआ ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप है; वैसे ही वृद्ध भी बैल को जानता-देखता हुआ ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वरूप है।[१]

ज्ञान आत्मा का है और उसमें बैल निमित्त है। ज्ञान और बैल अलग-अलग होने पर भी उनमें ज्ञान-ज्ञेय का सबध, बैल के साथ के सबधरूप व्यवहार का साधक जरूर है।[२]

इसी दृष्टान्त से आत्मा अरूपी है, स्पर्श शून्य है; इसलिए आत्मा का स्पर्शादि वाले कर्मपुद्गल के साथ संबंध नहीं है; फिर भी जो जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से चूककर मिथ्यात्व, राग-द्वेष करता है;

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२८३-२८४
२ वही, पृष्ठ-२८४

उसके राग-द्वेष में कर्म निमित्त हैं, इसलिए आत्मा का कर्मपुद्गल के साथ संबंध होता है। इसप्रकार कर्म के साथ आत्मा का बंधरूप व्यवहार साबित होता है।

जिसप्रकार अमूर्त ज्ञान का मूर्त ज्ञेय के साथ संबंध होता है, उसीप्रकार अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ संबंध होता है।[१]

गाथा १७२ में कहा था कि जो जीव चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आश्रय लेता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है और विशेष स्थिरता होने पर मोक्ष होता है।

यहाँ कहते हैं कि जो जीव बाह्य-पदार्थों को ज्ञेयरूप से न जानता हुआ उनमें अपनापन करता है, उसका संसार रहता है। जो जीव जानने-देखने रूप व्यापार नहीं करता और पर-सन्मुख रहता है, उसके राग-द्वेष होते ही हैं और राग-द्वेष होते हैं तो उसमें जडकर्म निमित्त होता है। ऐसे पर्यायदृष्टि वाले जीव को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता ही है। उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

जो जीव स्व की ओर बढता है, उसे पुराने कर्मों का निमित्त नहीं होता तथा नये कर्म नहीं बँधते; किन्तु जो जीव पर्यायबुद्धि करके राग-द्वेष करता है, उसे पुराने कर्मों का निमित्त होता है और नया कर्म बंधता है तथा वह जितने प्रमाण में राग-द्वेष करता है, उसे उतने प्रमाण में कर्म बंधता है।[२]

स्त्री-पुत्र बंध के कारण हैं – यह उपचार का कथन है। आत्मा का तो ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के साथ भी संबध नहीं, क्योंकि उनका आत्मा में अत्यन्त अभाव है। ऐसा होने पर भी जो जीव ममता करता है, पर-पदार्थों में ठीक-अठीक बुद्धि करके स्वभाव से चूककर पर में अटकता है, वह जीव स्वयं की पर्याय में राग-द्वेषादि रूप भावबंध करता है।

---

१ *दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२८४*

२ वही, पृष्ठ-२८५

वह भावबंध निश्चय से है और उस भावबंध में स्त्री-पुत्रादि निमित्त हैं; इसकारण रागी जीव को स्त्री-पुत्र का बधन होता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।[१]

अशुद्धता स्वयं की पर्याय में स्वयं से हुई है और हो रही है, उसमें जडकर्म निमित्त मात्र हैं; क्योंकि स्वयं के लक्ष्य से अशुद्धता नहीं होती; अपितु जडकर्मों के लक्ष्य से अशुद्धता होती है। पर्याय में बिलकुल अशुद्धता नहीं – ऐसा मानना भी मिथ्या है और मलिनता होने पर भी मलिनता का निमित्त ही न माने तो भी व्यवहार सच्चा नहीं है। मलिन पर्याय भी एक ज्ञेय हैं। मलिन पर्याय और कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबध है – ऐसा यहाँ ज्ञान कराया है।[२]

जो जीव भावबंध तथा स्वय की पर्याय का सच्चा ज्ञान नहीं करता, वह भावबंध से रहित अपने निजस्वरूप को नहीं जान सकता। इसलिए भावबध का द्रव्यबंध के साथ निमित्त-नैमित्तिक सबंध बताकर कहा है कि वे दोनों जीव का स्वरूप नहीं। जीव तो अबधस्वभावी है – ऐसा यथार्थ ज्ञान करना ही प्रयोजनवान है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि बंध के सबध में शास्त्रों का कथन यह है कि दो द्रव्यो के बीच बध का कारण स्निग्धता और रूक्षता है, जो स्पर्श गुणरूप होने से एकमात्र पुद्गलद्रव्य में पाई जाती हैं; अत: विविध पुद्गल परमाणुओं का स्कधरूप बंध तो सभव है; पर अरूपी होने से आत्मा मे स्पर्श गुण का अभाव है; इसकारण उसमे स्निग्धता और रूक्षता भी सभव नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मो का बध कैसे हो सकता है ?

उक्त शंका का समाधान करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि जिसप्रकार अमूर्त आत्मा मूर्त पुद्गल को देखता-जानता है; उसीप्रकार वह अमूर्त आत्मा मूर्त पौद्गलिक कर्मों से बंधता भी है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२८८

२ वही, पृष्ठ-२८९ ३ वही, पृष्ठ-२८९

तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से न तो पौद्गलिक कर्मों को देखता-जानता है और न उनसे बंधता ही है; किन्तु जिसप्रकार व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों को देखता-जानता है; उसीप्रकार उनसे बंधता भी है।

यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि आत्मा का रूपी पदार्थों को देखना-जानना दुर्घट भी नहीं है; क्योंकि पर को देखना-जानना तो निरन्तर हो ही रहा है। आत्मा पर को देखता-जानता है – यह बात तो जगप्रसिद्ध है। उदाहरण भी उसी को बनाया जाता है,जो प्रतिवादी को भी स्वीकार हो। जो बात सम्पूर्ण जगत को स्वीकार होती है, वह बात तो वादी-प्रतिवादी – दोनों को स्वीकार ही होती है।

इस बात को यहाँ मिट्टी के बैल और उसे जानने वाले बालक के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है।

यद्यपि बालक और मिट्टी के बैल के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है; क्योंकि वे भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और भिन्न-भिन्न पदार्थों के बीच अत्यन्ताभाव होता है; तथापि बालक उस मिट्टी के बैल को जानता-देखता तो है ही।

वह बालक उक्त बैल को देखकर उस पर रींझता है, उसे अपना मानता है, उससे राग करता है। यदि कोई व्यक्ति उसको मारे, पीटे, तोडे तो वह दुःखी होता है, तोड-फोड करनेवाले से द्वेष करता है।

इसप्रकार उक्त अपनापन व राग-द्वेष के कारण वह बालक स्वयं ही दुःखी होता है और बधन को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार यह आत्मा पर-पदार्थों को देखता-जानता हुआ, उनमें अपनापन करता है, उनसे राग-द्वेष करता है और स्वयं ही बंध को प्राप्त होता है।

यद्यपि बालक का, जानने में आनेवाले मिट्टी के बैल से पारमार्थिक सबंध नहीं है; तथापि ज्ञेयरूप बैल के निमित्त से उसके ज्ञान में भी एक बैल बन गया है, बैल का आकार बन गया है; उसके साथ बालक का संबध है; क्योंकि वह उसके ज्ञान की रचना है, अतः ज्ञानाकार है।

वह संबंध उसके निमित्तरूप बैल के साथ के संबंध के व्यवहार को बताता है।

इसीप्रकार यद्यपि आत्मा के जानने में आनेवाले कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का पारमार्थिक संबंध नहीं है; तथापि एकक्षेत्रावगाह रहनेवाले कर्मपुद्गल जिसके निमित्त हैं – ऐसे उपयोग में आनेवाले राग-द्वेष भावों के साथ का संबंध कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार को बताता अवश्य है।

तात्पर्य यह है कि परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न द्रव्यों में जिसप्रकार व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक संबध पाया जाता है; उसीप्रकार उनमें व्यवहार से बंध-बंधकभाव भी पाया जाता है। ●

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलनेवाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुडसवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौडेगा तो घोडा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोडे का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना ? – इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुडसवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोडे को घुडसवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अग बनाना ही होगा। **– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२६-२७**

प्रवचनसार गाथा १७५-१७६

इसप्रकार विगत गाथाओं में जीव और पौद्गलिक कर्मों के बंधन का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट करके अब भावबध और द्रव्यबंध का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥१७५॥
भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥१७६॥

(हरिगीत)

प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के।
रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे॥१७५॥
जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह।
उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे॥१७६॥

उपयोगमयी जो जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है और द्वेष करता है; वह जीव उन मोह-राग-द्वेष के द्वारा सबधरूप होता है, बधन को प्राप्त होता है।

जीव विषयागत पदार्थों को जिस भाव देखता-जानता है; उसी से उपरक्त होता है और उसी से कर्म बॉधता है – ऐसा उपदेश है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सविकल्प (ज्ञान) और निर्विकल्प (दर्शन) प्रतिभासस्वरूप होने से यह आत्मा पूर्णत: उपयोगमय है।

काले, पीले या लाल पात्र में रखे हुये स्फटिक मणि के कालेपन, पीलेपन और ललाई से उपरक्त स्वभाववाला स्फटिकमणि जिसप्रकार स्वय अकेला ही तद्रूप परिणमित होता है, उसीप्रकार यह आत्मा

विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष करता है और मोह-राग-द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाववाला होने से स्वयं अकेला ही बंधरूप है; क्योंकि मोह-राग-द्वेषभाव ही इसके द्वितीय है।

साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) प्रतिभासस्वरूप होने से यह आत्मा प्रतिभासित होने योग्य पदार्थ समूह को जिस मोह-राग-द्वेषरूप भाव को देखता-जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है, वह स्निग्ध-रूक्षत्व स्थानीय भावबंध है और उसी से पौद्‌गलिक कर्म बंधते हैं। इसप्रकार यह भावबध निमित्तिक द्रव्यबंध है।''

बंध के होने के लिए दो पदार्थों का होना जरूरी है; क्योंकि अकेले एक पदार्थ में बंध कैसे हो सकता है ? इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा के बंध में आत्मा एक और मोह-राग-द्वेष दूसरे – इसप्रकार आत्मा और मोह-राग-द्वेष इन दो में बंध हुआ है।

आचार्य जयसेन भी उक्त गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(माधवी)

उपयोगसरूप चिदातम सो, इन इन्द्रिनि की सतसंगति पाई।
बहु भांति के इष्ट-अनिष्ट विषैं, तिनको तित जोग मिलैं जब आई॥
तब राग रु दोष विमोह विभावनि, सो तिनमें प्रनवै लपटाई।
तिनही करि फेरि बँधे तहँ आपु, यों भाविकबंध की रीति बताई॥७७॥

यह उपयोगस्वरूप चैतन्य आत्मा इन्द्रियों की संगति पाकर अनेक प्रकार के इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित हो जाता है, उनसे लिपट जाता है और फिर उन मोह-राग-द्वेष भावों से ही बंधन को प्राप्त होता है। भावबंध की यही रीति आगम में बताई गयी है।

(मनहरण)

रागादि विभावनि में जौन भावकरि जीव,
देखै जानै इन्द्रिनि के विषय जे आये हैं।
ताही भावनि सों तामें तदाकार होय रमै,
तासों फेरी बँधै यही भावबंध भाये हैं।।
सोई भावबंध मानों चीकन रुखाई भयो,
ताही के निमित्त सेती दर्वबंध गाये हैं।
जामें आठ कर्मरूप कारमानवर्गना है,
ऐसे सर्वज्ञ भनि वृन्द को बताये हैं।।७८।।

यह आत्मा इन्द्रिय विषयों को जिन रागादिभावों से देखता-जानता है; उन्हीं भावों में तदाकार होकर रमता है और बंधन को प्राप्त होता है। यही भावबंध है।

यही भावंबंध मानो राग-द्वेषरूप स्निग्धता और रूक्षता रूप है और इसी के निमित्त से द्रव्यबंध होता है। उस द्रव्यबंध में कार्माण वर्गणायें आठ प्रकार के कर्मरूप परिणमित होती हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने यह बात बताई है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव एक-एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(कवित्त छन्द)

देखैं जिहि प्रकार अरु जानैं गुन सजीव उपयोग अनूप।
सो पुनि विविधि पाइ इंद्रिनि के विषय इष्ट अनइष्ट स्वरूप।।
मोही तिन्हि विषैं सु पुनि रागी दोषी होहि करि सु बहूतूप।
तिनही राग दोष भावनि करि बूडत विषैं बंध के कूप।।१३६।।

जीव अपने अनुपम उपयोग गुण से जिसप्रकार जानता-देखता है; उसीप्रकार वह अनेकविध इन्द्रिय विषयों को जानता-देखता हुआ इष्ट अथवा अनिष्ट भावों को करने लगता है तो वे इन्द्रिय विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट स्वरूप वाले कहे जाते हैं। मूढ जीव इन इन्द्रिय-विषयों

में रागी-द्वेषी होता रहता है तथा इन्हीं राग-द्वेषादि भावों से विषय-भोगों में डूबता हुआ बंध के कूप में पड़ जाता है।

(सवैया इकतीसा)

तेई राग भाव और दोष भाव मोह भाव
याही लोक माँहि ये सु तीन हु अधर्म सौं।
आये जे सु इंद्रिनि विषैं अनिष्ट इष्ट भाव
तिन्हि कौं विलोकैं जानैं महा अति मर्म सौं॥
देखि जानि तिनही स्वरूप होकैं परिनवै।
रागादिक तिसही विभाव ताकै मर्म सौं।
सोई भाववंध कौ निमित्त पाइ बंधै जीव।
ग्यानावरनी जु आदि दै सु अष्टकर्म सौं॥१३७॥

जीव के जो राग भाव, द्वेष भाव और मोह भाव हैं; वे तीनों लोक में अधर्म कहे जाते हैं। जीव को अपने पुण्य-पाप कर्म के उदय अनुसार जो-जो इन्द्रिय विषय प्राप्त होते हैं, वह उनमें इष्ट या अनिष्ट भाव करके ही उन्हें जानता है और अत्यधिक मूढता या महाभ्रम के कारण उन्हें अच्छा-बुरा या सुख-दु:खरूप मानने लगता है तथा उन इष्ट-अनिष्ट पदार्थों को ही जानकर वह उनके ही स्वरूप होता हुआ अर्थात् इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से उनमें सुख-दु:ख मानता हुआ रागादिक विभावरूप परिणमन करता रहता है। उन्हीं विभाव परिणामों के मर्म से अर्थात् रागादि की मन्दता-तीव्रता रूप ताकत से वह भावबंध स्वरूप होता है। इसप्रकार भावबंध का निमित्त पाकर ही भावबंध स्वरूप जीव ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से बंधता है।

उक्त गाथाओं का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जीव स्वयं के स्वभाव को न जानता हुआ जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके उनमें अटक जाता है, यही भावबन्ध है तथा यही संसार है।

संसार कोई बाह्यपदार्थों में नहीं; अपितु स्वयं के अज्ञानभाव और राग-द्वेष की पर्याय में ही संसार है।[1]

१. जगत के पदार्थ हैं; इसलिए भावबन्ध होता है – ऐसा नहीं है; कारण कि वे पदार्थ भगवान के ज्ञान में ज्ञात होते हैं; फिर भी उनको भावबंध नहीं होता।

जो जीव इन चीजों से लाभ-हानि मानकर भ्रांति का सेवन करता है, उसे भावबन्ध होता है।

२. यदि उन वस्तुओं के साथ एकक्षेत्रावगाह सबध छूट जायें तो भावबंध छूट जाय – ऐसा भी नहीं; क्योंकि द्रव्यलिंगी के किसी भी चीज का परिग्रह नहीं; फिर भी भावबंध नहीं छूटता; क्योंकि परपदार्थ मेरा है और मैं उसको छोड़ सकता हूँ – ऐसी मान्यता उसके है और यही भावबंध है। यह मान्यता तो छूटी नहीं; इसलिए पर-पदार्थों के छूटने से भावबंध नहीं छूटता; अपितु पर से ममत्व छूटने से भावबन्ध छूटता है।[2]

उपयोगमय आत्मा अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला आत्मा जीवतत्त्व है, शरीर तथा कर्म अजीव तत्त्व हैं। दया-दानादि के शुभभाव पुण्यतत्त्व हैं। हिंसा, झूठ, चोरी के अशुभभाव पापतत्त्व हैं। पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं और उनमें अटकना भावबन्ध है।

स्वय के आत्मा की श्रद्धा करके शुद्धि प्रगट होना संवर तत्त्व है। विशेष लीनता होने पर शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा तत्त्व है और परिपूर्ण शुद्धि होना मोक्ष तत्त्व है।[3]

पर्यायदृष्टिवाला जीव स्वय ही भावबन्धरूप परिणमता है। आत्मा स्फटिकमणि जैसा निर्मल है; किन्तु स्फटिक काले, पीले और लाल रग के संयोग में आने पर अपनी योग्यतानुसार काला, पीला और लालरंगरूप से परिणमित होता है।

रंग को तो निमित्त कहा जाता है; किन्तु वह रंगीन अवस्था स्फटिक मणि का मूलस्वभाव नहीं है। उसका मूल स्वभाव तो स्वच्छरूप है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२९० २ वही, पृष्ठ-२९१ ३ वही, पृष्ठ-२९१-२९२

उसीप्रकार आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमय है; किन्तु जब वह स्वयं के स्वभाव को भूलकर पर के ऊपर लक्ष्य करता है तो उसमें मलिनता अर्थात् शुभाशुभ भाव उत्पन्न होते हैं।

अनुकूल पदार्थों में राग करना, प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करना, पैसे कमाने आदि के अशुभभाव में सुख मानना, दया-दानादि पुण्य भाव में धर्म मानना – ये सभी मोह-मिथ्यात्व के भाव औपाधिक भाव हैं।

ऐसा मलिन परिणामरूप से परिणमा आत्मा स्वयं ही बंधरूप है।

यहाँ कोई कहता है कि बंध तो दो का मिलकर होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है?

उससे कहते हैं कि एक तो आत्मा और दूसरा मोह-राग-द्वेषादिभाव – ऐसा होने से मोह-राग-द्वेषादि भाव से मलिन स्वभाव वाला आत्मा स्वयं ही भाव-बन्ध है।[१]

यहाँ प्रश्न है कि आत्मा की पर्याय मोह-राग-द्वेष '**द्वितीय**' कैसे है?

उत्तर देते हैं कि भावबन्ध आत्मा की अरूपी विकारी पर्याय है, वह किसी जड में उत्पन्न नहीं होती तथा जड़ के कारण से भी नहीं होती। मलिनता आत्मा की अवस्था में होने से वह आत्मा की स्वच्छता को रोकती है, सुख उत्पन्न नहीं होने देती; इसलिए उसे (मोह-राग-द्वेष को) 'द्वितीय' चीज कहा है।

यदि मलिनता और त्रिकाल स्वभाव एक होता तो मलिनता सुख को नहीं रोकती अथवा त्रिकाली स्वभाव मलिन हो जाता इसलिए त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा मलिनता दूसरी चीज है। बंध दो चीजों का होता है अर्थात् आत्मा और मलिनता का परिणाम दो का बन्ध हुआ है; किसी पर पदार्थों के साथ बंध नहीं हुआ।[२]

पदार्थ तथा पदार्थों का ज्ञान मलिनता का कारण नहीं। इस ज्ञानस्वभाव में सभी पदार्थ जानने योग्य हैं, उन पदार्थों को जानने का आत्मा का स्वभाव है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-२९५ २ वही, पृष्ठ-२९९

वे पदार्थ अथवा उन पदार्थों का ज्ञान मलिनता का कारण नहीं; केवलज्ञानी के ज्ञान में तीन लोक के पदार्थ जाने जाते हैं; फिर भी उनको राग नहीं होता। अज्ञानी जीव उन पदार्थों में मोह करता है, वही संसार का कारण है।[१]

भावबन्ध के कारण द्रव्यबन्ध नहीं होता, भावबन्ध तो निमित्त मात्र है।

अहो ! वस्तुस्वरूप स्वतत्र है। अजीव की क्रिया जीव कर सकता है – ऐसा जो मानता है, उसे नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा की भी खबर नहीं। जो जीव बाहर के सयोगों में अटका है, वह जीव विकार तथा स्वय के त्रिकाली स्वभाव दोनों में भेद नहीं कर सकता। पराधीन दृष्टि करना ही मोह, राग और द्वेष है तथा वही भावबन्ध है। उसका निमित्त पाकर जडकर्म का संयोग होता है। राग-द्वेष किया, इसलिए द्रव्यबन्ध हुआ – ऐसा नहीं, वह तो अपने काल में होता है, वहाँ भावबन्ध निमित्त मात्र है।[२]

जडकर्म जडकर्म के कारण और भावबन्ध भावबन्ध के कारण है। जब भावबन्ध हो, तब जडकर्म का बंध होता ही है – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबध जानना। फिर भी वहाँ राग-द्वेष, जड़कर्म के कर्त्ता नहीं।

बाह्य चीजों के संयोग में तो अनेक बार निमित्त-नैमित्तिक बनते नहीं देखे जाते हैं; क्योंकि जीव इच्छा करता है, वहाँ वाणी निकलती भी है और नहीं भी, किसी चीज की इच्छा करे तो सयोग मिले अथवा न भी मिले अर्थात् बाहर के सयोगों का तथा जीव के भाव का निमित्त-नैमित्तिक संबंध सदा नहीं बनता, कभी-कभी ही बनता है; किन्तु जहाँ राग का तथा जडकर्म का अनिवार्य निमित्त-नैमित्तिक सबंध है ही, वहाँ भी राग जडकर्म का कर्त्ता नहीं; तो फिर जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सबध सदा नहीं बनता, कभी-कभी ही बनता है, वहाँ पर पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता या लानेवाला आत्मा कैसे हो सकता है?[३]"

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३०१ २ वही, पृष्ठ-३०९ ३ वही, पृष्ठ-३११

तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को स्फटिक मणि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि जिसप्रकार अत्यन्त स्वच्छस्वभावी स्फटिक मणि काले, पीले और लाल पात्र के संयोग से स्वयं अकेला ही काला, पीला और लाल हो जाता है; उसीप्रकार यह आत्मा विभिन्न पदार्थों को ज्ञेयरूप से प्राप्तकर, जानकर, उनमें अपनापन करता है, उनसे राग-द्वेष करता है तो उन मोह-राग-द्वेष से उपरक्त होने से स्वयं अकेला ही बंधरूप हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि किसी वस्तु का बंध किसी दूसरी वस्तु से ही संभव है, अकेले एक में बधन कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि यहाँ आत्मा अकेला कहाँ है, साथ में ज्ञेयों के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भी तो हैं। इसलिए यह भावबंध एक आत्मा और दूसरे मोह-राग-द्वेष के बीच होनेवाला बंध है।

इस भावबंध में कर्मोदय उदयरूप से और वे ज्ञेयपदार्थ ज्ञेयरूप से निमित्तमात्र हैं। इन्होंने आत्मा में कुछ भी नहीं किया है; क्योंकि इनमें और आत्मा के बीच में तो अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। कर्मों के उदयकाल में ज्ञेयों के लक्ष्य से यह आत्मा स्वयं ही मोह और राग-द्वेषरूप परिणमा है। यद्यपि यह मोह-राग-द्वेषभाव आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं; किन्तु दुख का कारण होने से आत्मा की मर्यादा के बाहर है, इसलिए द्वितीय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि राग-द्वेष-मोह द्वितीय हैं तो फिर 'अकेला ही बंधरूप हो जाता है' – ऐसा क्यों लिखा है ?

परद्रव्य के साथ के बंध के निषेध के लिए – ऐसा लिखा गया है।

आत्मा में तो एक भावबंध ही है। नये द्रव्यकर्मों का बध तो पुराने द्रव्यकर्मों के साथ स्निग्धता-रूक्षता के आधार पर होता है।

वस्तुस्थिति यह है कि इसी भावबध का निमित्त पाकर नवीन

द्रव्यकर्म पूर्व द्रव्यकर्मों के साथ स्निग्धता और रूक्षता के आधार पर बंधन को प्राप्त होते हैं।

साथ ही उन द्रव्यकर्मों के प्रदेश आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप से बँधते हैं, प्रकृतिरूप परिणमते हैं, स्थिति के अनुसार ठहरते हैं और काल पाकर फल देकर चले जाते हैं। इसप्रकार यहाँ प्रदेशबंध, प्रकृतिबध, स्थितिबध और अनुभागबंध – ये चारों ही बंध घटित हो जाते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि द्रव्यकर्म और भावकर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं और आत्मा व द्रव्यकर्मों में मात्र एकक्षेत्रावगाह संबंध ही है। •

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है – ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३

प्रवचनसार गाथा १७७-१७८

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि यह जानने-देखनेवाला आत्मा ज्ञेयरूप विषयों को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन करता है। उसके ये मोह-राग-द्वेषादि भाव ही भावबंध हैं और उनके निमित्त से द्रव्यकर्म का बंध होता है।

अब आगामी गाथाओं में द्रव्यबंध और भावबंध का स्वरूप स्पष्ट कर यह बता रहे हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध ही है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।
सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति।।१७८।।

(हरिगीत)

स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से।
जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से।।१७७।।
आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला।
परविष्ट हों अर बंधें अर वे यथायोग्य रहा करें।।१७८।।

स्पर्शों से पुद्गल का बंध, रागादि से जीव का बंध और परस्पर अवगाह को पुद्गलजीवात्मक उभयबध कहा गया है।

आत्मा सप्रदेशी है और उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं और यथायोग्य रहते हैं और बंधते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''स्निग्ध-रूक्षत्व स्पर्शविशेषों के साथ कर्मों का एकत्व परिणाम केवल पुद्गलबंध है और मोह-राग-द्वेषरूप औपाधिक भावों के साथ जीव का एकत्व परिणाम केवल जीवबंध है। जीव और कर्मपुद्गल के

परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो जीव और पुद्गल का विशिष्टतर परस्पर अवगाह है, वह उभयबंध अर्थात् पुद्गलजीवात्मक बंध है।

लोकाकाश तुल्य असंख्यात प्रदेशी होने से यह आत्मा सप्रदेश है। आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा के आलंबनवाला परिस्पन्द (कंपन) जिसप्रकार होता है; उसीप्रकार से कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव कंपन करते हुए प्रवेश करते हैं, रहते हैं और जाते भी हैं तथा यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं।

इसलिए निश्चित होता है कि द्रव्यबंध का हेतु भावबध है।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं के भाव को मूलत: तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; किन्तु दूसरा अर्थ करते हुए कहते हैं कि प्रवेश करते हैं अर्थात् प्रदेशबंध, ठहरते हैं अर्थात् स्थितिबंध, फल देकर चले जाते हैं अर्थात् अनुभागबंध और बंधते हैं अर्थात् प्रकृतिबंध – इसप्रकार इन गाथाओं में चारों बंधों की चर्चा आ गई है।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को दो मनहरण कवित्तो और तीन दोहों में छन्दोबद्ध करके इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

पुव्वबंध पुग्गल सों फरस विभेद करि,
नयो कर्मवर्गना के पिंड को गथन है।
जीव के अशुद्ध उपयोग राग आदि करि,
होत मोह रागादि विभाव को नथन है।।
दोऊ को परस्पर संजोग एक थान सोई,
जीव पुग्गलातम के बंध को कथन है।
ऐसे तीन बंधभेद वेद में निवेद वृन्द,
भेदज्ञानीजनित सिद्धांत को मथन है।।७१।।

पूर्व में बंधे हुए पौद्गलिक कर्मों के स्निग्ध-रूक्ष स्पर्शों से नवीन कार्माण वर्गणायें कर्मरूप पिण्ड का नया गठन करती हैं। जीव के रागादिरूप अशुद्धोपयोग से नये मोह-राग-द्वेषादि विभावों की संरचना होती है।

उक्त दोनों का एक स्थान पर संयोग होने पर जीव-पुद्गलात्मक बंध होता है – ऐसा कहा जाता है। भेदज्ञानी जीवों ने सिद्धान्त शास्त्रों का मंथन करके बंध के पुद्गलबंध, जीवबंध और उभयबंध – ऐसे तीन भेद बतायें हैं।

(मनहरण)

असंख्यात प्रदेश प्रमान यह आतमा सो,
ताके परदेश विषै ऐसे उर आनिये।
पुग्गलीक कारमान वर्गना को पिंड आय,
करत प्रवेश जथाजोग सरधानिये॥
फेरि एक छेत्र अवगाह करि बंधत है,
थिति परमान संग रहैं ते सुजानिये।
देय निज रस खिर जाहिं पुनि आपुहि सों,
ऐसो भेद भर्म छेद भव्य वृन्द मानिये॥८०॥

असख्यात प्रदेशी इस आत्मा के प्रदेशों में पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओ का पिण्ड आकार यथायोग्य प्रवेश करता है। इस बात को हृदय में लाकर यथायोग्य श्रद्धान करना चाहिए। फिर आत्मा और पौद्गलिक कार्माण वर्गणायें एकक्षेत्रावगाहरूप बधन को प्राप्त होती हैं और स्थिति के अनुसार साथ-साथ रहती हैं और काल आने पर रस देकर अपने-आप खिर जाती हैं।

हे भव्यजीवो ! भ्रम को मिटाकर ऐसे इस रहस्य को जानना चाहिए।

(दोहा)

काय-वचन-मन जोगकरि, जो आतम परदेश।
कंपरूप होवैं तहां, जोग बंध कहि तेस॥८१॥
तासु निमित्त तैं आवही, करमवरगना खंध।
सो ईर्यापथ नाम कहि, प्रकृति प्रदेश सुबंध॥८२॥
राग विरोध विमोह के, जैसे भाव रहाहिं।
ताहि के अनुसार तैं, थिति अनुभाग बँधाहि॥८३॥

आत्मा के प्रदेशों में मन-वचन-काय के योग से जो कंपन होता है; उसे योग बंध कहते हैं।

उसके निमित्त से जो कार्माण वर्गणाओं के स्कंध आते हैं और बंधते हैं; वह ईर्यापथ आस्रव है और प्रकृति-प्रदेश बंध है।

मोह-राग-द्वेष के जिसप्रकार के भाव रहते हैं, उनके अनुसार ही स्थिति और अनुभाग बंध होता है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव एक-एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

पुग्गलवर्गनानि कौ सु बंध जे सपर्स गुन
गुन के सु भेद चीकनैं सु रूखे भाव सौं।
जीव कौ सु बंध कह्यौ वीतराग देव जू नैं
राग द्वेष और मोह भाव के उपाव सौं॥
परसपर जीव कर्म कौ सुबंध परिनाम
दोऊ कौ निमित्त पाइ हौइ उरझाव सौं।
पुग्गल वरगना कौ बंध जीव कौ सु बंध
जीव-कर्म बंध ऐसौ कह्यौ तीनि दाव सौं॥१३८॥

वीतरागी जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि पुद्‌गल वर्गणाओं का बध उनके स्पर्श गुण के भेद स्निग्धता-रूक्षता के शक्त्यंश रूप भाव के कारण होता है तथा जीव को जो भावबध होता है, वह उसके मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों के उपाय से होता है तथा जीव और कर्म का परस्पर जो बंध परिणाम है, वह दोनों का ही निमित्त पाकर परस्पर संश्लेष रूप उलझाव से ही होता है।

इसप्रकार यहाँ तीन प्रकार का बंध बताया है – १. पुद्‌गल वर्गणाओं का परस्पर बध, २. जीव का विभाव परिणामरूप भावबंध तथा ३. जीव और कर्म का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबध सहित एकक्षेत्रावगाह स्वरूप संश्लेषात्मक बन्ध।

(सवैया इकतीसा)

जीव है सु असंख्यात प्रदेसी प्रमान लोक
जहाँ तनपिण्ड वर्गना सु अनुसरै हैं।
मन वचन काय वर्गनानि के सु अवलंब
करिकैं प्रदेस परिनाम थरहरै हैं।।
तिनही सु माफिक प्रदेसनि विषै सु जिन्हि
कर्म वर्गना सु आइकैं प्रवेस करैं हैं।
बंधै एक राग दोष मोह के सु अनुसार
लैकैं थिति आप रस देकैं खिरि परै हैं।।१३१।।

जीव लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है। इस लोक में यह संसारी जीव पुद्गल पिण्डरूप वर्गणाओं से निर्मित शरीर का अनुसरण करता है। मन, वचन और काय वर्गणाओं के अवलम्बन से आत्मप्रदेशों का कंपन होता है। उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों में कार्माणवर्गणायें प्रवेश करती हैं और मोह-राग-द्वेषानुसार बंधती हैं, स्थिति के अनुसार रहती हैं और काल पाकर रस देकर खिर जाती हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''ज्ञेय दो प्रकार के हैं – चेतन ज्ञेय और अचेतन ज्ञेय। कर्म की पर्याय अचेतन ज्ञेय है, वह चेतनपर्याय को कुछ भी नुकसान नहीं करती। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में हैं और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जीव में हैं; इसकारण अजीव कर्म की पर्याय जीव का नुकसान नहीं करती – ऐसा पुद्गलबन्ध (द्रव्यबंध) का स्वरूप जानना।[१]

पर पदार्थ के साथ एकत्व का परिणाम अथवा अज्ञानवश मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम ही भावबन्ध कहलाता है।[२]

जगत के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, उन ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं; फिर भी अज्ञानी जीव ज्ञेयों में दो भेद करके उनमें कुछ को इष्ट तथा कुछ को

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३१४ २ वही, पृष्ठ-३१४

अनिष्ट मानता है। मोह-राग-द्वेष करके स्वयं के शुद्ध स्वभाव को भूल पर के साथ एकत्व परिणाम करता है, वही भावबन्ध है।[१]

एक में बंधन नहीं हो सकता। एक तरफ चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा शु स्वरूप जीव और दूसरी तरफ अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों में मोह-राग द्वेष वाली पर्यायबुद्धि – दोनों से भावबन्ध है।[२]

निरुपाधि तत्त्व का उपाधिवाली पर्याय के साथ बंधन होता है शुद्धस्वरूप का अशुद्ध पर्याय के साथ बंधन है। निराकुल स्वभाव आकुलतारूप राग-द्वेष के साथ बंधन है; किन्तु जड़कर्म के साथ अथ पर-पदार्थों के साथ बधन नहीं। ऐसा प्रथम निश्चित करना चाहिए। जं तो शुद्ध अनाकुल शांतरस रूप है, उसका अशांतरस-रागद्वेष-आकुल के साथ बंधन है।[३]

त्रिकाली आत्मद्रव्य शुद्ध, त्रिकाली ज्ञान-दर्शन शुद्ध और राग- आदि भावबन्ध अशुद्ध – ये तीन **स्वज्ञेय** कहे हैं।[४]

त्रिकाली परमाणु शुद्ध, त्रिकाली स्पर्शादि गुण शुद्ध और चिक रूखेपन के कारण होनेवाली अवस्था – ये तीन **परज्ञेय** हैं।[५]

जीवद्रव्य की विकारी पर्याय का तथा पुद्गलपरमाणु की कर्म अवस्था का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जीव ने राग किया, इसलि कर्म बधा और कर्म का उदय आया, इसलिए रागद्वेष हुए – इसप्रकार कर्त्ता-कर्म संबंध नहीं है और वह उभयबन्ध नहीं है।[६]

जब जीव राग करता है, तब उसका निमित्त पाकर धर्म, अध आकाश इत्यादि द्रव्यों की कोई अवस्था फेरफाररूप नहीं होती; कि पुद्गल परमाणु कर्मरूप जरूर परिणमते हैं। तीव्र राग करता है; तब ती स्थिति अनुभाग सहित कर्म बंधता है और मंद राग करता है तब स्थिति अनुभाग सहित कर्म बंधता है। वह कर्म राग के कारण न

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३१४
२ वही, पृष्ठ-३१४
३ वही, पृष्ठ-३१५-३१६
४ वही, पृष्ठ-३१७
५ वही, पृष्ठ-३१७
६ वही, पृष्ठ-३१८

बंधता; किन्तु कर्मपरमाणु स्वयं के कारण बंधते हैं। राग-द्वेष के प्रमाण में जीव के साथ एकक्षेत्र अवगाह कर्म रहते हैं। दूसरे धर्मादिक द्रव्यों में ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं; इसलिए विशिष्टतर परस्पर अवगाह कहा है। जीव के साथ कर्म स्कंध का परस्पर अवगाहरूप रहना ही उभयबंध कहलाता है।[१]

भावबन्ध, द्रव्यबन्ध और उभयबन्ध तीनों पर्यायें हैं – ज्ञेय हैं; इनका स्वरूप जानकर निज आत्मा 'इन तीनों बन्धों से रहित है' – ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है।[२]

द्रव्यबन्ध स्वतंत्र है, उसमें भावबन्ध निमित्तमात्र है। जब आत्मा के प्रदेशों में कंपन होता है, तब कर्मपुद्‌गलों का समूह स्वयं की योग्यता के कारण आत्मा के क्षेत्र में रहता है; किन्तु जब आत्मा के प्रदेशों का कपन होता है, तब कर्मों को आना पडे – ऐसा नहीं है; उसीप्रकार कर्म आते हैं, इसलिए आत्मा के प्रदेशों को कंपनरूप होना पड़े – ऐसा भी नहीं है; दोनों स्वतत्र हैं। कर्म स्वयं के कारण आते हैं और जाते हैं, उसमें कंपन निमित्तमात्र है। कपन योगगुण की विकारी पर्याय है। उस योग के निमित्त से जडकर्म में प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है।[३]

कषाय के निमित्त से कर्म में स्थितिबंध तथा अनुभागबध पडता है। जीव स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर पर-पदार्थ में मोह करता है, तब कर्म आकर बंधते हैं। स्थिति और रस का बंध (अनुभागबंध) कर्म में स्वयं की योग्यता के कारण पडता है।[४]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि पुराने पौद्‌गलिक द्रव्यकर्मों के साथ नये पौद्‌गलिक द्रव्यकर्मों का बंधन नियमानुसार होता है। जिनागम में स्कंधरूप बंध के कुछ नियम हैं। स्निग्ध और रूक्ष में बध होता है, दो गुण अधिक हों तो बंध होता है, जघन्यगुणों में बंध नहीं होता आदि नियमों के अनुसार होनेवाला बंध स्पर्श रहित जीव और पुद्‌गल में कैसे

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३१८ २ वही, पृष्ठ-३२१
३ वही, पृष्ठ-३२३ ४ वही, पृष्ठ-३२३

हो सकता है ? यही कारण है कि यहाँ कहा है कि नये द्रव्यबंध का बंध पुराने द्रव्यबंध के साथ होता है और जीव के साथ मोह-राग-द्वेषादि भावबंध होता है। भावकर्म और द्रव्यकर्मों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबध नहीं। द्रव्यकर्मों का जीव के साथ जो एकक्षेत्रावगाह संबध होता है, उसे यहाँ विशिष्टतर विशेषण से संबोधित किया गया है।

विशिष्टतर शब्द के माध्यम से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि रागी जीव और पुद्गल कर्म के बीच निश्चय से तो कोई संबंध है ही नहीं; पर जो एकक्षेत्रावगाह संबंध है, वह भी विशेष प्रकार का है; क्योंकि एकक्षेत्रावगाह तो धर्मादि द्रव्यों के साथ भी है; वह वैसा नहीं, जैसा जीव और द्रव्यकर्मों में है।

धर्मादि द्रव्यों के साथ जो एकक्षेत्रावगाह संबंध है, उसमें कर्मोदयादि का निमित्त नहीं है, कोई बंधन नहीं है; किन्तु द्रव्यकर्म और देहादि नोकर्म के साथ होनेवाले एकक्षेत्रावगाह में कर्मोदय निमित्त हैं और सुनिश्चित समय के लिए एक क्षेत्र में रहनेरूप बधन है। ●

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए सशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और यह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कारण मानना। इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरो को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' – इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने अधीन करना चाहता है। इसीप्रकार 'मैं दूसरों को बचा सकता हूँ' – इस मान्यता के आधार पर भी दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। सुखी-दुःखी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-१११

प्रवचनसार गाथा १७९

विगत गाथाओं में द्रव्यबंध और भावबंध का स्वरूप स्पष्ट कर यह बता दिया है कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है।

अब इस १७९वीं गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि द्रव्यबध का हेतु होने से भावबंध ही वास्तविक बंध है, निश्चयबंध है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो॥१७९॥

(हरिगीत)

रागी बाँधे कर्म छूटें राग से जो रहित हैं।
यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह॥१७९॥

रागी आत्मा कर्म बाँधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है – यह निश्चय से जीवों के बंध का सक्षेप जानो।

यह गाथा इस प्रकरण के निष्कर्ष की गाथा है और इसमें दो टूक शब्दो में कह दिया गया है कि बध के कारण एकमात्र रागादि भाव ही हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मोह-राग-द्वेष परिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्मों से बधता है; वैराग्यपरिणत जीव कर्मों से नहीं बधता। इसीप्रकार मोह-राग-द्वेष परिणत जीव नवीन द्रव्यकर्मों से मुक्त नहीं होता और वैराग्य परिणत जीव ही मुक्त होता है।

राग परिणत जीव, सम्पर्क में आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मों से और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मों से बंधता ही है, मुक्त नहीं होता और वैराग्यपरिणत जीव सम्पर्क में आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मों और पुराने द्रव्यकर्मों से मुक्त ही होता है, बंधता नहीं।

इससे निश्चित होता है कि द्रव्यबंध का साधकतम हेतु होने से राग परिणाम ही निश्चय से बंध है।"

आचार्य जयसेन उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हुए अन्त में लिखते हैं कि रागपरिणाम बंध का कारण है – ऐसा जानकर सम्पूर्ण रागादि विकल्पों के त्यागपूर्वक विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मतत्त्व की भावना निरन्तर भाना चाहिए।

बंध के मर्म को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करनेवाली इस गाथा और उसकी टीका का भाव सहज बोधगम्य भाषा में कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(द्रुमिला)

परदर्व विषैं अनुराग धरै, वसु कर्मनि को सोइ बंध करै।
अरु जो जिय रागविकार तजै, वह मुक्तवधूकहँ बेगि बरै।।
यह बंध रु मोच्छसरूप जथारथ, थोरहि में निरधार धरै।
निहचै करिके जगजीवनि के, तुम जानहु वृन्द प्रतीत भरै।।८४।।

जो जीव परद्रव्यों में अनुराग रखते हैं, वे जीव आठ कर्मों का बध करते हैं और जो जीव रागादि विकारी भावों को तज देते हैं; वे जीव मुक्तिवधू का शीघ्र ही वरण करते हैं। संक्षेप में कथित यह बंध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जो व्यक्ति निर्धारण कर लेते हैं, उन जगत के जीवों को निश्चय से बंध और मोक्ष का सच्चा श्रद्धान हो जाता है। ऐसा कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं।

(चौपाई)

रागभाव प्रनवैं जे आंधे। नूतन दरब करम ते बांधे।
वीतराग पद जो भवि परसै। ताकौ मुक्त अवस्था सरसै।।८५।।

जो अन्धे प्राणी रागभावरूप परिणमित होते हैं; वे नये द्रव्यकर्मों का बध करते हैं और जो जीव वीतरागभाव का स्पर्श करते हैं, वे सरस मुक्त अवस्था को प्राप्त करते हैं।

(दोहा)

रागादिक को त्यागि जे, वीतराग हो जाँह।

चले जांहि वैकुंठ में, कोइ न पकरै बाँह॥८६॥

रागादिभावों को त्यागकर जो जीव वीतरागी हो जाते हैं; वे जीव वैकुंठ (मोक्ष) में चले जाते हैं। उन्हें रोकने के लिए उनकी बाह को कोई नहीं पकडता है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव दो पद्यों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(चौपाई)

जे जिय राग भाव करि अंधे अष्ट प्रकार कर्म करि बंधे।

परनति नहीं राग तिन्हि मांहिं जिन्हिकैं करमबंध सो नांही॥१४०॥

जो जीव रागभाव से अधे हो रहे हैं, वे जीव आठ प्रकार के कर्मों से बधते हैं तथा जिनके कर्म बंध नहीं होता है, उनकी परिणति में अर्थात् भावों में राग भी नहीं होता है।

(दोहा)

संसारी जियकैं सु पुनि भावरूप रागादि।

सो असुद्ध उपयोगमय कारन बंध अनादि॥१४१॥

संसारी जीव के अनादिकाल से बंध के कारणरूप अशुद्धोपयोगमय रागादिभाव विद्यमान हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जितने प्रमाण में जीव राग-द्वेष करता है, उतने प्रमाण में द्रव्यकर्म स्वतत्रपने बधते हैं – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबंध है; किन्तु जितने प्रमाण में कर्म का उदय हो, उतने प्रमाण में जीव को राग-द्वेष करना ही पडे – ऐसा नहीं है।[1]

शुद्धस्वभाव के भानवाला वैराग्य परिणत जीव नवीन कर्मों से नहीं बधता। यहाँ वैराग्य परिणत शब्द का खास अर्थ है।[2]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३२६ २ वही, पृष्ठ-३२६

शरीर की क्रिया से तथा दया-दान के भाव से मुझे लाभ होगा – ऐसा भाव तो राग-परिणत भाव है। निमित्त तथा संयोग की दृष्टि छोडकर पुण्य-पाप मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसे भानपूर्वक ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धावाला जीव वैराग्य परिणत है।[१]

निमित्त, पुण्य तथा गुणभेद की रुचि छोड़कर, स्वयं ऐश्वर्यवान अभेद शुद्धस्वभाव को जो भजता है, वह जीव वैराग्य परिणत है और उसे कर्मबन्ध नहीं होता। इसप्रकार सच्ची दृष्टि करना, धर्म का कारण है।[२]

पर-पदार्थों का आत्मा में अभाव है और वे आत्मा को लाभ तथा नुकसान में कारण नहीं हैं। पुण्य-पाप उपाधिभाव है, उससे रहित आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है – ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्वभाव का दृष्टि में आदर करना दृष्टि का वैराग्य है।[३]

शुभाशुभ भाव मेरे स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ – ऐसा प्रथम दृष्टि का वैराग्य तो हुआ है और साथ में चिदानन्द स्वभाव में विशेष स्थिरता रूप चारित्र और उपशात निर्विकल्प रमणता प्रगट करना चारित्र का वैराग्य है।

दृष्टिवत वैराग्यवाले जीव को मुख्यपने बंध नहीं होता, अस्थिरता के कारण बंध होता है, वह अल्प है। उसे बंध होता ही नहीं – ऐसा दृष्टि अपेक्षा से कहने में आता है और चारित्र वैराग्यवाला जीव तो स्वय के स्वभाव में लीन है, इसलिए उसे बध नहीं होता।[४]

पुराने कर्म तो प्रतिसमय स्वकाल पाकर खिर जाते हैं, फिर भी पुराने द्रव्यकर्म से बधता है – ऐसा कैसे कहा? स्वय की पर्यायबुद्धि चालू रखी है। बंधन की योग्यता है, बन्धनभाव चालू है, उससे पुराने कर्म खिरने पर भी नये बधते हैं; इसलिए पुराने कर्म से बंधता है – ऐसा कहा है।[५]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३२७
२ वही, पृष्ठ-३२८
३ वही, पृष्ठ-३२९
४ वही, पृष्ठ-३२९
५ वही, पृष्ठ-३३०

नवीन कर्म न बधे तो पुराने छूटे कहे जायें। इसलिए अज्ञानी जीव पुराने अथवा नवीन किसी एक कर्म से भी नहीं छूटता, बंधता ही है।

ज्ञानी जीव पुराने कर्मों से छूट जाता है।[1]

स्वभावदृष्टि में स्थिर होने पर नवीन कर्म उत्पन्न ही नहीं होते। और पुराने द्रव्यकर्म प्रतिसमय उदय में आकर खिर जाते हैं और नवीन बंध नहीं होता इसकारण पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही है – ऐसा कहा है। यहाँ अस्थिरता के अल्पबंध की बात गौण है, मुख्यपने ज्ञानी को बंध नहीं होता – यह अपेक्षाकृत कथन है। विशेष स्थिरता करने पर ज्ञानी को अस्थिरता का अल्पबंध भी नहीं होता। वह पुराने कर्म से नहीं बंधता और पुराने कर्म से मुक्त ही रहता है।[2]

इसलिए द्रव्यबध के निमित्त भावबन्ध अर्थात् मिथ्यात्व रागद्वेष ही निश्चय से बंध है। ऐसा स्वतंत्र पर्याय का ज्ञान करके कर्म के ऊपर से लक्ष्य उठाकर भावबंध भी मेरा त्रिकालस्वरूप नहीं। मैं तो स्वयं त्रिकाली शुद्ध हूँ – ऐसी सच्ची श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है।[3]''

बध और मोक्ष के कारणों को अत्यन्त संक्षेप में साररूप में प्रस्तुत करनेवाली इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि मूल बात यह है कि निश्चय से रागी जीव कर्म बांधता है और रागरहित आत्मा कर्मबधनों से मुक्त होता है।

यहाँ रागी जीव से मात्र रागभाव से परिणत जीव ही नहीं लेना, अपितु राग में धर्म मानने रूप मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम – इन तीनो से संयुक्त जीव लेना।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी जीव कर्म बाँधता है।

इसीप्रकार राग रहित का अर्थ भी सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और सयमी जीव समझना चाहिए। निष्कर्ष के रूप में यह समझना कि रत्नत्रय से रहित

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३३०

२ वही, पृष्ठ-३३१ ३ वही, पृष्ठ-३३१

जीव कर्मों से बंधता है और रत्नत्रय से परिणत जीव कर्मों से मुक्त होता है। इसप्रकार यह आत्मा जितने-जितने रूप में रत्नत्रय परिणत होता जाता है, उतने-उतने रूप में कर्मों से मुक्त होता जाता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निश्चय से रागी अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से परिणत जीव कर्मबन्धन को प्राप्त होता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से परिणत जीव कर्मबन्धनों से मुक्त होता है। अत: भव्यजीवों को मिथ्यात्वादि रागभाव से विरक्त और सम्यक्त्वादिरूप वीतरागभाव में अनुरक्त होना चाहिए। ●

ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मागदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिल तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही जीवन बर्बाद हो जाता है। अत: आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोडकर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है ? आत्मोपलब्धि करनेवाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला ? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें – यह तो न्याय नहीं है। अत: निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान-निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है। **– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-१६७**

प्रवचनसार गाथा १८०-१८१

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि मोह-राग-द्वेषरूप भावबंध ही वास्तविक बंध है, निश्चय बंध है; अब आगामी गाथाओं में उक्त मोह-राग-द्वेष भावों का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं –

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।।१८०।।
सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।।१८१।।

(हरिगीत)

राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो।
राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही।।१८०।।
पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है।
पर दुःखक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है।।१८१।।

परिणामों से बंध होता है और परिणाम मोह-राग-द्वेष से युक्त हैं। उनमें मोह और द्वेष तो अशुभ ही हैं; पर राग शुभ और अशुभ – दोनों रूप होता है।

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है – ऐसा कहा गया है। जो परिणाम दूसरों के प्रति प्रवर्तमान नहीं है, वह परिणाम समय पर दुख क्षय का कारण है अथवा शास्त्रों में ऐसा कहा है कि वह परिणाम दुःख क्षय का कारण है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''द्रव्यबंध विशिष्ट परिणाम से होता है। परिणाम विशिष्टता मोह-राग-द्वेषमयता के कारण है। वह परिणाम शुभत्व और अशुभत्व के

कारण दोपने को प्राप्त होता है। उनमें से मोह और द्वेषभाव अशुभरूप होते हैं और रागभाव शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार का होता है; क्योंकि राग विशुद्धि और संक्लेश युक्त होता है।

परिणाम दो प्रकार का होता है – परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। पर के द्वारा उपरक्त होने से परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम विशिष्ट परिणाम है और पर के द्वारा उपरक्त न होने से स्वप्रवृत्तपरिणाम अवशिष्ट परिणाम है।

विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं – शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम। पुण्यरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से अशुभपरिणाम पाप हैं।

अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है; इसलिए उसके भेद नहीं है। वह अविशिष्ट परिणाम यथाकाल संसार दु:ख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से ससार दु:ख का हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव मूलत· तो तत्त्व-प्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; परन्तु अन्त में समागत 'समय' शब्द का अर्थ 'परमागम' और 'काललब्धि' करते हैं।

अन्त में किंच कहकर उन्होंने विषयवस्तु का गुणस्थान परिपाटी से विशेष स्पष्टीकरण किया है; जो मूलत: पठनीय है।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

परिनाम अशुद्ध तैं पुग्गलकरम बंधै,
सोई परिनाम राग-दोष-मोहमई है।
तामें मोह दोष तो अशुभ ही हैं सदा काल,
राग में दुभेद वृन्द वेद वरनई है॥
पंच परमेश्वर की भक्ति धरमानुराग,
यह शुभराग भाव कथंचित लई है।

विषय कषायादिक तामें रतिरूप सो,
अशुभ राग सरवथा त्यागजोग तई है॥८७॥

अशुद्ध परिणामों से पौद्गलिक कर्मों का बंध होता है और अशुद्धपरिणाम मोह-राग-द्वेषरूप हैं। इनमें मोह (दर्शनमोह मिथ्यात्व) और द्वेष तो हमेशा अशुभ ही होते हैं, इसप्रकार त्यागने योग्य ही हैं।

कवि कहते हैं कि शास्त्रों में राग के दो भेद बताये गये हैं। पंचपरमेष्ठी को भक्तिरूप धर्मानुराग शुभभाव है और वह कथंचित् उपादेय है; परन्तु पंचेन्द्रिय विषयों के अनुराग और कषायरूप भावों में रतिरूप भाव अशुभराग है, जो सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

(मनहरण)

परवस्तु मांहिं जो पुनीत परिनाम होत,
ताको पुन्य नाम वृन्द जानो हुलसंत है।
तैसे ही अशुभ परिनाम परवस्तु विषैं,
ताको नाम पाप संकलेशरूप तंत है॥
जहाँ परवस्तुविषैं दोऊ परिनाम नहिं,
केवल सुसत्ता ही में शुद्ध वरतंत है।
सोई परिनाम सब दु:ख के विनाशन को,
कारन है ऐसे जिन शासन भनंत है॥८८॥

परवस्तुओ के लक्ष्य से जो पवित्र परिणाम होते हैं; उन्हें पुण्य नाम से कहा जाता है, वे प्रसन्नतारूप होते हैं। इसीप्रकार परवस्तुओं के लक्ष्य से जो सक्लेशरूप परिणाम होते हैं; उन अशुभ परिणामों को पाप कहते हैं।

जहाँ परवस्तु के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभ – दोनों परिणाम न होकर स्वसत्ता के लक्ष्य से केवल शुद्ध परिणाम होते हैं, वे परिणाम ही सब दु:खों के नाश के कारण हैं – ऐसा जैनशासन में कहा गया है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव दो पद्यों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

पुग्गल वरगना स्वरूप द्रव्य बंध सोई
असुद्धोपयोग परिनाम तैं सु ठीक है।

परिनाम जो सु राग दोष मोह भाव लियै
जामैं मोह भाव दोष भाव निंदनीक है।।
देव अरिहंत और गुरु निरगंथ की सु
भक्ति माहिं लीन सुभराग की सु लीक है।
विषय-कषायरूप असुभोपयोग भाव
भैया दोउ बंध के करैया तहकीक है।।१४२।।

जीव के अशुद्धोपयोग परिणामों से पौद्गलिक वर्गणारूप द्रव्यकर्म का बंध होता है, सो ठीक ही है। जीव में मोह-राग-द्वेष भावों को लिये जो परिणाम होते हैं, वे सब अशुद्धोपयोग हैं, उनमें विशेषकर मोहभाव और द्वेषभाव निंदनीय माने गये हैं; क्योंकि वे मुख्यतया अशुभभावरूप ही होते हैं। अरिहंत देव और निर्ग्रन्थ गुरु की भक्ति में लीन जीव के शुभरागरूप परिणाम शुभोपयोग कहलाते हैं। जीव के विषयकषाय संबंधी परिणाम चाहे कैसे भी हों, अशुभोपयोग ही कहे जाते हैं। शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप दोनों ही परिणाम बंध के करानेवाले हैं – यह परम सत्य बात है।

(सवैया इकतीसा)

पंच परमेष्ठी की सु भक्ति आदि परिनाम
जो प्रसस्त रागरूप जाकौ नाम पुन्न है।
जो सरीर इंद्रियादि परद्रव्य सौं ममत्व
विषैं अनुराग मई पाप सौं जवुन्न है।।
अन्य द्रव्य की प्रवर्त्ति विना वीतराग भाव
आतमीक दूसरो न और छुन्न मुन्न है।
सुद्ध उपयोग वंत मुकति स्वरूप संत
जाकैं पराधीन सुख-दुःख कौ सु सुन्न है।।१४३।।

अरिहंतादिक पंच परमेष्ठियों की सद्भक्ति आदि के प्रशस्त रागरूप परिणामों का नाम पुण्य है तथा शरीर, इन्द्रिय आदि परद्रव्यों से ममत्व एवं विशेषानुरागरूप परिणति पाप है। अन्य द्रव्यों या तद्विषयक विकल्पों में प्रवृत्ति हुए बिना जो पाप-पुण्य से रहित आत्मीक वीतराग भाव होता है,

उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। ऐसे शुद्धोपयोग से युक्त शुद्धोपयोगी संत मुक्तिस्वरूप हैं; उनके पराधीन सुख-दुःख नहीं होते। मतलब यह है कि शुद्धोपयोगी संत पुण्य-पाप के उदय में होनेवाले इन्द्रियविषयक सुख-दुःख से शून्य ही होते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"परवस्तु बंध का कारण नहीं। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के पास वस्तुओं के ढेर हैं, यदि वस्तुओं से बंधन होता हो तो उसको बंधन बहुत होना चाहिए और मिथ्यादृष्टि त्यागी को अल्प वस्तु का परिग्रह है तो उसको बंधन अल्प होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। परवस्तु तो मरण होने पर वहीं छूट जाती है; किन्तु बंधन नहीं छूटता; इसलिए परवस्तु बंधन का कारण नहीं; ममताभाव बंधन का कारण है। मिथ्यादृष्टि जीव को संसार के कारणरूप बंधन है और समकिती को अल्पबंधन है और वह भी छूट जानेवाला है।[१]

मिथ्यात्व तो अशुभ में गिना है। राग दो प्रकार का है, एक शुभराग और दूसरा अशुभराग। विशुद्धिवाला होने से धर्मानुरागमय परिणाम शुभ हैं। संक्लेशवाला होने से विषयानुरागमय परिणाम अशुभ हैं।[२]

आत्मा का शुद्ध चिदानन्द स्वभाव अखण्डता से भरपूर है। जो पारिणामिक भाव अनादि-अनंत एकरूप है, उसमें पर्याय पूरी तरह एकाग्र होती है – अभेद होती है, तब केवलज्ञान और मोक्षदशा प्रगट होती है; इसलिए मोक्ष का कारण शुद्धस्वभाव एक ही है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि यदि शुभभाव भी करता हो तो भी मिथ्यात्व के कारण बड़ा अशुभ और अनत संसार के बंध का कारण उसे है। इसलिए जिसे पाप टालना हो, उसे पर के ऊपर से दृष्टि हटाकर, पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, अबंध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३३३
२ वही, पृष्ठ-३३४

जिससे मिथ्यात्वरूपी बड़ा पाप टल जाये और संसार का नाश होकर धर्मदशा की प्राप्ति हो।[१]

शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्मा पर-पदार्थ और विकारभाव से रहित है। ऐसे ज्ञाता-दृष्टारूप शुद्धस्वभाव के आश्रय से होनेवाले परिणामों में पर का अवलंबन नहीं होने से वे अविशिष्ट अर्थात् शुद्ध परिणाम हैं।

अशुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का कहा है।

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति एवं, दया-दान-पूजा आदि के परिणाम शुभभाव हैं।

(अ) कितने ही अज्ञानी लोग कोमलता अथवा दया दान के भाव को पापभाव कहते हैं; किन्तु यह बात खोटी है; क्योंकि शुभभाव तो पुण्यतत्त्व है और पुण्यतत्त्व पापतत्त्व से जुदा है। पुण्य को पाप मानने से नवतत्त्व ही नहीं रहेंगे।

(ब) वहीं कितने ही अज्ञानी लोग शुभभाव से निर्जरा मानते हैं, वह भी भूल है; क्योंकि शुभभाव पुण्य तत्त्व और आस्रव-बंधतत्त्व हैं। बंध के कारण को निर्जरा माननेवाला बधतत्त्व तथा निर्जरातत्त्व दोनों को ही नहीं जानता, इसलिये उसे नवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है।

(स) कितने ही अज्ञानी जीव शुभभावों की उत्पत्ति पर के अथवा कर्म के कारण मानते हैं। ऐसा मानने से एक जीव दूसरे जीवरूप अथवा अजीव के साथ एकरूप हो जाता है। इसकारण उन्हें भी जीव अथवा अजीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। उनकी मान्यता भी खोटी है।[२]

शुभभाव से साता-वेदनीय कर्म, अच्छा नाम कर्म, उच्चगोत्र कर्म, शुभ आयु और अच्छी गति इत्यादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और उसके फल में शुभ सयोग मिलते हैं; किन्तु धर्म की प्राप्ति नहीं होती। शुभ के फल में पुण्य-प्रकृतियों का बंध होता है; इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके शुभ को पुण्य कहने में आता है। साधकदशा

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३३६
२ वही, पृष्ठ-३३८-३३९

में अशुभ से बचने के लिए शुभ परिणाम आते हैं और उन्हें उपचार से पुण्य कहा जाता है, लेकिन उसकी सीमा समझनी चाहिए। साक्षात् त्रिलोकीनाथ तथा संत मुनि भी निज आत्मा की अपेक्षा पर हैं और उनके लक्ष्य से होनेवाला शुभभाव पुण्यबंध का कारण है।[१]

अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का लक्ष्य छोड़कर शरीर के लक्ष्य से होनेवाले सभी भाव अशुभ हैं। मैं पर-पदार्थों का कर्ता हूँ – ऐसा ममता भाव अर्थात् मिथ्याभाव है। चैतन्यस्वभाव से चूककर होनेवाले सभी सांसारिक भाव अशुभभाव हैं।

अविशिष्ट परिणाम शुद्ध होने से एक है, इसलिए उसके भेद नहीं है।[२]

यहाँ शुद्ध परिणाम को ही मोक्ष कहा है। साधकदशा में उत्तरोत्तर स्वभाव की लीनता बढ़ने से निर्मलता की अनेक प्रकार की तारतम्यता होने पर भी उसमें (शुद्ध परिणाम में) भेद नहीं पडता। प्रतिसमय निर्मल पर्याय द्रव्य के साथ अभेद रहती है; इसकारण उसे एक ही कहा है। ऐसी निर्मलता होने पर संसार दु ख के कारणभूत कर्मपुद्गलों का नवीन बंध नहीं होता और प्रतिसमय निर्मलता बढती जाती है।

ज्ञानी को पर्यायबुद्धि का नाश होने से स्वभाव-बुद्धि प्रगट हुई, इसकारण उसे कर्म नहीं बंधता और सर्व कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की शुद्ध पर्याय प्रगट होती है; इसलिए शुद्ध परिणाम स्वय ही मोक्ष है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि बध और मोक्ष परिणामों से ही होता है, किसी क्रियाविशेष से नहीं।

परिणाम दो प्रकार के हैं – परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। यहाँ परद्रव्यप्रवृत्त परिणामों को विशिष्ट परिणाम और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणामों को अविशिष्ट परिणाम कहते हैं। विशिष्ट परिणाम अर्थात् अशुद्ध परिणाम, शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम के भेद से दो प्रकार के हैं। पुण्यबंध के कारण होने से शुभ परिणामों को पुण्य या पुण्य परिणाम कहते हैं और

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३३९
२ वही, पृष्ठ-३४०
३ वही, पृष्ठ-३४०

पापबंध के कारण होने से अशुभ परिणामों को पाप या पाप परिणाम कहते हैं।

अविशिष्ट परिणाम अर्थात् शुद्ध परिणाम एक प्रकार का ही है, उसके कोई भेद नहीं है। जिसप्रकार पुण्यबंध का कारण होने से शुभभाव को पुण्य और पापबंध का कारण होने से अशुभभाव को पाप कह दिया जाता है; उसीप्रकार अविशिष्ट परिणाम अर्थात् शुद्धभाव मोक्ष का कारण होने से मोक्ष ही है – यह कहना अनुचित नहीं है।

ये अशुद्ध – शुभाशुभ परिणाम मोह-राग-द्वेषरूप ही हैं। इनमें मोह अर्थात् दर्शनमोह-मिथ्यात्व और द्वेष तो अशुभरूप ही होते हैं; पर राग शुभ और अशुभ – दोनों प्रकार का होता है; क्योंकि वह राग विशुद्धि और संक्लेशरूप होता है।

इसप्रकार इन मोह-राग-द्वेष भावों को रागभाव और इन मोह-राग-द्वेष भावों से रहित भावों को वीतरागभाव कहते हैं। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को रागभाव और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को वीतरागभाव कहते हैं।

रागी जीव बंधन को प्राप्त होता है और रागरहित जीव बंधन से मुक्त होता है। इसका भाव यही है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र संसार के कारण हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण हैं। ●

अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब क्या हैं ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थाएँ हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं। सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्याय का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एव परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना सभव होता है।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-१९५

प्रवचनसार गाथा १८२-१८३

विगत गाथाओं में किये गये शुभाशुभरूप अशुद्धभावों और शुद्धभावों के स्पष्टीकरण के उपरान्त इन गाथाओं में अब स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति के लिए स्व-पर का भेदविज्ञान कराते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥
जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥१८३॥

(हरिगीत)

पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं।
वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है ॥१८२॥
जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से।
वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह' ॥१८३॥

अब पृथ्वी आदि स्थावर और त्रसरूप जो जीव निकाय कहे गये हैं; वे जीव से अन्य हैं और जीव भी उनसे अन्य है।

जो जीव इसप्रकार स्वभाव को प्राप्त करके पर को और स्व को नहीं जानता; वह मोह से 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' – इसप्रकार अध्यवसान करता है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक जो यह पृथ्वी आदि छह जीवनिकाय माने जाते हैं; वे अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है। तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए आत्मा ही एक स्वद्रव्य है, छहप्रकार के जीवनिकाय आत्मा के लिए परद्रव्य हैं।

जो आत्मा जीव के चेतनत्व और पुद्गल के अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता; वह आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' – इसप्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है, कोई दूसरा नहीं।

अत: यह निश्चित है कि जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के ज्ञान का, भेदविज्ञान का अभाव ही है। इसप्रकार कहे बिना ही, स्व-सामर्थ्य से ही यह सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के ज्ञान के अभाव का अभाव है अर्थात् स्व-पर के ज्ञान का सद्भाव है।

तात्पर्य यह है कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान है और परद्रव्य मे प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में उक्त गाथाओं के भाव को दो मत्तगयन्द सवैयों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मत्तगयन्द)

थावर जीव निकायनि के, पृथिवी प्रमुखादिक भेद घने हैं।
औ त्रसरासि निवासिन के, तन के कितनेकन भेद बने हैं।।
सो सब पुग्गलदर्वमई, चिनमूरति तैं सब भिन्न ठने हैं।
चेतन हू तिन देहनि तैं, निहचै करि भिन्न जिनिंद भने हैं।।९०।।

स्थावर जीव निकाय के पृथ्वी आदि अनेक भेद हैं और त्रस राशि में रहनेवालों के भी अनेक प्रकार होते हैं। ये सभी पुद्गलद्रव्यमय हैं। चैतन्यमूर्ति आत्मा से सब भिन्न हैं और निश्चय से चेतन भी उन सभी देहादि पदार्थों से भिन्न है – ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(मत्तगयन्द)

जो जन या परकार करी, निज औ पर को नहिं जानत नीके।
आप सरूप चिदानंद वृन्द, तिसे न गहै मदमोह वमी के।।
सो नित मैं तनरूप तथा, तन है हमरो इमि मानत ठीके।
भूरि भवावलि माहिं भमै, निहचै वह मोह महामद पी के।।९१।।

इसप्रकार जो लोग निज को और पर को अच्छी तरह नहीं जानते हैं और मोह-मदिरा का वमन करके चिदानन्द स्वरूप निज आत्मा को ग्रहण नहीं करते, 'मैं शरीररूप हूँ और शरीर हमारा है' – निरन्तर ऐसा ही मानते रहते हैं; वे लोग निश्चय से मोहमदिरा का पान करके बारम्बार भवार्णव में ही घूमनेवाले हैं, भ्रमनेवाले हैं।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव दो पद्यों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

प्रथवी सु पानी आगि वाउ वंसपती और
त्रसकाय जीव छै प्रकार जे जताये हैं।
अथवा सु थावर तथा सु जीव जंगम हैं
जे तौ तिनही के ये सु करे दो किताये हैं।।
तेई सब चेतना स्वरूप जीव तैं सु भिन्न
तनपिण्डरूप सो अचेतन बताये हैं।
जीव द्रव्य निश्चै करिकैं सु तिनि तैं सु जुदौ
ग्यानरूप चिन्ह जाके जाही सौं बताये हैं।।१४४।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रसकाय रूप छह प्रकार के जीव आगम में बताये गये हैं अथवा उन्हीं संसारी जीवों के स्थावर और जंगम – ये दो भेद भी किये गये हैं। उन चेतनास्वरूप जीवों से भिन्न जो शरीररूप पुद्गल पिण्ड हैं, वे सब अचेतन ही हैं। शरीरादि अनेक पुद्गल पिण्ड से जीव द्रव्य निश्चित ही जुदा है। जिनके ज्ञानरूप चिन्ह प्रगट हैं – ऐसे जीव उन पृथ्वी काय आदि में रहते हैं; अत: उन्हें उपचार से जीव कहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

यह लोक के मझार प्रानी जे सु राग दोष
मोह मदिरा की गहलाई सौं भुलानैं हैं।
चेतन अचेतन की ठीक तातैं भिन्न-भिन्न
जीवद्रव्य पुद्गल स्वरूप सो न जानैं हैं।।

चिदानंद रूप सुद्ध नित्य आतमीक भाव
उपादेय अंगीकार करिकैं न मानैं हैं।
सरीरादि रूप मैं सु मेरे सरीरादि द्रव्य
परिणाम अैसे जे अलीक उर आनैं हैं।।१४५।।

इस लोक में जो प्राणी मोह-राग-द्वेष की मदिरा के नशे में अपने आपको भूले हुए हैं, चेतन-अचेतन की सही पहिचान न होने से जीव और पुद्गलद्रव्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं जानते हैं, सदा शुद्ध चिदानंदमयी आत्मिक भाव को उपोदय मानकर अंगीकार नहीं करते हैं, शरीरादि रूप ही मैं हूँ अथवा शरीरादि मेरे हैं – ऐसे मिथ्या परिणामों को ही मन में आने देते हैं अर्थात् उन मिथ्या-मोहजन्य परिणामों में मगन रहते हैं; वे जीव अज्ञानी हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक – इन पाँच को स्थावर कहा तथा दो इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी और संज्ञी पचेन्द्रिय पर्यंत जीवों को त्रस कहा है। इनका शरीर अचेतन है और अचेतनपने के कारण ये जीव से जुदे हैं। हरी सब्जी को सचेत कहा है, उसमें हरी सब्जी तो सचेत नहीं, अचेतन है; किन्तु अदर रहनेवाला आत्मा चेतन है। शरीर जीव नहीं है। हरी सब्जी के शरीर और जीव जुदे हो जाते हैं। मात्र तैजस-कार्मण शरीर ही जीव के साथ जाते हैं; किन्तु वे भी अचेतन हैं, उनसे भी जीव जुदा है। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवों के शरीर जड़ हैं, वे आत्मा से जुदे हैं।

जीव भी स्वय के ज्ञान-दर्शन स्वभाव के कारण उनसे जुदा है।[१]

षट्जीव निकाय आत्मा को परद्रव्य हैं तथा आत्मा एक ही स्व-द्रव्य है।[२]

इसप्रकार परद्रव्य से निवृत्ति करके, स्वद्रव्य-चेतनास्वरूप में प्रवृत्ति

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३४२ २ वही, पृष्ठ-३४२

करना ही ज्ञेयों के सच्चा ज्ञान करने का फल है और वही धर्म तथा शांति का कारण है।[1]

परपदार्थ परज्ञेय हैं और आत्मा स्वज्ञेय है। परजीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव निज आत्मा से जुदे हैं। जो पदार्थ जुदा हो वह किसी का क्या कर सकता है ?[2]

मिथ्यात्वरूपी मूल के नाश बिना संसाररूपी वृक्ष का नाश नहीं होता। आत्मा शरीर से तथा अन्य सभी जीवों से जुदा है। मेरा स्वभाव मेरे में है – ऐसा जो भेद-विज्ञान नहीं करता, वह जीव मानता है कि मैं भाषा बोल सकता हूँ, पर जीव की दया पाल सकता हूँ, कुटुंब की, देश की रक्षा कर सकता हूँ, शब्द से मुझे ज्ञान होता है इत्यादि। जो ऐसा मानता है कि अचेतन पदार्थों की पर्याय, चेतन पदार्थों के कारण होती है; वह स्व-पर के भेद को नहीं जानता।[3]

प्रत्येक द्रव्य और पर्याय सत् है, स्वतंत्र है; पर के कारण नहीं। लकडी के स्कंध में प्रत्येक रजकण स्वतत्र रहते हैं। प्रत्येक परमाणु स्वय के आधार से है, अन्य परमाणु के आधार से नहीं। प्रत्येक परमाणु तथा जीव के कर्त्ता, कर्म, करण, सप्रदान, अपादान और अधिकरण – ये छह कारक स्वयं में हैं और पर के छह कारक पर में है। निगोद के अनंत जीव एकसाथ रहते हैं, वे सभी स्वतंत्र हैं और उनके छह कारक स्वयं में हैं, पर में उनका अभाव है। जब अभाव है तो दूसरी वस्तु में क्या करेगा ?[4]

जिस जीव को स्वयं के ज्ञाता-दृष्टारूप शुद्ध स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं वर्तता, उस जीव को स्व-पर का भेद-विज्ञान नहीं होता। वही जीव 'शरीर मैं हूँ, मेरे द्वारा इतने जीवों की रक्षा हुई, पुण्य से धीरे-धीरे धर्म होगा, वाणी से ज्ञान होगा' – ऐसा मोहवश परद्रव्य में अहपना करता है; किन्तु ज्ञानी जीव ऐसा अध्यवसान नहीं करता। इसलिए

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३४४
२ वही, पृष्ठ-३४४
३ वही, पृष्ठ-३४७
४ वही, पृष्ठ-३४८

निश्चित होता है कि जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण मात्र भेदविज्ञान का अभाव ही है।

स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का सद्भाव है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। पर-पदार्थ आत्मा के नहीं। विकार विकृत दशा है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान की प्रवृत्ति का कारण भेदज्ञान का सद्भाव है। भेद-विज्ञानी स्व तथा पर की पहचान सही करता है तथा पर-पदार्थ में अहंकार ममकार नहीं करता। स्वभावदृष्टिवाला जीव समस्त स्वभाव का ज्ञान करता है तथा निमित्तों और संयोगों को भी उनके स्वभाव से देखता है। निमित्त और संयोगों का स्वभाव भी स्वयं में कार्य करने का है, किन्तु उपादान में कार्य करने का नहीं। ज्ञानी जीव संयोगों से ज्ञान नहीं मानता।[१]

मोह की प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान है।

इसप्रकार भेदविज्ञान प्रगट करके मोह का नाश करना चाहिए।[२]''

इन गाथाओ में मूलरूप से तो यही कहा गया है कि परद्रव्यो में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण भेदविज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का उपाय एकमात्र भेदविज्ञान है।

पृथ्वीकायिक आदि जो ससारी जीव हैं; वे सभी सदेह हैं। तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से आजतक शरीर से इनका वियोग एक समय के लिए भी नहीं हुआ। विग्रहगति मे भी, न सही औदारिक-वैक्रियिक शरीर, पर कार्माण और तेजस शरीरों का संबंध तो विग्रहगति मे भी रहता ही है।

इसप्रकार ये मनुष्यादि पर्यायें एक आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुओं के पिंड के रूप में हैं; तो भी यह अज्ञानी जगत इन्हें जीव कहता है। न केवल अज्ञानी जगत, जिनवाणी में भी प्रयोजनवश सदाचार

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३५०

२ वही, पृष्ठ-३५०

की सिद्धि के लिए अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से इन मनुष्यादि पर्यायों को जीव कहा गया है।

अरे इन मनुष्यादि पर्यायो में जीव द्रव्य तो मात्र एक ही है, पर परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य तो अनंत हैं। इसप्रकार जीव से अनंतगुणे पुद्गल जिन असमानजातीय-द्रव्यपर्यायों में हों, उन्हें जीव कहना कहाँ तक उचित है – यह एक विचारणीय बात है।

उक्त संदर्भ में इन गाथाओं में यह कहा गया है कि ये पृथ्वीकायिक आदि जीवनिकाय अन्य हैं और भगवान आत्मा अन्य है। जो यह नहीं जानता, वह आत्मा अज्ञानी है और जो आत्मा इन दोनों को अन्य-अन्य जानता है, वह भेदज्ञानी आत्मा ज्ञानी है, धर्मात्मा है। ●

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा का जानना ही सार्थक है।

सुनकर नहीं, पढकर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान है और आत्मध्यान होता है तो उसीसमय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

प्रवचनसार गाथा १८४-१८५

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि यह आत्मा त्रस-स्थावर आदि जीव निकायों से भिन्न है; तथापि यह आत्मा उनमें एकत्व-ममत्व करता है और उसके फल में अनन्त दु:ख उठाता है।

अब इन गाथाओं में यह कहा जा रहा है कि आखिर आत्मा का कार्य क्या है ?

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।१८४।।
गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ।।१८५।।

(हरिगीत)

निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा।
और पुद्‍गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं ।।१८४।।
जीव पुद्‍गल मध्य रहते हुए पुद्‍गलकर्म को।
जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे ।।१८५।।

अपने भावों को करता हुआ यह आत्मा वस्तुत: अपने भाव का ही कर्ता है; पुद्‍गलद्रव्यमय सर्वभावों का कर्ता नहीं है।

पुद्‍गल के मध्य रहता हुआ भी यह जीव वस्तुत: सदा ही उन पौद्‍गलिक कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न छोडता है और न करता ही है।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुत: यह भगवान आत्मा अपने भाव का कर्ता है; क्योंकि वह भाव उसका स्वधर्म है। आत्मा में उसरूप परिणमित होने की शक्ति है। इसलिए वह कार्य अवश्यमेव आत्मा का कार्य है।

इसप्रकार यह आत्मा अपने भाव को स्वतंत्रतया करता हुआ, उस भाव का कर्ता है और आत्मा के द्वारा किया गया वह अपना भाव आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। इसप्रकार अपना परिणाम आत्मा का कर्म है।

परन्तु यह भगवान आत्मा पौद्‌गलिक भावों को नहीं करता; क्योंकि वे पर के धर्म हैं; इसलिए आत्मा में उसरूप होने की शक्ति न होने से वे आत्मा के कर्म (कार्य) नहीं हैं।

इसप्रकार यह आत्मा उन पौद्‌गलिक भावों को न करता हुआ, उनका कर्ता नहीं होता और वे पौद्‌गलिक भाव आत्मा के द्वारा न किये जाने से आत्मा के कर्म नहीं हैं।

वस्तुत: बात यह है कि पुद्‌गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार अग्नि लोहे के गोले के ग्रहण-त्याग से रहित होती है; उसीप्रकार यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित है।

जो जिसका परिणमानेवाला होता है; वह उसके ग्रहण-त्याग से रहित नहीं होता। आत्मा परद्रव्य के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। इसलिए यह आत्मा पुद्‌गलों को कर्मभाव से परिणमानेवाला नहीं है।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कहते हैं कि यहाँ 'स्वभाव' शब्द से रागादिभाव लेना चाहिए।

वे लिखते हैं कि यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-बुद्धएकस्वभाव ही कहा गया है; तथापि कर्मबंध के प्रसंग में अशुद्धनिश्चयनय से रागादि परिणाम भी स्वभाव कहलाते हैं।

इसप्रकार यहाँ आत्मा को रागादि भावों का कर्ता कहा गया है और पर के कर्तृत्व का निषेध किया गया है।

आचार्य जयसेन की एक बात और भी उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि जिसप्रकार सिद्धभगवान पुद्‌गलों के बीच रहते हुए भी परद्रव्य को

न तो करते हैं, न ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं; उसीप्रकार शुद्धनिश्चय-नय की अपेक्षा शक्तिरूप से ससारी जीव भी इन सबसे रहित हैं।

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी १ मनहरण और १ द्रुमिला छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

आतमा दरब निज चेतन सुपरिनाम,
ताही को करत सदा ताही में रमत है।
आपने सुभाव ही को करता है निहचै सो,
निजाधीन भाव भूमिका ही में गमत है।।
पुग्गलदरवमई जेते हैं प्रपंच संच,
देहादिक तिनको अकरता समत है।
ऐसे भेद भेदज्ञान नैनतैं विलोको वृन्द,
याही बिना जीव भव भांवरी भमत है।।९२।।

यह आत्मद्रव्य अपने चेतन परिणामों को करता है और उन्हीं को भोगता है। निश्चय से वह अपने स्वभावभावों का ही कर्ता-भोक्ता है, इसलिए वह स्वाधीनरूप से अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

पुद्गलद्रव्य का जितना भी विस्तार है, देहादिक की रचना है; उन सबका आतमा अकर्ता है। वृन्दावनदासजी कवि कहते हैं कि हम तो इसप्रकार के भेदज्ञान के नयनों से देखते हैं और इसके बिना ही जीव ससार में भ्रमण करते हैं।

(द्रुमिला)

यह जीव पदारथ की महिमा, जग में निरखो भ्रम को हरिके।
मधि पुग्गल के परिवर्ततु है, सब कालविषैं निहचै करिके।।
तब हू तिन पुग्गल कर्मनि को, न गहै न तजै न करै धरिके।
वह आपुहि आप सुभावहि तैं, प्रनवै सतसंगति में परिके।।९३।।

हे भव्यजीवो ! भ्रम को दूर करके जगत में जीव पदार्थ की महिमा को देखो कि वह सदा ही पुद्गल के बीच में रहता है; फिर भी निश्चय से

पौद्गलिक कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न त्याग करता है, न करता है, न धरता है, वह पुद्गलकर्म सत्संगति में पड़कर अपने स्वभाव से अपने आप ही परिणमित होता है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव दो पद्यों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया तेईसा)

ग्यानस्वरूप सुजीव सही अपने परिनामनि कौं करता है।
जो अपनैं परिनामनि कौ करता निहचै गुन आचरता है।।
पुग्गल द्रव्य स्वरूप सु कर्म च फंद विषैं सु नहीं परता है।
जो तन आदि पदारथ हैं तिनिकौ सु नहीं करता हरता है ।।१४६।।

यह ज्ञानस्वभावी जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है। अपने परिणामों को करनेवाला जीव अपने स्वभाव का आचरण करता है। वह पौद्गलिक कर्मों के बधन में नहीं पडता है; क्योंकि वह शरीरादि पदार्थों का कर्ता-हर्ता नहीं बनता है।

(सवैया तेईसा)

सो जिय कौ चिरकाल प्रवर्तन जद्यपि पुग्गल बीच रहै है।
निश्चय सौं करता सु नहीं अपनै निज आपु प्रवाह वहै है।।
जो वसु कर्म मई सु उपाधि कही तिहि कौं सु न छोड़ै चहे है।
जैसैं न लोह के पिंड कौं आगि सुभाव सौं त्याज करै न ग्रहै है।।१४७।।

यद्यपि यह आत्मा चिरकाल से पुद्गलों के बीच में रहता आ रहा है, तथापि यह निश्चय से पुद्गलों का कर्ता नहीं है, वह तो अपने स्वभाव के प्रवाह में ही स्वय प्रवाहमान रहता है। जिसप्रकार अग्नि लोहे के पिण्ड को स्वभाव से ही न तो ग्रहण करती है और न उसका त्याग ही करती है; उसीप्रकार यह आत्मा अष्टकर्मों की उपाधि को स्वभाव से ही न ग्रहण करता है और न छोडता ही है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

जीव यदि नरक-निगोद में जाये तो भी स्वयं के कारण और सिद्धदशा को प्राप्त हो तो भी स्वयं के कारण होता है, अन्य किसी कारण से नहीं। आत्मा समय-समय के परिणाम का स्वयं करता है।[१]

आत्मा स्वय की समय-समय की योग्यतानुसार विकार अथवा अविकार परिणाम करता है, उसे यहाँ धर्म कहा है। यहाँ निर्मलपर्यायरूप धर्म की बात नहीं। प्रति समय भावरूप होना आत्मा का धर्म है; किन्तु उस भाव को जड़ धारण नहीं कर सकता।[२]

आत्मा में स्वय प्रतिसमय विकार अथवा अविकाररूप परिणमन की शक्ति होने से वह भाव अवश्य ही आत्मा का कार्य है और उस भाव को आत्मा स्वतत्रपने करता है, इसलिए वह कर्ता है। कर्ता की व्याख्या भी इसप्रकार है कि जो स्वतत्रपने करे, वह कर्ता और कर्ता को जो इष्ट हो, वह कर्म। निमित्त से अथवा कर्म के उदय से कोई कार्य हुआ कहने से वस्तु का कर्तापना नहीं रहता, इसलिए द्रव्य कारण है और पर्याय उसका कार्य है। पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी हो – उनका कर्ता आत्मद्रव्य स्वय ही है।[३]

प्रत्येक पदार्थ कायम रहकर पूर्व पर्याय का व्यय करके नवीन पर्याय का उत्पाद करता है। यहाँ जो पूर्व पर्याय का व्यय हुआ – अभाव हुआ, वह वर्तमान पर्याय का क्या करे? यदि निमित्त से उत्पाद होता हो तो कोई स्वतत्र नहीं रहेगा। वैसे ही यदि पूर्व पर्याय के कारण वर्तमान पर्याय हो तो उत्पाद स्वतंत्र नहीं रहेगा।

अहो ! वस्तुस्वरूप अलौकिक है। मात्र वर्तमान और त्रिकाली द्रव्य – इन दो के बीच ही सबंध है। कर्म के साथ, निमित्त के साथ अथवा पूर्व पर्याय के साथ वर्तमान का जरा भी संबध नहीं। प्रत्येक समय की विकारी अथवा अविकारी पर्याय स्वतत्र है।[४]

आत्मा रूपी पदार्थों के भावों को भी नहीं करता; क्योंकि आत्मा

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३५२　　२ वही, पृष्ठ-३५२
३ वही, पृष्ठ-३५२　　४ वही, पृष्ठ-३५३

में रूपीपने होने की शक्ति नहीं है; इसलिए वह उन कार्यों का अकर्ता ही है, इसप्रकार आत्मा पर-पदार्थों के परिणाम का कर्ता नहीं और वे पर-पदार्थ भी आत्मा के द्वारा किये नहीं हैं; इसलिए वे आत्मा के कार्य नहीं हैं। जो जीव ऐसा सच्चा ज्ञान करता है, उसे पर-कर्तृत्व और ममत्व नष्ट होकर धर्म प्रगट होता है।[१]

जो जिसको परिणमाने वाला देखने में आता है, वह उसके ग्रहण-त्याग रहित देखने में नहीं आता और जो जिसके ग्रहण-त्याग रहित देखने में आता है, वह उसका परिणमाने वाला नहीं हो सकता। जैसे आत्मा शरीर, कुटुंब, लक्ष्मी के ग्रहण-त्याग से रहित होने से उनको परिणमा नहीं सकता; वैसे ही उनका ग्रहण-त्याग भी नहीं कर सकता। यदि आत्मा लक्ष्मी को परिणमा सकता हो तो वह लक्ष्मी के ग्रहण-त्याग रहित कभी नहीं हो सकता। मृत्यु के समय शरीर, कुटुंब, लक्ष्मी यहीं पडे रहते हैं और जीव चला जाता है। इससे ख्याल में आता है कि आत्मा ने परवस्तु का ग्रहण-त्याग किया ही नहीं। जब किसी वस्तु का ग्रहण-त्याग ही नहीं किया तो उस वस्तु को आत्मा कैसे परिणमा सकता है? इसप्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा शरीर, लक्ष्मी, कुटुब इत्यादि पर पदार्थों को परिणमा नहीं सकता।[२]

इतना विशेष जानना कि आत्मा स्वयं के परिणाम का कर्ता होने से वह उस परिणाम के ग्रहण-त्याग रहित देखने में नहीं आता। आत्मा स्वयं की पर्याय में शुभाशुभ भाव को ग्रहण करता है; किन्तु उसका भी त्याग करके शुद्धभाव को ग्रहण करता है, वह भी पर्यायदृष्टि से है। वस्तुस्वभाव में तो शुभाशुभ भाव का भी ग्रहण-त्याग नहीं। पर्यायदृष्टि से आत्मा प्रतिसमय स्वय के परिणाम का कर्ता है; इसकारण वह स्वयं के परिणाम को प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोडता है। इसप्रकार परिणामी आत्मा स्व परिणाम को ग्रहण करता है और छोडता है; किन्तु वह पर-वस्तु का न तो ग्रहण करता है और न छोडता है।

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३५४ २ वही, पृष्ठ-३५७

पर-पदार्थ का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ – ऐसा माननेवाले को धर्म नहीं होता।[१]

इसप्रकार शरीर, कर्म इत्यादि आत्मा के साथ एकक्षेत्र में होने पर भी आत्मा पर-पदार्थों के ग्रहण-त्याग रहित है – ऐसा निश्चित होता है।

यह ज्ञेय अधिकार है। स्वज्ञेय में अपने परिणाम तू कर सकता है; किन्तु शरीर, कर्म आदि परज्ञेयो के परिणाम तू नहीं कर सकता; इसलिए उनका ग्रहण-त्याग तुझे नहीं हो सकता। अत पर-पदार्थों का ममत्व छोडकर स्वय की पर्याय मे ममता स्वयं के कारण तुम स्वयं करते हो – ऐसा निश्चित करके स्वभाव को ममता रहित माने तो ममता छूटे और धर्मदशा प्रगट हो।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यह आत्मा अपने विकारी भावों का कर्ता-भोक्ता तो है; परन्तु पर का कर्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। इसप्रकार यह भगवान आत्मा परपदार्थों को न तो करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन्हे छोडता ही है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३५८ २ वही, पृष्ठ-३५८

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खडे हो जाइए और देखिये इस दुनिया का उतावलापन/ चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खडा है, आपको रोकने के लिए, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं। यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सडक पार करना खतरे से खाली नहीं. कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिसवाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं ? क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है ? इतनी भी जल्दी किस काम की ? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है।

क्या यह इस देश का दुर्भाग्य नहीं है कि आप अपने उतावलेपने के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर न मर जावें, मात्र इस इसलिए लाखों पुलिसमैनों को चोराहों पर खडा रहना पडता है।

क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२२१

प्रवचनसार गाथा १८६-१८७

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट हो जाने पर कि वस्तुत: यह आत्मा अपने रागादि विकारी भावों का कर्ता होने पर भी परद्रव्यों का कर्ता नहीं है और उनके ग्रहण-त्याग का भी कर्ता नहीं है; अब इन गाथाओं में यह स्पष्ट करते हैं कि परमार्थ से परपदार्थों के कर्तृत्व और ग्रहण-त्याग से रहित होने पर भी यह आत्मा व्यवहार से अपने विकारी भावों को करते हुए कदाचित् कर्मरज से ग्रहण किया जाता है और छोडा जाता है तथा वह कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप परिणमित होती है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाइं विमुच्चदे कम्मधूलीहिं॥१८६॥
परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं॥१८७॥

(हरिगीत)

भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा।
रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता-छूटता॥१८६॥
रागादियुत जब आतमा परिणमे अशुभ-शुभ भाव में।
तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े॥१८७॥

आत्मद्रव्य ससारावस्था मे उत्पन्न होनेवाले अपने अशुद्ध परिणामो का कर्ता होता हुआ कर्मरज से कदाचित् ग्रहण किया जाता है और छोडा जाता है।

जब आत्मा राग-द्वेषयुक्त होता हुआ शुभ और अशुभ में परिणमित होता है, तब कर्मरज ज्ञानावरणादिरूप से उसमें प्रवेश करती है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी संसारावस्था में यह आत्मा परद्रव्य के परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए केवल स्वपरिणाममात्र का कर्तृत्व अनुभव करता हुआ, उसके इसी परिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई पुद्गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से कदाचित् ग्रहण किया जाता है और छोडा जाता है।

जिसप्रकार नये मेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के साथ अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं; उसीप्रकार आत्मा के शुभाशुभपरिणामों के समय कर्मपुद्गल परिणाम स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं।

जिसप्रकार नये मेघजल के भूमि के सयोग में आने पर अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता और इन्द्रगोप आदि रूप परिणमित होते हैं; उसीप्रकार जब यह आत्मा राग-द्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है; तब योग द्वारों से प्रविष्ट होते हुए अन्य कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मों की विचित्रता उनके स्वभावकृत ही है, आत्मकृत नहीं।"

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को २ मनहरण कवित्त और १ दोहा के माध्यम से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

सोई जीव दर्व अब संसार अवस्था मांहि,
अशुद्ध चेतना जो विभाव की ढरनि है।
ताही को बन्यौ है करतार ताके निमित्त सों,
याके आठ कर्मरूप धूलि की धरनि है।।

सेई कर्म धूल मूल भूल को सुफल देहि,
फेरी काहू कालमाहिं तिनकी करनि है।
ऐसे बंधजोग भाव आपनो विभाव जानि,
त्यागै भेदज्ञानी जासों संसृत तरनि है॥९४॥

वही जीवद्रव्य संसारावस्था में विभावभावरूप अशुद्ध चेतना में ढलकर उसका कर्ता बनता है और उसके निमित्त से आठ कर्मों की धूल में मिल जाता है।

उक्त कर्म धूल जब उदय में आती है तो उसके निमित्त से नये मोह-राग-द्वेष भाव पैदा होते हैं। इसप्रकार बंध योग्य भाव तो अपने विभावभाव ही हैं। इसलिए भेदज्ञानी जीव उनका त्याग करके संसार समुद्र से पार होते हैं।

(मनहरण)

जबै जीव राग-दोष समल विभावजुत,
शुभाशुभरूप परिनाम को ठटत है।
तबै ज्ञानावरनादि कर्मरूप परज याके,
जोग द्वार आय कै प्रदेश पै पटत है॥
जैसे रितु पावस में धाराधर धारनि तैं,
धरनि में नूतन अंकुरादि अटत है।
तैसे ही शुभाशुभ अशुद्ध रागदोषनि तैं,
पुग्गलीक नयौ कर्म बंधन वटत है॥९५॥

जब यह जीव राग-द्वेषरूप समल विभाव भावों से युक्त होता है, शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है; तब योगों के द्वारा कार्माणवर्गणायें आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगारूप हो जाती हैं और ज्ञानावरणादिरूप परिणमित होती हैं।

जिसप्रकार वर्षा ऋतु में बादलों के बरसने से पृथ्वी नये अंकुरों से आच्छादित हो जाती है; उसीप्रकार राग-द्वेषरूप शुभाशुभ अशुद्धभावों से पौद्गलिक वर्गणायें नये कर्मबंधन के रूप में परिणमित हो जाती हैं।

(दोहा)

तातैं पुद्गल दरव ही, निज सुभाव तैं भीत।
अति विचित्रगति कर्म को, कर्ता होत प्रतीत ॥९६॥

इसलिए पुद्गलद्रव्य अपने स्वभाव से ही अति विचित्र गतिवाले कर्म का कर्ता होकर परिणमित होता है – ऐसा प्रतीत होता है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को एक-एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

सोई जीव द्रव्य या ही जग मांहिं परद्रव्य
के निमित्त सौं असुद्ध परिनाम धरै है।
सो असुद्ध चेतनामई सु परिनामनि कौ
पाइ कैं निमित्त कर्म रूप अनुसरै है॥
ग्यानावरनादि अष्ट भाव कौ सु परिनये
कर्म धूलि ग्रहिकैं सु बंध मांहिं परे है।
काहु और काल के विषैं सु रसु दैकैं आपु
कर्म रज जाकौ आप हूँ सु त्याज करै है॥१४८॥

वही ससारी जीवद्रव्य इस जगत में परद्रव्य के निमित्त से शुभाशुभभावरूप अशुद्धपरिणामों को धारण करता है और उन अशुद्ध चैतन्य परिणामो का निमित्त पाकर कर्मों का अनुसरण करता हुआ ज्ञानावरणादि अष्ट भावों रूप परिणमन करके कर्मधूलि को ग्रहण करके बधन में पड जाता है। फिर अन्य काल में रस देकर वह कर्मरज अपने आप खिर जाती है, आत्मा के सम्पर्क का त्याग कर देती है।

(गीतिका)

जिहि काल यह चेतनि सु राग विरोध करि संजुक्त है।
तिस ही समैं सुभ असुभ भावनि के मझार सु धुक्त है॥
तव ही सुग्यानावरन आदि सु अष्ट कर्मनि सौं रसै।
जो कर्म धूलि त्रिजोग दरवाजे सु हो करिकैं धसे॥१४९॥

जिससमय यह आत्मा राग-द्वेष से युक्त होता है, उसीसमय

शुभाशुभभावों में रच-पच जाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में रस लेने लगता है और त्रियोग के दरवाजे से कर्म धूलि का ग्रहण कर उसमें धस जाता है।

इन गाथाओं के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार समुद्र की लहरें पवन के कारण नहीं उठती, स्वयं की योग्यता से उठती है; उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के परिणामों को जीव स्वयं की योग्यता से करता है; कर्म, काल अथवा बाहर के संयोग उन परिणामों को नहीं कराते। वे परिणाम स्वयं को न जानने के कारण होते हैं। उस समय लक्ष्य यदि परपदार्थ अथवा कर्म के ऊपर हो, तो उनको निमित्त कहा जाता है।

निगोद के जीव को तीव्र कर्म का उदय है; इसलिए विकार करता है – ऐसा नहीं। तथा सज्ञी जीव को कर्म का उदय मंद है; इसलिए धर्म का पुरुषार्थ करता है – ऐसा भी नहीं। वे परिणाम स्वयं के द्रव्य में से बहते हैं; पर के कारण नहीं होते।

इसप्रकार पर का लक्ष्य करके आत्मा स्वयं विकार उत्पन्न करके मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि का कर्ता होता है।

राग का निमित्त पाकर पुद्गलकर्म स्वतंत्रपने बंधते हैं। जीव जब रागादिरूप परिणाम करता है, तब नवीन कर्म परमाणु उन परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के एकक्षेत्र में बंधते हैं। आत्मा जिस-जिस प्रकार के विकारी परिणाम करता है, उस-उस प्रकार के कर्म आते हैं। जब तीव्र अनुभाग वाले परिणाम करता है, तब तीव्र रसवाले कर्म बंधते हैं और जब मंद अनुभाग वाले परिणाम करता है, तब मंद रसवाले कर्म बंधते हैं। तथा जितने प्रमाण में परिणाम करता है, उतने प्रमाण में कर्म बंधते हैं।[१]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३६१

इस जगत में जितने आत्मा हैं, उनसे अनंतगुणी कार्मणवर्गणाओं का समूह लोक में भरा पड़ा है। उनमें से जिनकी कर्मरूप होने की योग्यता होती है, उतने परमाणु कर्मरूप से परिणमित हो जाते हैं और आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहते हैं।[१]

बरसात होने पर पुद्गल हरे, सफेद और लालरूप परिणमता है; उसीप्रकार जीव स्वय के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर शुभाशुभ भावरूप परिणमता है, तब पुद्गल परमाणु स्वयं के कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि विचित्रतारूप जुदे-जुदे बंधरूप होते हैं।[२]

प्रथम तो जीव को निश्चित करना चाहिए कि प्रत्येक पर्याय स्वतत्र होती है। विकार पर के कारण नहीं होता। स्वभाव में विकार नहीं है। स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूप है। इसप्रकार संयोगों और अश के ऊपर से रुचि हटाकर, अंशी स्वरूप के ऊपर लक्ष्य करें तो शांति प्रगट होती है।

प्रतिसमय पर्याय क्रमबद्ध हो रही है। उस क्रम के ऊपर का लक्ष्य छोडकर अक्रम शांत ज्ञातादृष्टारूप शुद्धस्वभाव पर झुके, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय सच्चा कहा जाता है। अक्रमस्वभाव के निर्णय बिना जो होना होगा, वह होगा – ऐसा ऊपर से बोले सो वह क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय नहीं।[३]

जो एक समय के विकार को स्वतंत्र स्वीकार करता है, वह अंशी-स्वभाव को भी स्वतंत्र स्वीकारता है – ऐसी स्वभाव दृष्टि करने वाले का निर्णय सच्चा है।[४]

द्रव्यकर्मों की विचित्रता का बध स्वतंत्र होता है, उसमें शुभाशुभ परिणाम निमित्त मात्र हैं – ऐसा यथार्थ ज्ञान करके पर्याय के स्वतंत्रक्रम के ऊपर से लक्ष्य उठाकर अक्रमस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना ही धर्म है।[५]"

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३६१

२ वही, पृष्ठ-३६४

३ वही, पृष्ठ-३६६-३६७

४ वही, पृष्ठ-३६७

५ वही, पृष्ठ-३६७

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का कर्ता स्वयं है। कर्ता के संबंध में कहा गया है कि **स्वतंत्रः कर्ता**। जो अपने कार्य को स्वतंत्ररूप से करे, उसे कर्ता कहते हैं।

जीव द्रव्य अपने निर्मल परिणामों को स्वतंत्रपने करता है; इसलिए वह उनका कर्ता तो है ही; किन्तु अज्ञानावस्था में विकारी परिणामों का कर्ता भी वही है। यद्यपि विकारी भावों में कर्मोदय निमित्त होता है; तथापि वह कर्मोदय तो मात्र निमित्त ही है, कर्ता नहीं।

तात्पर्य यह है कि वास्तविक कर्ता तो उपादान ही होता है। कहा गया है कि **यः परिणमति स कर्ताः**[1] जो परिणमित होता है, वही कर्ता होता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि ज्ञानी जीव ज्ञानभाव (निर्मल परिणाम – शुद्धभाव) का कर्ता है और अज्ञानी जीव अज्ञानभाव का कर्ता है।

इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह जीव ज्ञानावस्था में ज्ञानभावों का और अज्ञानावस्था में अज्ञानभावों का कर्ता है।

भावकर्म जीव के विकारी परिणाम हैं; अतः अज्ञानावस्था में वह उनका कर्ता है और द्रव्यकर्म पौद्‌गलिक कार्मणवर्गणाओं के कार्य हैं; अतः उनका कर्ता पुद्‌गल ही है, जीव नहीं। कहा भी है –

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुद्‌गल करै, यह निहचै परवान।।१७।।[2]

ज्ञानी ज्ञानभावों का व अज्ञानी अज्ञानभावों का कर्ता है और पौद्‌गलिक द्रव्य-कर्मों का कर्ता पुद्‌गल है – यह निश्चयनय का कथन है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि रागादि भाव अज्ञानभाव हैं तो वे ज्ञानी के भी तो रागादि भाव पाये जाते हैं; उनका कर्ता कौन है ?

---

१ समयसार कलश, कलश ५१
२ समयसार नाटक, कर्ताकर्मक्रियाद्वार, छन्द-१७, पृष्ठ-८०

मिथ्यात्व के साथ रहनेवाले अनन्तानुबंधी संबंधी रागादि का नाम ही अज्ञानभाव है। ऐसा अज्ञानभाव ज्ञानियों के होता ही नहीं है। ऐसा अज्ञानभाव तो अज्ञानियों के ही होता है; अत: वे ही उन रागादिभावों के कर्ता हैं।

ज्ञानी के होनेवाले अप्रत्याख्यानावरणादि सबंधी रागादि भावों का ज्ञानी कर्ता नहीं; अपितु ज्ञाता ही है; क्योंकि वह उन्हें जानता तो है, पर उनका कर्ता नहीं बनता। अत: वह उन्हें जाननेरूप क्रिया का कर्ता तो है, पर उन रागादि भावों का कर्ता नहीं। पर का कर्ता तो ज्ञानी और अज्ञानी – दोनों ही नहीं हैं।

प्रवचनसार परिशिष्ट में ४७ नयों के प्रकरण में आत्मा को कर्तानय से अप्रत्याख्यानावरणादि रागादि भावों का कर्ता कहा है; पर साथ में वही जीव उसी समय अकर्तानय से उक्त रागादि का अकर्ता भी है – यह भी कहा है।

विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से कथन किया जाता है। अत· कहाँ किस अपेक्षा से कथन किया गया है – इसे बारीकी से समझना चाहिए।

यहाँ तो मूलत: यह कहा गया है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से रागादि का कर्ता होने पर भी पर का कर्ता नहीं है; तथापि असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा अपने रागादि भावों को करते हुए पुद्गल कर्मों को करता है, ग्रहण करता है और उनका त्याग भी करता है।

उक्त दोनों गाथाओं में से पहली गाथा में निश्चय से पर का अकर्ता बताया और दूसरी गाथा मे व्यवहार से कथंचित् पर का कर्ता भी बताया है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के उपरान्त एक गाथा आती है; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध नहीं होती।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥१३॥

(हरिगीत)

विशुद्धतम परिणाम से शुभतम करम का बंध हो।
संक्लेशतम से अशुभतम अर जघन हो विपरीत से ॥१३॥

तीव्र अर्थात् अधिक विशुद्धि होने पर शुभप्रकृतियों का तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है और तीव्र संक्लेशपरिणामों से अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अर्थात् उत्कृष्ट बंध होता है तथा इससे विपरीत परिणामों से सभी प्रकृतियों का जघन्य अनुभाग बंध होता है।

उक्त गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि किसप्रकार के शुभाशुभभावों में से किसप्रकार के भाव से किसप्रकार का बंध होता है। टीका में भी इसी बात को सोदाहरण दुहरा दिया है; अधिक विस्तार से कुछ नहीं कहा है।

उक्त सदर्भ में विस्तार से जानने की इच्छा हो तो तत्संबंधी करणानुयोग के शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

परकर्तृत्व-भोक्तृत्व संबंधी जितना भी कथन है, वह सब असद्भूत-व्यवहार-नय का कथन है। यद्यपि यह कथन प्रयोजनपुरतः ही उपयोगी है, जानने योग्य है, उपादेय है; तथापि करणानुयोग का मूलाधार भी यही है; क्योकि करणानुयोग आत्मा के विकारी भावों और पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओं में होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबध को आधार बनाकर ही अपनी बात प्रस्तुत करता है। ●

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे पर धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एक मात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है। **–मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१०**

प्रवचनसार गाथा १८८

विगत गाथाओं में बंध का स्वरूप निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक स्पष्ट करने के उपरान्त अब आगामी गाथा में यह कहते हैं कि यह आत्मा स्वयं ही बंध है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरएहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये।।१८८।।

(हरिगीत)

सप्रदेशी आतमा रुस-राग-मोह कषाययुत।
हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा।।१८८।।

सप्रदेशी यह आत्मा यथासमय मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से बद्ध होता हुआ 'बध' कहा जाता है।

इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार इस जगत में प्रदेशवाला होने से वस्त्र लोध-फिटकरी आदि से कषायित होता है और कषायित होने से मंजीठादि रंग से सम्बद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है; उसीप्रकार सप्रदेशी होने से यह आत्मा भी यथाकाल मोह-राग-द्वेष के द्वारा कषायित होने से कर्मरज से लिप्त होता हुआ अकेला ही बंध है – ऐसा जानना चाहिए; क्योंकि निश्चय का विषय शुद्धद्रव्य है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(मनहरण)

सो असंख प्रदेश प्रमान जगजीवनि के,
मोह राग दोष ये कषायभाव संग है।
ताही तैं करमरूप रजकरि बँधै ऐसे,
सिद्धांत में कही वृन्द बंध की प्रसंग है।।
जैसे पट लोध फटकड़ी आदि तैं कसैलो,
चढत मजीठ रंग तापै सरवंग है।
तैसे चिदानंद के असंख परदेश पर,
चढत कषाय तैं करम रज रंग है।।९७।।

असंख्यातप्रदेशी संसारी जीवों के मोह-राग-द्वेषरूप कषायभावों का साथ है। उक्त मोह-राग-द्वेषभावों से ये संसारी जीव कर्मरूपी रज से लिप्त होते हैं– यह बात करणानुयोगसंबंधी सिद्धान्तशास्त्रों में बंध के प्रसंग में कही है।

जिसप्रकार कपड़ा लोघ, फिटकरी आदि के संयोग से कषायित (कसैला) होता है; तब उस पर सर्वांग मजीठ रंग चढ जाता है; उसीप्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेशों पर कषाय से कर्मधूलि का रंग चढ जाता है।

तात्पर्य यह है कि संसारी जीवों में इसप्रकार कर्मबंध होता है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

(छप्पय)

ज्यों हररा फटकरिय लोधु तिहि कौ सुपाइ संगु।
सेत वस्त्र सो होहि अरू न गहि कैं मजीठ रंगु।।
जैसें सप्रदेसी सु जीव संसार विषैं इय।
राग दोष अरु मोहभाव करिकैं प्रकार तिय।।
ग्यानावरनादि सु अष्टविधि कर्मनि सौं सु वधै सही।
इहि भांति जिनेस्वरदेव नैं बंध कथा परगट कही।।१५०।।

जिसप्रकार लोध, हर्र और फिटकरी की संगति पाकर इनसे संस्कारित होकर सफेद वस्त्र मजीठ रंग को ग्रहण करके सर्वांग लाल हो

जाता है; उसीप्रकार संसार में सप्रदेशी जीव मोह-राग-द्वेष करके ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को सर्वांग बाँध लेता है। इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने बंध कथा कही है अर्थात् बंध का स्वरूप प्रगट किया है, कहा है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अज्ञानी तथा ज्ञानी को स्वयं के भाव का बंधन है, कर्म का बंधन नहीं। जिसप्रकार वस्त्र के ताने-बाने घने हैं और वह घने ताने-बानेवाला वस्त्र स्वयं ही मजीठ आदि जुदे-जुदे रंगों से रंगा हुआ है; उसीप्रकार स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान न होने पर अज्ञानी जीव मोह-राग-द्वेष से रगा है और ज्ञानी जीव स्वय की स्थिरता से चूककर अस्थिरता के राग-द्वेष से रंगा है। इसतरह आत्मा स्वयं के भावबध से बंधा है; जडकर्म से नहीं बधा है।[१]

ज्ञानी अथवा अज्ञानी का माप बाह्य-सयोगों से नहीं; अपितु अतर परिणमन से है। कोई कहता है कि एक व्यक्ति पूजा-भक्ति करता था; किन्तु सच्चा वस्तुस्वरूप समझने पर उसने पूजा-भक्ति करना छोड़ दिया; इसलिए वह धर्मी नहीं है; इसतरह से हमें मात्र बाह्य-संयोग अथवा क्रिया से माप नहीं करना चाहिए; क्योंकि धर्मी जीव कई बार स्वयं के स्वभाव का विशेष घोलन करने हेतु स्वाध्याय में लगे हों अथवा स्वय के स्वरूप संबधी विचार में हों तो उन्हें पूजा-भक्ति का विकल्प कदाचित् न भी उठे, वह उस समय ऐसे बाह्य संयोगों में भी न दिखें; किन्तु इसकारण उन्हें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रमोद नहीं – ऐसा एकान्त से नहीं मानना चाहिए; क्योंकि बाह्य-क्रिया तो ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों ही नहीं कर सकते।[२]

जो विकार होता है, वह निश्चय से तुम्हारे द्रव्य में होता है; तुम्हारे द्रव्य में जो कुछ होता है, वह पर के निमित्त के बिना ही होता है – ऐसा कहकर यहाँ निश्चय का विषय विशेष द्रव्य अर्थात् विकारी द्रव्य है –

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३६८ २ वही, पृष्ठ-३६९

ऐसा कहा है और समयसार में विकार तुम्हारा स्वरूप नहीं – ऐसा सामान्य शुद्धद्रव्य का लक्ष्य कराकर सामान्य शुद्धद्रव्य को निश्चय का विषय कहा है। यहाँ प्रवचनसार में ज्ञान-प्रधान कथन होने से विकारी पर्याय को जीव का ही बताया है, कर्मकृत नहीं बताया। ऐसा पर से भिन्न बताकर निश्चय का विषय विकारी द्रव्य है – ऐसा कहा है; इसलिए सही अपेक्षा समझनी चाहिए।

इसप्रकार आत्मा अकेला ही स्वयं के भाव के साथ बंधरूप होता है – ऐसा समझकर बंधरहित शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिये; क्योंकि यही धर्म है।[१]"

उक्त तथ्य को बडी ही रोचक शैली में कविवर पण्डित भूधरदासजी ने इसप्रकार व्यक्त किया है–

(मनहरण)

कहै एक सखी स्यानी सुन री सुबुद्धि रानी
तेरौ पति दु:खी देख लागे उर आर है।
महा अपराधी एक पुद्गल है छहों मांहि।
सोई दु:ख देत दीसै नाना परकार है।।
कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुद्गल कौ
अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है।
खोटौ दाम आपनो सराफै कहा लगे वीर
काहू कौ न दोष मेरौ भोंदू भरतार है।।

सुबुद्धि रानी से उसकी एक सखी कहती है कि हे सुबुद्धि रानी ! तुम मेरी एक बात ध्यान से सुनो। तुम्हारे पति को दुखी देखकर मुझे लगता है कि उसके हृदय में कोई शूल चुभ रहा है। मेरा कहना तो यह है कि लोक के इन छह द्रव्यों में यह एक पुद्गलद्रव्य ही महा अपराधी है। यह कर्मरूप पुद्गल द्रव्य ही तुम्हारे पति को अनेक प्रकार के दुख देता दिखाई दे रहा है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३७१

उत्तर में सुबुद्धि रानी कहती है कि हे सखी ! इसमें पुद्गल का क्या दोष है ? मेरा स्वामी अपनी भूल से ही दुखी हो रहा है। जब अपना सिक्का (सोना) ही खोटा हो तो फिर सर्राफ को दोष देने से क्या लाभ है ? अरी बहिन ! अन्य किसी का कोई दोष नहीं है; मेरा पति स्वयं ही भौंदू है, अज्ञानी है।

कहा भी है –

कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात लौह की संगति पाई ॥

इसमें कर्मों का क्या दोष है, इसमें तो मेरी ही अधिकाधिक भूल है। लौह की सगति पाकर अग्नि को घन के घात सहन करने ही पडते हैं।

तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वय अपनी भूल से ही दु:खी है और अपने आत्मा के आश्रय से अपनी भूल सुधारकर सुखी भी हो सकता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा अपने पर्यायस्वभाव से रागादिरूप परिणत हो रहा है; इसमें कर्मोदयरूप निमित्त का कोई दोष नहीं है।

ध्यान रहे यहाँ उक्त कथन को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाले शुद्धनिश्चयनय का कथन कहा गया है। अगली गाथा की टीका में इस बात को और भी अधिक स्पष्टरूप से कहा जायेगा।

नयों के कथन करनेवाले ग्रन्थों में इसप्रकार के प्रयोग देखने में नहीं आते; अन्यत्र भी विरल ही हैं। ●

आत्मानुभूति की दशा शुद्ध भाव है और आत्मानुभूति प्राप्त करने का विकल्प शुभ भाव। आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प अशुभ भावों के अभावपूर्वक ही आते हैं। आत्मानुभूति की प्राप्ति के प्रयत्न काल में हिंसादि और भोगादि के विकल्प बने रहें, यह सभव ही नहीं। **– मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१४**

प्रवचनसार गाथा १८९

विगत गाथाओं में निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक अनेकप्रकार से संबंधित विषयवस्तु को प्रस्तुत किया गया; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि निश्चय-व्यवहार में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, अपितु अविरोध ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

ऐसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।।१८९।।

(हरिगीत)

यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से।
नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है।।१८९।।

अरहंत भगवान ने गणधरादि यतियों के समक्ष निश्चयनय से जीवों के बध का संक्षिप्त विवरण उक्त प्रकार से प्रस्तुत किया है; पर व्यवहारनय का कथन इससे भिन्न कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

"रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है और वही रागपरिणाम पुण्य-पापरूप द्वैत है। आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है। यह शुद्धद्रव्य का निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।

जो पुद्गलपरिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है। आत्मा पुद्गल परिणाम का ही कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोडनेवाला है। – ऐसा जो नय है, वह अशुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है। यह दोनों नय हैं; क्योंकि शुद्धरूप और अशुद्धरूप – दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है।

किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम होने से ग्रहण किया जाता है;

क्योंकि साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है; किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।''

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; तथापि अन्त में एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''यहाँ प्रश्न है कि आत्मा रागादि को करता-भोगता है – ऐसे लक्षणवाला निश्चयनय कहा, वह उपादेय कैसे हो सकता है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि आत्मा रागादि को ही करता है; द्रव्यकर्म को नहीं करता। रागादि ही बंध के कारण हैं, जब जीव ऐसा जानता है, तब राग-द्वेष आदि विकल्पजाल को छोड़कर रागादि के विनाश के लिए निज शुद्धात्मा की भावना करता है। इससे रागादि का विनाश होता है और रागादि का विनाश होने पर आत्मा शुद्ध होता है; इसलिए परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने के कारण यह अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय कहलाता है, निश्चयनय कहलाता है और इसी कारण उपादेय कहा जाता है – ऐसा अभिप्राय है।''

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा का भाव २ मनहरण, २ छप्पय, २ दोहा और १ चौबोला – इसप्रकार ७ छन्दों में स्पष्ट करते हैं; जो सभी मूलत· पठनीय हैं।

नमूने के रूप में एक छन्द प्रस्तुत है –

(मनहरण)

पुण्य-पापरूप परिनाम जो हैं आतमा के,
रागादि सहित ताको आपु ही है करता।
तिन परिनामनि कौं आप ही गहन करै,
आपु ही जतन करै ऐसी रीति धरता।।
तातैं इस कथन को कथंचित् शुद्धदरवारथीक,
नय ऐसे भनी भर्महरता।

पुग्गलीक दर्व कर्म को है करतार सो,
अशुद्ध विवहारनयद्वार तैं उचरता॥९९॥

रागादि सहित आत्मा के जो पुण्य-पापरूप परिणाम हैं, उनका कर्ता आत्मा स्वयं ही है। उन परिणामों को आत्मा स्वयं ही ग्रहण करता है, धारण करता है और उनका जतन करता है, सम्भाल करता है। भ्रम का हरण करनेवाले अरहंत भगवान उक्त रीति को धारण करने से इस कथन को कथंचित् शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं और वे ही अरहंत भगवान यह कहते हैं कि अशुद्ध व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा पौद्गलिक द्रव्यकर्मों का कर्ता है।

उक्त गाथा का भाव पण्डित देवीदासजी एक पद्य में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

राग दोस मोहरूप परिनाम सौं सु बंध
जग मांहिं दयो समुझाइ पुनि पुनि कैं।
सुद्ध जीव कथन सु निश्चै नय जाके कथैं
बंध है सु निश्चै बंध लखौ एक मुनि कैं ॥
बाकी और संसारी सु जीवनि कैं द्रव्यकर्म
बंध व्यवहार सौं सु जानौं भव्य सुनि कैं।
निश्चय सु बंध उपादेय सुद्ध विवहार
हेय सो असुद्ध कह्यौ केवली की धुनि कैं॥१५१॥

जगत में मोह-राग-द्वेष परिणामों से संसारी जीव कर्मबंधन में पडते हैं – इस बात को आचार्यदेव ने भलीभाँति समझा दिया है। शुद्धजीव की कथनी में अशुद्ध निश्चयनय से बंध होता है; अतः सज्वलन कषाय सबधी रागादि रूप परिणमित होने से मुनिराजों को भी बध होता है। शेष ससारी जीवों के होनेवाला द्रव्यकर्म का बंध इससे जुदा है। हे भव्यजीवो! यह कथन व्यवहारनय का जानना चाहिए। केवली भगवान की दिव्य-ध्वनि में तो यह कहा है कि निश्चयनय से बंध होता है; परन्तु व्यवहारनय से शुद्धव्यवहार उपादेय है और अशुद्धव्यवहार हेय है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"विकार के समय कर्म निमित्त है – ऐसा ज्ञान करना व्यवहारनय है। पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है – इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि आत्मा के राग-द्वेष जडकर्म की अवस्था को कर सकते हैं; किन्तु जब जीव राग-द्वेष करता है, तब कर्म अवश्य बंधते हैं; इसलिए व्यवहार से आत्मा को जडकर्म का कर्ता कहा है।[१]

विकार स्वयं की पर्याय का अपराध है, यह अनारोपित कथन है तथा कर्म के निमित्त से राग होता है, यह आरोपित कथन है – इसका भी ज्ञान करना चाहिए।[२]

इसप्रकार विकारी पर्याय को जाननेवाला निश्चयनय अविकारी स्वभाव का स्वतंत्र कथन करने हेतु उत्कृष्ट साधन है – ऐसा यथार्थज्ञान करके शुद्धस्वभाव की तरफ बढना ही कार्यकारी है।[३]

राग परिणाम तथा वीतराग परिणाम आत्मा स्वतंत्रपने करता है। तथा शुभ-अशुभ परिणाम करने वाला भी आत्मा स्वयं ही है। जड़ के कारण अथवा पर-पदार्थों के कारण विकार नहीं होता। निगोद में भी जीव स्वयं के अज्ञान के कारण रहता है; तीव्र कर्म के कारण नहीं। ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर जीव नीचे के गुणस्थान में आता है, वह भी स्वय के पुरुषार्थ की मंदता से आता है, कर्म के उदय के कारण नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जीव विकारी परिणाम स्वतंत्रतया करता है।[४]

पर्याय को पराधीन माननेवाले जीव को द्रव्यसामान्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अहो ! जो जीव स्वय की पर्याय पर के कारण मानता है, वह पर से हटकर स्वतरफ कैसे बढ़ेगा? विकारी पर्याय, अविकारी अधूरी पर्याय, मोक्षमार्ग तथा मोक्ष – ये सभी विशेष हैं – अंश हैं। अश को पराधीन मानने वाला अशी को स्वतत्र नहीं मान सकता। जिसे

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३७४
२ वही, पृष्ठ-३७४-३७५
३ वही, पृष्ठ-३७६
४ वही, पृष्ठ-३७६-३७७

विशेष का सच्चा ज्ञान नहीं, वह सामान्य वस्तुस्वभाव का ज्ञान नहीं कर सकता।[१]

पर्याय को स्वतंत्र माननेवाला ही पर्यायवान की तरफ दृष्टि करता है; इसलिए निश्चयनय को उपादेय कहा है। निश्चयनय विशेष का स्वतंत्र ज्ञान कराता है।[२]

निश्चयनय शुद्धत्व का प्रकाशक है और व्यवहारनय अशुद्धत्व का प्रकाशक है। पर्याय अंश को स्वतंत्र स्वीकार करनेवाले की दृष्टि द्रव्य की ओर ढलती है; इसलिए पर्याय को स्वतंत्र बतानेवाला निश्चयनय उत्कृष्ट साधक होने से उपादेय कहा है। शुद्ध आत्मा साध्य है और निश्चयनय उसका साधक है।

इसप्रकार विकार स्वतंत्रपने होता है – ऐसा ज्ञान कराने वाला नय शुद्धनय की तरफ दौड जाता है, इसलिए उसे द्रव्य के शुद्धत्व का प्रकाशक कहा है। निश्चयनय ही साधकतम है। संयोग और कर्म का ज्ञान करानेवाला व्यवहारनय अशुद्धत्व का द्योतक है। वह पर की ओर लक्ष्य कराता है और परलक्ष्य से विकार होता है, इसलिए व्यवहारनय साधकतम नहीं है। इसप्रकार व्यवहारनय को हेय समझकर निश्चयनय का यथार्थ ज्ञान करके द्रव्य सामान्य की ओर बढकर सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करना ही निश्चयनय को जानने का फल है।[३]"

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यहाँ शुद्धता का अर्थ परद्रव्यों से भिन्नता और अशुद्धता का अर्थ परद्रव्यों से अभिन्नता है।

यही कारण है कि यहाँ आत्मा को रागादि भावों का कर्ता शुद्धनिश्चयनय से कहा गया है; जबकि अन्यत्र लगभग सर्वत्र ही आत्मा को रागादि का कर्ता अशुद्ध-निश्चयनय से कहा जाता रहा है।

आचार्य जयसेन का ध्यान भी इस ओर गया था। यही कारण है कि उन्होंने यह कहकर समाधान करने का सफल प्रयास किया है कि परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने से यह अशुद्धनय भी उपचार से

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३७९ २ वही, पृष्ठ-३८० ३ वही, पृष्ठ-३८१

शुद्धनय कहलाता है और इसीकारण उपादेय भी कहा जाता है।

आचार्य जयसेन के उक्त कथन में समागत '**परम्परा से शुद्धात्मा का साधक** और **अशुद्धनय भी उपचार से शुद्धनय** कहलाता है और **इसीकारण उपादेय** है' – ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि इनमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि आत्मा को रागादि का कर्ता कहनेवाला नय मूलतः तो अशुद्धनिश्चयनय ही है; पर उसे यहाँ प्रयोजनवश उपचार से शुद्धनिश्चयनय कह दिया गया है।

इसीप्रकार यहाँ इसे परम्परा से ही शुद्धात्मा का साधक कहा गया है; साक्षात् साधक नहीं कहा।

यहाँ 'आत्मा रागादिरूप है, रागादि का स्वामी है और रागादि का कर्ता-भोक्ता है' – यह शुद्धनिश्चयनय का कथन है। यह कहकर यह कहना चाहते हैं कि आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमता है, रागादि के स्वामीपने परिणमता है और रागादि के कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप परिणमता है। यह सब आत्मा की पर्यायगत योग्यता के कारण स्वयं से ही होता है; पर के कारण नहीं, कर्मादि के कारण भी नहीं।

यदि इसमें पर की कारणता स्वीकार की जायेगी तो फिर अत्मा इनका कर्ता-भोक्ता भी नहीं रहेगा; क्योंकि **स्वतंत्रः कर्ता** – कर्ता कहते ही उसे हैं; जो अपने परिणमन में स्वतंत्र हो। पर से निरपेक्षता ही इसकी शुद्धता है, स्वतत्रता है। यही बताने के लिए इसे शुद्धनिश्चयनय का कथन कहा गया है।

जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उस परिणति को उसी द्रव्य की कहना शुद्धनिश्चयनय है और उस परिणति को अन्य द्रव्य की कहना अशुद्धनिश्चयनय अर्थात् व्यवहारनय है। उक्त परिभाषा के अनुसार रागादिभाव जीवद्रव्य की परिणति है; अतः उसे जीव की परिणति कहना ही सत्य है, इसकारण यह निश्चयनय है और पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता ही शुद्धता है; इसकारण यह कथन शुद्धनय है; इसप्रकार रागादि का स्वामी, कर्ता-भोक्ता आत्मा को कहना शुद्ध-निश्चयनय का कथन है। ●

प्रवचनसार गाथा १९०-१९१

विगत गाथा में निश्चय और व्यवहार में अविरोध दिखाने के उपरान्त अब इन गाथाओं में अशुद्धनय से अशुद्धात्मा और शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है – यह बताते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

ण च यदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं।।१९०।।
णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।१९१।।

(हरिगीत)

तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही।
ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें।।१९०।।
पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा।
जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा।।१९१।।

जो देह-धनादिक में 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' – ऐसे ममत्व को नहीं छोडता; वह श्रामण्य को छोडकर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।

'मैं पर का नहीं हूँ और पर मेरे नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञान हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ' –इसप्रकार जो ध्यान करता है; वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्धद्रव्य-निरूपणात्मक व्यवहारनय में मोहित जो आत्मा 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' – इसप्रकार आत्मीयता से देह और धनादिक परद्रव्यों में ममत्व नहीं छोडता; वह आत्मा शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य नामक मार्ग को दूर से ही छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय लेता है।

इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है।

मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक निश्चयनय के द्वारा मोह दूर किया है जिसने, ऐसा वह आत्मा 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' – इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी संबंध को छोड़कर 'मैं एक शुद्ध ज्ञान ही हूँ' – इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण एक आत्मा में ही चिन्तवन को रोकता है; वह एकाग्रचिन्तानिरोधक आत्मा उस एकाग्रचित्तानिरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है।

इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओ के भाव को समझाते हुए आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका का शत-प्रतिशत अनुकरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं के भाव को एक-एक मनहरण और एक-एक दोहा – इसप्रकार चार छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें दोनों मनहरण छन्द इसप्रकार हैं –

(मनहरण)

जाकी मति मैली ऐसी फैली जो शरीर पर,
दर्व ही को कहै की हमारो यही रूप है।
तथा यह मेरो ऐसो चेरो भयो मोह ही को,
छोड़ै न ममत्वबुद्धि धरै दौरधूप है।।
सो तो साम्यरसरूप शुद्ध मुनिपद ताको,
त्यागि के कुमारग में चलत कुरूप है।
ताको ज्ञानानंदकंद शुद्ध निरद्वंद सुख,
मिलै न कदापि वह परै भवकूप है।।१०५।।

जिस जीव की मलिन मति शरीररूपी परद्रव्य पर इसप्रकार पसर गई है कि वह कहता है कि यह शरीर हमारा ही रूप है। यह मोह का ऐसा दास हो गया है कि शरीरादि से अपनापन छोडता ही नहीं है और निरन्तर उसी की सेवा में दौड़-धूप करता रहता है – ऐसी मान्यता और परिणतिवाले जीव साम्यरसरूप शुद्ध मुनिपद को छोड़कर कुमार्ग में चल पड़ते हैं। ऐसे जीवों को ज्ञानानन्दकन्द शुद्धात्मा के आश्रय से उत्पन्न निर्द्वन्द सुख कभी नहीं मिलता और वे संसाररूपी कुऐ में ही पड़े रहते हैं।

(मनहरण)

मैं जो शुद्ध बुद्ध चिनमूरत दरव सो तौ,
परदर्वनि को न भयो हों काहू काल में।
देहादिक परदर्व मेरे ये कदापि नाहिं,
ये तौ निजसत्ता ही में रहैं सब हाल में।।
मैं तो एक ज्ञानपिंड अखंड परमजोत,
निर्विकल्प चिदाकार चिदानंद चाल में।
ऐसे ध्यानमाहिं जो सुध्यावत स्वरूप वृन्द,
सोई होत आतमा को ध्याता वर भाल में।।१०७।।

मैं जो शुद्ध-बुद्ध चैतन्यमूर्ति द्रव्य हूँ; वह तो कभी भी किसी भी काल में परद्रव्यों का नहीं हुआ है और न ये देहादिक परद्रव्य कभी उसके हुए हैं; ये तो सभी स्थितियों में निजसत्ता में ही रहे हैं। मैं तो एक ज्ञान का पिण्ड, अखण्ड, परमज्योतिस्वरूप, निर्विकल्प, चिदाकार चिदानद चाल मे रहनेवाला चेतन द्रव्य हूँ – इसप्रकार जो व्यक्ति स्वरूप का ध्यान करते हैं; वृन्दावन कवि कहते हैं कि वे आत्मा के ध्याता होते हैं।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को दो पद्यों में इसप्रकार स्पष्ट करते है –

(चौपाई)

सरीरादि पररूप सु मेरो, मैं पर सरीरादि तिनि कैरौ।
यह ममकार बुद्धि तसु हो है मुनि नांही कुमारगी सो है।।१५२।।

'पररूप शरीरादि मेरे हैं और मैं शरीरादिरूप हूँ' – जिनके इसप्रकार की ममत्वबुद्धि होती है, वे मुनि, मुनि नहीं; कुमारगी हैं।

(सवैया इकतीसा)

मैं हौं सुद्धजीव सरीरादि पर कौ सु नांहीं
सरीरादि परद्रव्य सो न पुनि मेरौ है।
सवै परभाव तैं सुभिन्न परमात्मा हौं
एक ग्यानभावरूप मैं सु हम केरौ है ॥
याही भांति ध्यान के समैं सु ममिता मिटाई
आप ही मैं आपनौं सुभाव तिनि हेरौ है।
सोइ निज आपनैं सु ध्यान के करैया आपु
परमार्थ तिन्हि तैं महा सु अति नेरौ है ॥१५३॥

'मैं स्वय शुद्धजीव हूँ, शरीरादि परपदार्थों का मैं नहीं हूँ और शरीरादि परद्रव्य भी मेरे नहीं हैं।' इसप्रकार मैं सभी परभावों से भिन्न एक ज्ञानभावरूप परमात्मा हूँ – और वही ज्ञानस्वभाव मेरा है। इसप्रकार ध्यान के समय जिस जीव ने ममता मिटाकर अपने में ही अपने स्वभाव को देख लिया है, खोज लिया है; वह जीव ही स्वय अपने मे अपना ध्यान करनेवाला है और उसके लिए परमार्थ अत्यन्त निकट है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते है –

"आत्मा स्वयं के अपराध के कारण ज्ञान स्वभाव को न जानता हुआ स्वय ही परपदार्थों के प्रति मोह-राग-द्वेष के परिणाम करता है; किसी बाह्यसंयोग अथवा निमित्त के कारण नहीं करता। ज्ञानप्रधान कथन में आत्मा स्वय के राग-द्वेष का ग्रहण-त्याग करता है; किन्तु परपदार्थ का ग्रहण-त्याग नहीं करता। इसप्रकार स्वय के विकारी परिणाम का कर्ता आत्मा स्वय है – ऐसा बताने वाले नय को यहाँ शुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय कहा है। उदयभाव स्वतत्त्व है – ऐसा बतानेवाला निश्चयनय है।[1]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३८३

यहाँ कहा है जो आत्मा शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय को न जानता हुआ स्वयं का अपराध स्वयं से न मानकर पर से मानता है, वह निश्चयनय से दूर है।[१]

स्वयं के परिणाम स्वयं से होते हैं और परपदार्थों के परिणाम पर के कारण होते हैं – ऐसा न मानता हुआ स्वयं के परिणाम पर से होते हैं तथा पर के परिणाम स्वयं से होते हैं – ऐसा जो जीव मानता है, वह जीव निश्चयनय से अनजान रहता है और व्यवहारनय में मोह उत्पन्न करता है।[२]

हे भाई! विकारी परिणाम तू स्वतंत्र करता है – एकबार ऐसा नक्की तो कर![३]

राग अथवा वैराग्य के परिणाम तू स्वतत्र करता है – ऐसा बताकर तुम्हारी पर्याय को तुम्हारे पर्यायवान अर्थात् स्वभाव की ओर ले जाते है; सयोग और निमित्त की ओर नहीं ले जाते।[४]

जब जीव के परिणाम स्वतत्र हैं तो परिणामी आत्मपदार्थ भी स्वतत्र है – ऐसा हमारा कहने का आशय है।[५]

इसप्रकार स्वज्ञेय तथा परज्ञेय का स्वतत्रपने ज्ञान करके, विकार स्वय से होता है – ऐसा ज्ञान करके, त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए और पश्चात् विशेष स्थिरता होने पर चारित्र की वीतरागी शुद्ध परिणति प्रगट करना चाहिए; किन्तु अज्ञानी जीव पर की क्रिया का कर्ता स्वय को मानता है। परवस्तु के ग्रहण-त्याग में धर्म-अधर्म की कल्पना करता है।[६]

इसप्रकार निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अर्थात् सयोगीदृष्टि से ससार की प्राप्ति होती है।[७]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३८४
२ वही, पृष्ठ-३८५
३ वही, पृष्ठ-३८७
४ वही, पृष्ठ-३८७
५ वही, पृष्ठ-३८८
६ वही, पृष्ठ-३८८
७ वही, पृष्ठ-३८९

इसप्रकार इस गाथा में आचार्य भगवान का कहने का आशय यह है कि जो जीव अशुद्धनय का कथन नहीं समझता और संयोग से लाभ-हानि मानता है, उसे अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। इसलिए हे जीव! तू ऐसा खोटा ज्ञान न करके पर-द्रव्य के ग्रहण-त्याग रहित अपने आत्मा की श्रद्धा ज्ञान कर तो तुझे धर्मदशा प्रगट होगी।[१]

शुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय बताता है कि जीव में उत्पन्न हुए विकारी परिणाम जीव के हैं। वे परिणाम किसी कर्म अथवा परद्रव्य ने नहीं कराये। 'शुद्ध द्रव्य' का अर्थ यहाँ 'पर से भिन्न' ऐसा लेना चाहिए।[२]

स्वभाव को अग्र करके ध्यान करना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारण है। यहाँ धर्मी जीव का भाव कैसा होता है, ध्यान कैसा होता है? उसकी बात करते हैं। प्रथम तो वह परपदार्थ की रुचि छोडता है। परपदार्थ, निमित्त, कर्म तथा विकार के साथ स्वस्वामी संबंध नहीं मानता। पुण्य-पाप रहित आत्मा को आत्मपने ग्रहण करता है। परद्रव्य की ओर लक्ष्य नहीं देता।

परपदार्थ, विकार इत्यादि को गौण करके, एक आत्मा को अग्र करके उसमें विचार को रोककर आत्मा में लीन होना ध्यान है। परपदार्थ, क्षेत्र, संहनन, देव-गुरु-शास्त्र आत्मा को लाभ-हानि के कारण नहीं हैं, पाँच महाव्रतादि के परिणाम विकार हैं, उनकी दृष्टि छोडकर स्व में लीन होना ही शुद्धात्मा है। पर सन्मुख दृष्टिवाले को शुद्धात्मा नहीं कहा।

इसलिए शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है अर्थात् धर्म होता है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जो व्यक्ति रुपया-पैसा, धन-धान्य, मकान, देश, नगर, गाँव आदि में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि,

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३८९
२ वही, पृष्ठ-३९२
३ वही, पृष्ठ-३९६

कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि नहीं छोड़ता है; वह श्रामण्य (मुनिपना) को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता हुआ उन्मार्गी हो जाता है और जो व्यक्ति स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्य, रुपया-पैसा आदि परपदार्थों में ये मेरे नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूँ; ये मेरे स्वामी नहीं हैं और मैं इनका स्वामी नहीं हूँ, मैं इनका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ और ये मेरे कर्ता-भोक्ता नहीं हैं – इसप्रकार पर में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि छोड़कर 'मैं तो एक शुद्धज्ञानमय ही हूँ' – इसप्रकार अपने में अपनापन स्थापित करते हैं; वे उपयोग को पर में से हटाकर अपने में जोड़ते हैं और सन्मार्गी हो जाते हैं, शुद्धात्मा हो जाते हैं।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ भी विगत गाथा के अनुसार राग-द्वेष परिणामों को स्व की मर्यादा में शामिल करके उनका स्वामी, कर्ता-भोक्तापने को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है और परद्रव्यों का स्वामित्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहारनय कहा है।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि ऐसे कथन बहुत कम हैं और ये कथन नयों की मूलधारा से कुछ हटकर हैं। ●

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के सयोगों और सयोगीभावों में महान अतर हो सकता है। कहाँ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिक सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षा-कल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते।

सयोग और सयोगीभावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक सी ही है। अत: सयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी सयोग और सयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता। – पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ३९

प्रवचनसार गाथा १९२-१९३

'अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की और शुद्धद्रव्य से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि ध्रुव होने से एकमात्र शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है और उसके अतिरिक्त देहादि सभी पदार्थ अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ।।१९२।।
देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ।।१९३।।

(हरिगीत)

इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी।
ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ।।१९२।।
अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।
इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ।।१९३।।

इसप्रकार मै आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

जीव के शरीर, धन, सुख-दु:ख अथवा शत्रु-मित्रजन – ये सभी ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा ही है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''शुद्धात्मा सत् और अहेतुक होने से अनादि-अनंत और स्वत:सिद्ध है; इसलिए इस आत्मा के लिए शुद्धात्मा ही ध्रुव है; अन्य कुछ भी ध्रुव नहीं है।

परद्रव्यों से विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्म से अविभाग (अभिन्नत्व) ही आत्मा का एकत्व है और इस एकत्व के कारण ही आत्मा शुद्ध है।

ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल और निरालम्बपने के कारण आत्मा एक है।

स्वयं ज्ञानात्मक और दर्शनभूत आत्मा का, ज्ञान-दर्शन से रहित परद्रव्यों से भिन्नत्व और स्वधर्मों से अभिन्नत्व ही एकत्व है।

प्रतिनियत स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायों को ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियों और शब्दरूप पर्यायों को जाननेवाले महापदार्थरूप आत्मा का इन्द्रियात्मक परद्रव्यों से भिन्नत्व और स्पर्शादि को जाननेवाले ज्ञानरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व ही एकत्व है।

प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली ज्ञेयपर्यायों को ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से अचल – ऐसे आत्मा को ज्ञेयपर्यायरूप परद्रव्य से विभाग अर्थात् भिन्नत्व और तन्निमित्तिक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अविभाग अर्थात् अभिन्नत्व होने से एकत्व है।

नित्यरूप से प्रवर्तमान ज्ञेयद्रव्यों के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालम्ब है – ऐसे आत्मा का ज्ञेयरूप परद्रव्यों से भिन्नत्व और तन्निमित्तिक ज्ञानस्वरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व होने से एकत्व है।

इसप्रकार एकत्वस्वरूप आत्मा शुद्ध है; क्योंकि चैतन्यमात्रग्राही शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है। किसी पथिक के शारीरिक अंगों के ससर्ग में आनेवाली मार्ग के अनेक वृक्षों की छाया के समान अन्य जो अध्रुव पदार्थ हैं; उनसे इस आत्मा को क्या प्रयोजन है ?

परद्रव्यों से अभिन्न और परद्रव्यों के द्वारा उपरक्त होनेवाले स्वधर्म से भिन्न होने के कारण, आत्मा से अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य पदार्थ, जो आत्मा को अशुद्धपने का कारण हो, ध्रुव नहीं है; क्योंकि वह असत् और हेतुमान होने से आदि-अन्तवाला और परतःसिद्ध है; ध्रुव तो एक उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है।

ऐसा होने से उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादि के उपलब्ध होने पर भी मैं उन्हें उपलब्ध नहीं करता और ध्रुव शुद्धात्मा को उपलब्ध करता हूँ।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को सामान्यरूप से ही स्पष्ट करते हैं। उनके स्पष्टीकरण में कोई नई बात नहीं है।

कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी ने इन गाथाओं और उनकी टीका में समागत भाव को २ मनहरण और ४ दोहे – इसप्रकार कुल ६ छन्दों में प्रस्तुत किया है; जो मूलतः पठनीय है। नमूने के तौर पर ३ दोहे प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

ज्ञानरूप दरसनमई, अतिइन्द्री ध्रुव धार।
महा अरथ पुनि अचलवर, अनालंब अविकार।।११०।।
सात विशेषनि सहित इमि, लख्यौ आतमाराम।
ताही शुद्ध सरूप में, हम कीनों विसराम।।१११।।
तन-धन सुख-दुख मित्र अरि, अध्रुव भने जिनभूप।
ध्रौव निजातम ताहि गहु, जो उपयोगसरूप।।११४।।

ज्ञानरूप, दर्शनमय, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, अविकारी (शुद्ध) और अनावलम्बी – इन सात विशेषणों से सहित आत्मा को देखो, हमने तो उसी आत्मा के शुद्धस्वरूप में विश्राम प्राप्त किया है।

शरीर, धन, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु – इन सभी को जिनेन्द्र भगवान से अध्रुव कहा है। उपयोगस्वरूपी अपना आत्मा ही ध्रुव है; अतः उसकी ही शरण ग्रहण करो।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

निश्चल सुभाव ग्यान दर्शन मई प्रधान
सुद्धता समेत सौ प्रकार एक मानौं हौं।

आपनैं अतिंद्रिय सुभाव करिकैं समस्त
वस्तु कौ महा सु अर्थ ग्याइक बखानौं हौं।।
अनालंब अचल अनोपम अबाधावंत
एक सौ प्रवर्तन त्रिकाल जाकौ जानौं हौं।
मैं हौं भेदग्यानी है हमारे यानि सानी मैं सु
याही भांति जीव कौ स्वरूप हिये आनौं हौं।।१५४।।

मुख्यरूप से मेरा ज्ञान-दर्शनमय निश्चल स्वभाव शुद्धता सहित है। मैं उसे सभी प्रकार से एक मानता हूँ। मैं अपने अतीन्द्रिय स्वभाव के द्वारा समस्त वस्तुओं में अपने ज्ञायकस्वरूपी आत्मा को एक महान पदार्थ कहता हूँ। जिसका त्रिकाल एकसा प्रवर्तन है – ऐसा मैं अपने को अनावलम्बी, अचल, अनुपम और अबाधित महापदार्थ जानता हूँ। मैं भेदविज्ञानी हूँ, मेरे लिए मेरी सानी का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मैंने अपने हृदय में जीव का यही स्वरूप धारण किया है।

(छप्पय)

औदारिक आदिक सरीर जे पंच लहिज्जई।
धन-धान्यादिक भेद परिग्रह के सु कहिज्जई।।
विषय इष्ट अनइष्ट जे सु इनि इंद्रिनि केरे।
सत्रु मित्र आदिक सु और जग मैं बहु तेरे।।
एते समस्त संजोग जे विनासीक जिय के न हुअ।
दरसन सुग्यान मय सुद्धता सहित जीव अविचल सु धुअ।।१५५।।

पाँच प्रकार के औदारिक आदि शरीर और धन-धान्यादिक जितने भी प्रकार का परिग्रह है तथा इन्द्रियो के इष्ट-अनिष्ट विषय एव शत्रु-मित्र आदि अनेकप्रकार के जो संयोग जगत में हैं; वे सभी सयोग विनाशीक हैं और जीव के कभी भी नहीं हुए हैं; क्योंकि जीव तो दर्शन-ज्ञानमय, शुद्धता सहित, अविचल और ध्रुव पदार्थ है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओ और उनकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"शुद्ध आत्मा सत् और अहेतुक है, उसे दूसरे पदार्थ की जरूरत नहीं। यदि आत्मा को किसी ने बनाया हो तो उसकी नित्यता नहीं रहती और जो नित्य है, उसकी शुरुआत नहीं हो सकती।[१]

शुद्धचैतन्यतत्त्व अनादि-अनत है। वह स्वयं से है, अन्य के कारण नहीं। उसे कोई बनानेवाला नहीं; इसलिए आत्मा अनादि-अनत स्वत सिद्ध पदार्थ है।

शुद्धात्मा ही ध्रुव है, इसलिए वही एक शरण लेने योग्य है।

१ कुटुब, पैसा, देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, कर्म इत्यादि इस आत्मा की अपेक्षा ध्रुव नहीं। सयोग पलट जाता है, इसलिए वह अध्रुव है, उनकी शरण लेने से धर्म नहीं होता।

२. शुभाशुभ भाव प्रतिसमय होते हैं, वे अध्रुव हैं। विकल्प भी शरणभूत नहीं। व्यवहार रत्नत्रय भी अध्रुव है; इसलिए उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता।

३ नित्य, स्वत सिद्ध, अकारणीय आत्मा ही ध्रुव है, अन्य कोई ध्रुव नहीं। वह ध्रुव आत्मा ही एक शरण लेने योग्य है।[२]

आत्मा ध्रुव, शुद्ध, चैतन्य है – ऐसी दृष्टि होने पर जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिला, उसमें शरीर तथा सयोग का ज्ञान है, वह ज्ञान सच्चा है; किन्तु पर के साथ तन्मय हुआ एकत्वबुद्धि सहित अकेला परप्रकाशक ज्ञान मिथ्या है।[३]

आत्मा का परद्रव्य से विभाग और स्वधर्म से अविभाग होने के कारण एकपना है। उसका एकपना पॉच कारणों से हैं।

१ आत्मा ज्ञानस्वभावी है, राग और पर को करना उसका स्वरूप नहीं, इसलिए एक है।

२ आत्मा दर्शनस्वभावी है, इसलिए एक है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-३९७

२ वही, पृष्ठ-३९८

३ वही, पृष्ठ-३९९

३. इन्द्रियों के अवलंबन बिना जानता है; इसलिए अतीन्द्रिय महा-पदार्थपने के कारण एक है।
४. दूसरे पदार्थ चलायमान हैं, शुभाशुभ भाव भी चल हैं। आत्मा एक अचल है, इसलिए अचलपने के कारण एक है।
५. निमित्तों का अवलंबन नहीं, इसलिए निरालंबनपने के कारण एक है।[1]

आत्मा एक है, इसलिए शुद्ध है और वही ध्रुव है। ध्रुव आत्मा ही शरणभूत है, उससे ही धर्म प्रगट होता है।[2]

आत्मा ज्ञानात्मकपने के कारण, दर्शनभूतपने के कारण, अतीन्द्रिय महापदार्थपने के कारण, अचलपने के कारण और निरालबनपने के कारण एक है। एकपने के कारण आत्मा शुद्ध है और शुद्धता ही ध्रुव है। ध्रुव आत्मा सम्यग्दर्शन का ध्येय है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसलिए ध्रुव आत्मा ही अनुभव करने योग्य है। स्त्री, कुटुब तथा पैसा आत्मा को शरणभूत नहीं, देव-गुरु-शास्त्र भी शरणभूत नहीं; इसलिए उनका अवलबन छोडकर, स्वपदार्थ का अवलंबन करके आत्मा के साथ एकत्व का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। पर से भिन्न होकर स्व में एकाग्र होना ही शुद्धता है और वही ध्रुव है तथा ध्रुव आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है।[3]

निगोद से लेकर पचपरमेष्ठी और परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध तक सभी परपदार्थ आत्मा से जुदे हैं। जब जीव स्वलक्ष्य करता है, तब विकार नहीं होता; किन्तु जब परलक्ष्य करता है, तब विकार होता है, उससमय परपदार्थों को निमित्त कहा है; क्योंकि उनके लक्ष्य से शुद्धता न होकर अशुद्धता ही होती है।

इसलिए मेरे लिए कोई भी परपदार्थ शरणभूत नहीं है, मात्र शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है और वही शरणभूत है। परपदार्थ असत् है, अहेतुक

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४०१
२ वही, पृष्ठ-४०१
३ वही, पृष्ठ-४०२-४०३

है, आदि-अतवाला है, परत सिद्ध है, इसकारण उससे धर्म नहीं होता।[१]

यहाँ आचार्य भगवान बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो तो परपदार्थों से दृष्टि उठा ले। कुटुंबादि से लेकर देव-गुरु, तीर्थंकर तथा सिद्ध जीव; एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कध तक के जड़ पदार्थ; लौकिक ग्रंथों से लेकर समयसार तक के शास्त्र – सभी परत सिद्ध और आदि-अंतवाले हैं।

जिसप्रकार कोई मनुष्य अलग-अलग रास्ते से आकर मिलें और अलग-अलग चले जाते हैं; उसीप्रकार कुटुंब, देव, गुरु – सभी सयोग हैं, अत छूट जाते हैं। तथा ये परत सिद्ध होने से अध्रुव हैं। इनके लक्ष्य से धर्म अथवा सुख नहीं होता; इसलिए इनकी दृष्टि छोडकर ध्रुव आत्मा की दृष्टि कर! तो धर्म और सुख होगा।

बाह्य सयोग होने पर भी धर्मी जीव की उन पर दृष्टि नहीं; अपितु ध्रुव शुद्ध आत्मा के ऊपर ही दृष्टि है।[२]"

उक्त गाथाओं में सब कुछ मिलाकर यही कहा गया है कि भगवान आत्मा ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतीन्द्रिय महापदार्थ है, अचल है और निरालम्ब है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग तो आत्मा के लक्षण हैं और न तो इस भगवान आत्मा का स्वभाव इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने का है और न इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने में आये – ऐसा ही है; इसलिए यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महापदार्थ है।

यह भगवान आत्मा ज्ञेयरूप परपदार्थों की पर्यायों के ग्रहण-त्याग से रहित होने पर अचल है और उन्हीं ज्ञेयरूप परपदार्थों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है।

इसप्रकार उक्त पाँच विशेषणों के कारण यह भगवान आत्मा एक है और एक होने से शुद्ध है। तात्पर्य यह है कि यह एकता ही इसकी

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४२१-४२२ २ वही, पृष्ठ-४२३

शुद्धता है। ऐसा शुद्धात्मा ही ध्रुव होने से एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है।

आत्मा के संयोग में आनेवाले शरीर, धन, शत्रु, मित्र, संसारिक सुख-दुख आदि सभी संयोग ध्रुव नहीं हैं, अध्रुव हैं; इसलिए उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं।

यद्यपि १९२वीं गाथा में आत्मा के सात विशेषण दिये गये हैं, जो इसप्रकार हैं – ज्ञानात्मक, दर्शनरूप, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल, अनालंब, ध्रुव और शुद्ध। कविवर वृन्दावनदासजी ने भी सात विशेषण बताये हैं; पर आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्हें अलगरूप में प्रस्तुत किया है।

वे इन्हें इस रूप में प्रस्तुत करते हैं – ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल और अनालम्ब – इन पाँच विशेषणों के कारण आत्मा एक है। यह एकता ही शुद्धता है। सत्, अहेतुक, स्वतःसिद्ध और अनादि-अनन्त होने से ध्रुव है। प्रस्तुतिकरण कैसा भी हो, अन्ततः सात विशेषण तो सभी ने बताये हैं। •

शिथिलाचार को रोकना कोई साधारण काम नहीं है, वह तो शक्तिशाली समर्थ लोगों का काम है। उन चार हजार नवदीक्षित राजाओं को भी तो इन्द्र ने ही रोका था, किसी साधारण व्यक्ति ने नहीं। यह काम तो समाज के उन कर्णधारों का है, जो समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, समाज को सचालित करते हैं। यदि वे स्वय शिथिलाचार का पोषण करते हैं तो फिर हम और आप क्या कर सकते हैं ? अत. मैं तो सभी आत्मार्थी बधुओं से यही अनुरोध करता हूँ कि इसमें अपने को उलझायें नहीं। जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा; हम किस-किस को बचाते फिरेंगे ? हाँ, हम स्वय वस्तु का सच्चा स्वरूप समझकर स्वय को अवश्य बचा सकते हैं।

– पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-५३

प्रवचनसार गाथा १९४-१९५

'ध्रुव होने से एक आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है; अन्य देहादि सभी संयोग अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं है' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह समझाते हैं कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोहग्रन्थि का नाश होता है और मोहग्रन्थि के नाश से अक्षय अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं –

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।।१९४।।
जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि।।१९५।।

(हरिगीत)

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमातमा।
दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा।।१९४।।
मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दु:ख में।
समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें।।१९५।।

ऐसा जानकर जो आत्मा विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है; वह चाहे साकार उपयोग (सविकल्प) में हो या अनाकार उपयोग (निर्विकल्प) मे हो, वह मोहदुर्ग्रन्थि का नाश अवश्य करता है।

टूट गई है मोहग्रन्थि जिसकी, वह आत्मा राग-द्वेष का क्षय करके सुख-दु·ख में समता भाव रखता हुआ श्रमणता में परिणमित होता है और अक्षय सुख प्राप्त करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यथोक्त विधि से जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में

प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त होता है और उससे अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र सचेतन लक्षण ध्यान होता है। फिर उस ध्यान के कारण साकार (सविकल्प) उपयोगवाले की अथवा अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले की – दोनों की अविशेषरूप से एकाग्र संचेतन की प्रसिद्धि होने से अनादि संस्कार से बंधी हुई अतिदृढ मोह की दुष्ट गाँठ का भेदन हो जाता है। इसप्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल मोह ग्रन्थि का भेदन-टूटना है।

मोह ग्रन्थि है मूल जिनका – ऐसे राग-द्वेष का क्षय भी इस मोह ग्रन्थि के क्षय से होता है। राग-द्वेष के क्षय से परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है – ऐसी सुख-दुःख में समानबुद्धिरूप श्रमणता (मुनिपना) प्रगट होती है और उससे अनाकुलता लक्षण अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार मोहग्रन्थि के भेदन से अक्षयसुखरूप फल की प्राप्ति होती है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करने में तत्त्वप्रदीपिका टीका का अनुकरण करते हुए भी साकार-अनाकार उपयोग के साथ-साथ सागार का अर्थ श्रावक और अणगार का श्रमण भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रावक और श्रमण – दोनों की मोह ग्रन्थि का भेद इसी विधि से होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि श्रावकों और श्रमणों के दर्शनमोहरूपी गाँठ है ही कहाँ ?

जबतक दर्शनमोह की मिथ्यात्व नामक प्रकृति का क्षय (जडमूल से नाश-सत्ता से नाश) नहीं होता, तबतक एकप्रकार से मोहग्रन्थि विद्यमान ही है।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं का भाव एक-एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मत्तगयन्द)

जो भवि होय महाव्रतधारक, या सु अनुव्रतधारक कोई।
या परकार सों जो परमातम, जानि के ध्यावत है थिर होई॥
सो सुविशुद्ध सुभाव अराधक, मोह की गांठि खपावत सोई।
ग्रंथनि को सब मंथनि कै, निरग्रंथ कथ्यौ रससार इतोई॥११५॥

चाहे महाव्रती हो, चाहे अणुव्रती; जो भव्यजीव इसप्रकार निजातमरूप परमातम को जानकर, उसमें स्थिर होकर उसका ध्यान करते हैं; वे अपने सुविशुद्ध-स्वभाव के आराधक हैं और वे मोह की गॉठ का क्षय कर देते हैं। निरग्रथ सतों ने सभी ग्रन्थों का मथन करके यह बताया है कि सभी ग्रन्थों का सार इतना ही है।

(मनहरण)

अनादि की मोह दुरबुद्धि मई गांठि ताहि,
जाने दूर कियौ निज भेदज्ञान बल तैं।
ऐसो होत संत वह इन्द्रिनि के सुख दुख,
सम जानि न्यारे रहै तिनके विकल तैं॥
सोई महाभाग मुनिराज की अवस्था माहिं,
राग दोष भाव को विनाशै मूल थल तैं।
पावै सो अखंड अति इन्द्रिय अनंत सुख,
एक रस वृन्दावन रहै सौ अचल तैं॥११६॥

जिन्होने निज भेदज्ञान के बल से अनादि की दुर्बुद्धिमय मोह की गॉठ को दूर कर दिया – ऐसे सतो की सुख-दु:ख में समान बुद्धि रहती है। ऐसे महाभाग मुनिराज की अवस्था मे राग-द्वेष भाव का नाश जडमूल से हो जाता है। ऐसे मुनिराज अखण्ड अतीन्द्रिय अनत सुख को प्राप्त करते हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि वे तो अपने अतीन्द्रिय आनन्द में एकरस होकर अचल रहते हैं।

पण्डित श्री देवीदासजी इन गाथाओं के भाव को अत्यन्त सरल भाषा में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(चौपाई)

श्रावक सुधी अनोव्रतधारी अथवा महाव्रती गुनभारी।
सुस्थिर एक ठौर चित ल्यावै सुद्ध स्वरूप आतमा ध्यावै।।१५६।।

(दोहा)

मोह रूप विपरीति मति की सुगांठि निरवारि।
निर्मल होहि सु आप ही सर्वथा सु भ्रम डारि।।९७।।

जो अणुव्रतधारी ज्ञानी श्रावक अथवा गुणवान मुनिराज – कोई भी एक अपने आत्मा में चित्त लगाकर सुस्थिर हो आत्मा के शुद्धस्वभाव को ध्याते हैं; वे मोहरूपी मिथ्यामति की गॉठ का निवारण करके अपने आप ही भ्रम को सर्वथा मेटकर निर्मल हो जाते हैं।

(सवैया इकतीसा)

बंधी चिरकाल ही की भेदग्यान चैंहुटी सौं
अति ही विषम तिनि मोह गांठि छोरी है।
पंच इंद्री जनित सुख औ दुख एक ही से
देखि समदिष्टि कैं दुहु सौं तार टोरी है।।
जती की अवस्था विषैं अनइष्ट सौं अप्रीति
करैं जे न इष्ट वस्तु सौं न प्रीति जोरी है
अचल अबाधित अनंत आतमीक सुख
लहैं मुक्ति माहिं कर्म सकति मरोरी है।।१५८।।

भेदज्ञानरूपी चिमटी से जिन्होने चिरकाल से बधी हुई अतिविषम मोह की गांठ को छोड दी (खोल दी) है, पचेन्द्रिय जनित सुख-दुख को एक समान ही देखकर दोनो से अपनी श्रद्धा के तार तोड लिये हैं, मुनि-अवस्था में अनिष्ट से अप्रीति और इष्ट से प्रीति नहीं जोडी है जिन्होने – ऐसे मुनिराज कर्म की शक्ति को मरोर कर मुक्ति प्राप्त कर मुक्ति मे अचल, अबाधित, अनंत आत्मीक सुख प्राप्त करते है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''उपर्युक्त विधि के अनुसार जो परज्ञेय से खिसककर स्वज्ञेय ध्रुव की ओर बढ़ता है; उसकी शुद्धात्मा मे ही प्रवृत्ति होती है। निमित्त तो आदि-अंतवाले और परत सिद्ध हैं और आत्मा अनादि-अनंत स्वत सिद्ध है – ऐसा जानकर निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में एकाकार होने पर शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है; किन्तु व्यवहार प्रवृत्ति द्वारा तथा परपदार्थ की प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती। परपदार्थ असत् हैं, शरणभूत नहीं; किन्तु निज आत्मा ही एक शरणभूत है, वही ध्यान करने योग्य है।[१]

साकार उपयोग :– यह शरीर है, यह जीव है, यह मनुष्य है – ऐसा भेद करके जाननेवाला चेतन का उपयोग ही साकार उपयोग है।

अनाकार उपयोग :– यह जीव है, यह अजीव है – ऐसा भेद किये बिना सत्ता मात्र के प्रतिभास को अनाकार उपयोग कहते हैं।[२]

साकार तथा अनाकार दोनों उपयोगवाले को एक विषय का अनुभव होता है। ध्यान लक्ष्य है तथा एकाग्र सचेतन उसका लक्षण है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वरूपी ही है। वह पर का कर्ता नहीं, राग-द्वेष उसके स्वरूप नहीं – ऐसा जानकर जो एकमात्र ध्रुव आत्मा को ही अग्र करके ध्याता है – अनुभवता है, उसे धर्म की प्राप्ति होती है तथा उसकी अनादिकाल की बधी मोह की ग्रथी छिद जाती है। स्वभाव में एकाग्र होने पर मोह उत्पन्न ही नहीं होता, तब मोह का नाश किया – ऐसा कहा जाता है।[३]

परपदार्थ से लाभ-नुकसान होता है, पुण्य से धर्म होता है – ऐसी मान्यता ही मोह की गॉठ है। ऐसे मोह का नाश होने पर राग-द्वेष का नाश हो जाता है; क्योंकि राग-द्वेष का मूल मिथ्यात्व है। उस मोह के नष्ट हुये बिना राग-द्वेष का नाश नहीं होता।[४]

जब इस जीव का पर से लाभ-नुकसान की मान्यतारूपी मोह मूल

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४२४-४२५
२ वही, पृष्ठ-४२५
३ वही, पृष्ठ-४२५
४ वही, पृष्ठ-४२९

से नष्ट हो जाये तो ससार परिभ्रमण का अंत आ जाता है। इसलिये जिसे राग-द्वेष का नाश करना हो, उसे सर्वप्रथम दर्शनमोह का नाश करना चाहिए? क्योंकि मिथ्यात्व टले बिना राग-द्वेष नहीं टलते और राग-द्वेष टले बिना चारित्र प्रगट नहीं होता तथा चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती।[१]

स्वज्ञेय पर से जुदा है; इसलिए एक है, एक होने से शुद्ध है, शुद्ध होने से ध्रुव है और वही अनुभव करने योग्य है, उससे मोह का नाश होता है। इसप्रकार जो जीव स्वज्ञेय का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसे स्थिरता होने पर चारित्रदशा प्रगट होती है।[२]

इसी रीति से मुनिराज राग-द्वेष का क्षपण करते हैं। वे मुनि परम मध्यस्थता धारण करते हैं। श्रामण्य अर्थात् मुनिपने का लक्षण परम मध्यस्थता है।[३]

इसप्रकार मुनि मुनिपने में विशेष स्थिरता करके अक्षय अविनाशी सुख को प्राप्त करते हैं। उस सुख का लक्षण अनाकुलता है। अज्ञानी जीव पैसा, पुत्र-पत्नी, जगल मे आनंद माने बैठा है; पर वह तो दु खरूप आकुलता है। इसप्रकार स्वभाव की लीनता से शातसमभाव के कारण मुनि आनंद और मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार परज्ञेय का लक्ष्य छोड़कर स्वज्ञेय की श्रद्धा और ज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, और उसमें लीनता से चारित्र प्रगट होता है और चारित्ररूपी मध्यस्थता से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इससे मोहरूपी ग्रंथि के भेद से अर्थात् मिथ्यात्व के नाश से अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है।[४]"

इन गाथाओं में साररूप से यह बताया गया है कि विगत गाथाओं में कहे गये आत्मा का स्वरूप जानकर जो आत्मा आत्मा का अनुभव

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४३०
२ वही, पृष्ठ-४३०
३ वही, पृष्ठ-४३०
४ वही, पृष्ठ-४३१

करता है, ध्यान करता है; वह मोह अर्थात् मिथ्यात्व की गाँठ का भेदन कर देता है, ग्रन्थिभेद कर देता है।

मोह की गांठ का भेदन करने के बाद अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों का नाश करने के बाद वह आत्मा अप्रत्याख्याना-वरणादि राग-द्वेष का क्षय करता है और समताभाव धारण करता हुआ सच्चा श्रमण (मुनिराज) बन जाता है और फिर महाश्रमण (अरिहंत) बनकर अक्षयसुख प्राप्त करता है।

इसप्रकार मोहग्रन्थि का नाश करने की प्रक्रिया में श्रावक व श्रमण – दोनों ही सक्रिय रहते हैं; क्योंकि दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का नाश तो मिथ्यादृष्टि श्रावक ही करते हैं, सम्यग्दृष्टि श्रावकों के तो मिथ्यात्व होता ही नहीं। इसीप्रकार अप्रत्याख्यानावरणी आदि राग-द्वेष का क्षय मुनिराज ही करते हैं। ●

देखो, विधि की विडम्बना, जो स्वय तीर्थंकर हो, जिसके जन्मकल्याणक में इन्द्रों ने अतिशय सम्पन्न महोत्सव मनाया हो, जिसके गर्भ में आने के पहले ही देवियाँ माता की सेवा करने आ गई हों, जिसने सम्पूर्ण जगत को कर्मभूमि के आरभ में सब प्रकार शिक्षित किया हो, उसे दीक्षा लेने के बाद आहार का भी योग न मिला। सातिशय पुण्य के धनी और धर्मात्मा भावलिंगी सच्चे सत होने पर भी उस समय उनके पल्ले में इतना भी पुण्य नहीं था कि विधिपूर्वक दो रोटियाँ ही उपलब्ध हो जातीं।

पुण्य की कमी थी, ऐसी कोई बात नहीं थी। सत्ता में तो तीर्थंकर प्रकृति पडी थी और निरन्तर बध भी रही थी, पर सत्ता में पडा कर्म कार्यकारी नहीं होता। जबतक कर्म उदय में न आवे, तबतक वह कार्य की उत्पत्ति में निमित्त भी नहीं होता और तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है, अत उसके पहले वह किसी कार्य में निमित्त भी नहीं हो सकती।

अन्य प्रकार के पुण्य की भी कोई कमी नहीं थी, अन्यथा लोग उन्हें अनेकप्रकार की वस्तुएँ क्यों भेंट करने को उत्सुक होते, पर निरन्तराय आहार की उपलब्धि का न तो पुण्योदय ही था और न उस समय की पर्याय की योग्यता ही ऐसी थी। पाँचों ही समवाय आहार नहीं मिलने के थे।

– पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-५६-५७

प्रवचनसार गाथा १९६

'शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोहग्रन्थि का नाश और मोहग्रन्थि के नाश से अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है।' – विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में यह बताते हैं कि आत्मा का ध्यान अशुद्धता का कारण नहीं होता।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा।।१९६।।

(हरिगीत)

आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे।
स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे।।१९६।।

जो सत मोहमल का क्षय करके, विषयों से विरक्त होकर, मन का निरोध करके, स्वभाव में समवस्थित हैं; वे सत आत्मा का ध्यान करनेवाले है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मोहमल का क्षय करनेवाले आत्मा के, मोहमल जिसका मूल है – ऐसी परद्रव्यप्रवृत्ति का अभाव होने से विषयविरक्तता होती है।

उक्त विषयविरक्तता से, समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भाति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरों के अभाव होने से जिसे कोई अन्य शरण नहीं रहा है – ऐसे मन का निरोध होता है।

मन का निरोध होने से, मन जिसका मूल है – ऐसी चंचलता का विलय होने से अनत सहज चैतन्यात्मक स्वभावसमवस्थान होता है। उस स्वभावसमवस्थान को स्वरूप में प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसचेतन होने से ध्यान कहा जाता है।

इससे यह निश्चित होता है कि ध्यान स्वभावसमवस्थानरूप होने से और आत्मा से अनन्य होने से अशुद्धता का कारण नहीं होता।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में शेष बातें तो तत्त्वप्रदीपिका के समान ही प्रस्तुत करते हैं; किन्तु उत्थानिका और निष्कर्ष को बदल देते हैं, नकारात्मक बात को सकारात्मक रूप से प्रस्तुत कर देते हैं।

तत्त्वप्रदीपिका की उत्थानिका और निष्कर्ष वाक्य में कहा गया है कि आत्मा का ध्यान अशुद्धता का कारण नहीं है। इसके स्थान पर तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है कि शुद्धात्मा के ध्यान से जीव विशुद्ध होता है।

इसके उपरान्त वे **किंच** कहकर चार प्रकार के ध्यानों की चर्चा करते हैं। ध्यान के चार प्रकारों को भी वे तीन प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

१ प्रथम प्रकार में ध्यान, ध्यान सन्तान, ध्यान चिन्ता और ध्यान का अन्वय सूचन – इन चार की चर्चा करते हैं।

इन्हें स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि एकाग्रचित्तानिरोध ध्यान है और वह शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है।

अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान और फिर अन्तर्मुहूर्त तक तत्त्वचिन्तन। इसीप्रकार निरन्तर ध्यान फिर चिन्तन, फिर ध्यान और फिर चिन्तन – इसप्रकार की स्थिति ध्यानसतान है।

जहाँ ध्यान सन्तान के समान ध्यान का परिवर्तन तो नहीं है, पर ध्यान सबधी चिन्तन है। कभी-कभी ध्यान भी होता है। इस स्थिति को ध्यानचिन्ता कहते हैं।

जहाँ बारह भावना आदि वैराग्यरूप चिन्तन हो, वह ध्यानान्वय-सूचन है।

२ दूसरे प्रकार में ध्याता, ध्यान, ध्यान का फल और ध्येय – इन चार रूपों को प्रस्तुत करते हैं।

३ तीसरे प्रकार में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के रूप में ध्यान को प्रस्तुत करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को १ मनहरण और ७ दोहों – इसप्रकार ८ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। अत्यन्त उपयोगी होने से यहाँ सभी छन्दों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(मनहरण)

मोहरूप मैल को खिपावै भेदज्ञानी जीव,
इन्द्रिनि के विषै सों विरागता सु पुरी है।
मन को निरोधि के सुभाव में सुथिर होत,
जहाँ शुद्ध चेतना की ज्ञानजोत फुरी है।।
सोई चिनमूरत चिदातमा को ध्याता जानो,
परवस्तु से भी जाकी प्रीति रीति दुरी है।
ऐसे कुन्दकुन्दजी बखानी ध्यान ध्याता वृन्द,
सोई सरधानै जाकी मिथ्यामति चुरी है ।।११७।।

भेदज्ञानी जीव मोहरूपी मैल को खपाकर, पंचेन्द्रिय विषयों से पूर्ण विरागता धारण कर, मन के निरोधपूर्वक स्वभाव में स्थिर होता है; तब शुद्ध चेतना की ज्ञान ज्योति स्फुरायमान होती है, परवस्तु से जिसकी प्रीति-रीत दूर हो गई है, उसी भेदज्ञानी जीव को चिन्मूरत चिदात्मा का ध्याता जानो।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि ऐसे जीव ही ध्यान के ध्याता होते हैं। इस बात का श्रद्धान उसी को होगा, जिसकी मिथ्यामति चूर्ण हो गई है।

(दोहा)

प्रश्न – जो मन चपल पताकपट, पवन दीपसम ख्यात।
सो मन कैसे होय थिर, उत्तर दीजे भ्रात ।।११८।।

जो चपल मन ध्वजा के कपडे और हवा के झोंके खाते दीपक के समान चचल है, वह स्थिर कैसे हो सकता है ? हे भाई ! इसका उत्तर दीजिये।

उत्तर – पांचों इन्द्रिन के जिते, विषय भोग जगमाहिं।
तिनही सों मन रात दिन, भ्रमतो सदा रहाहि ।।११९।।

मोह घटे वैरागता, होत तजैं सब भोग।
निज सुभाव सुखमाहिं तब, लीन होय उपयोग।।१२०।।
तहां सुमन को खैंच के, एक निजातम भाव।
तामधि आनि झुकाइये, भेदज्ञानपरभाव।।१२१।।
तहां सो मन की यह दशा, होत और से और।
जैसे काग-जहाज को, सूझै और न ठौर।।१२२।।
जोकहुँ इत उतको लखै, तौ न कहूं विसराम।
तब हि होय एकाग्र मन, ध्यावै आतमराम।।१२३।।
ऐसे आतम ध्यान तैं, मिलै अतिन्द्री शर्म।
शुद्ध बुद्ध चिद्रूपमय, सहज अनाकुल धर्म।।१२४।।

इस जगत में पाँच इन्द्रियों के जितने भी विषय है; यह मन सदा रात-दिन उनमें ही भ्रमता रहता है।

मोह घटे, सब भोग तजे, वैराग्य हो, तब निज स्वभाव के अतीन्द्रिय सुख में उपयोग लीन होता है।

भेदज्ञान के प्रभाव से मन को इन्द्रिय-विषयों से खींचकर अपने आत्मा में झुका दीजिए।

जिसप्रकार सागर के मध्य मे स्थित जहाज पर बैठे कौआ को और कोई दूसरा स्थान दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मा में रुचि रहनेवाले मन की भी यही दशा होती है कि उसे और कुछ भी दिखाई नहीं देता।

वह बहुत यहाँ-वहाँ देखता है; पर कहीं भी विश्राम का स्थान दिखाई नहीं देता; तब मन एकाग्र होकर आत्मा का ध्यान करता है।

इसप्रकार के आत्मध्यान से अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। शुद्ध, बुद्ध और चिद्रूपमय यह सहज अनाकुलतारूप धर्म है।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं–

(सवैया इकतीसा)

मोह मल सहज सुभाव जल सौं सु धोइ
पंच इंद्री विषय विकार तैं विमुक्त है।

चित्त की चपलताई रोकि करि वाहिर तैं
निज आतमा स्वरूप के विषैं सुजुक्त है।।
सुद्ध आतमीक ध्यान कौ सु करतार हो है
सोई संत कही ऐसी आगम सु उक्त है।
आसरे विना सु ज्यों समुद्र के जिहाज कौ सु
पंछी उड़ि कहुँ और अंत कौं न धुक्त है।।१५९।।

अपने सहजस्वभावरूप जल से मोहरूपी मल को धोकर जो पंचेन्द्रिय विषयों के विषय-विकार से मुक्त हो गये हैं और चित्त की चपलताई को रोककर अपने उपयोग को बाहर से हटाकर अपने आत्मस्वरूप में संयुक्त हो गये हैं।

जिसप्रकार समुद्र के मध्य में स्थित जहाज पर बैठा पंछी अन्य आश्रय के अभाव में जहाज को छोडकर कहीं नहीं जाता; उसीप्रकार आत्मा आत्मध्यान में रहता है, आत्मध्यान ही करता है। – यही आगम में कही गयी बात है और सन्तों ने भी इसीप्रकार बताया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"परद्रव्य के कारण लाभ-हानि मानना दर्शनमोह है और परद्रव्य की प्रवृत्ति में आसक्ति होना चारित्र मोह है। जिसने दर्शनमोह और चारित्रमोह का अभाव किया है, उसे परद्रव्य की प्रवृत्ति का अभाव होता है।

१ चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है। जो जीव ज्ञानस्वभाव की सच्ची प्रतीति करता है, उसे ही अतर रमणतारूप चारित्र प्रगट होता है; किन्तु सम्यग्दर्शन बिना चारित्र प्रगट नहीं होता।

२ राग-द्वेष का मूल दर्शनमोह है। जो राग-द्वेष होता है, उसका कारण परपदार्थ के प्रति एकत्वबुद्धिरूप मोह है। दर्शनमोह टले बिना राग-द्वेष नहीं टलता।[1]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४३३

मुनियों ने मोह-राग-द्वेष टाला है, इसलिए उनको परद्रव्य में प्रवृत्ति नहीं और राग-द्वेष का अभाव होने से परद्रव्य से विरक्तता है।[१]

स्वज्ञेय का विवेकपूर्ण श्रद्धा-ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन होता है, जिससे दर्शनमोह का नाश होता है तथा दर्शनमोह के नाश के पश्चात् आत्मस्थिरता होने पर चारित्रमोह अर्थात् राग-द्वेष का भी नाश होता है; मोह-राग-द्वेष का नाश होने पर परद्रव्य के प्रति प्रवृत्ति का अभाव होता है, परद्रव्य के प्रति प्रवृत्ति का अभाव होने से मन की चंचलता का अभाव होता है, मन की चचलता का अभाव होने से आत्मा में एकाग्रता होती है, तब उसे ध्यान होता है तथा ध्यान के फल में केवलज्ञान और सिद्धपद मिलता है।[२]

यद्यपि अर्हंत तीनलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एकसाथ एक ही समय में जानते हैं, उनके अठारह दोष भी नष्ट हो गये है; फिर भी उन्होंने परिपूर्ण स्वज्ञेय दशा को प्राप्त नहीं किया। अभी वहाँ पर योगगुण तथा प्रतिजीवी गुणों आदि की अशुद्धता है तथा उनके अभी अघाति कर्म भी विद्यमान हैं, इतनी उस स्वज्ञेय में कचास है; इसकारण अरहंत को ध्यानदशा है। सिद्धदशा परिपूर्ण शुद्धज्ञेय है, उसे ध्यान नहीं होता। अरहत को अभी भी अशुद्धता है, इसलिये ध्यान बाकी है। ऐसे ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप बताने के लिए अर्हंत के शुक्लध्यान की बात ज्ञेय अधिकार में ली है।[३]"

इस गाथा में ध्याता का स्वरूप बताया गया है। कहा गया है कि जिन्होंने मिथ्यात्व का नाश कर दिया है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर लिया है; वे भव्य जीव जब विषयों से विरक्त होकर, मन का निरोध करके, स्वभाव में स्थित होते हैं; तब वे आत्मा का ध्यान करनेवाले ध्याता संत होते हैं।

मन के निरोध को यहाँ सागर के मध्य में स्थित जहाज पर बैठे पक्षी के उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४३३ २ वही, पृष्ठ-४३४-४३५ ३ वही, पृष्ठ-४३५

पानी का जहाज जब सागर के किनारे पर था; तब उस पर एक पक्षी बैठ गया। जहाज चल पड़ा और सागर के मध्य में पहुँच गया। अब पक्षी उड़कर जावे तो जावे कहाँ; क्योंकि दूर-दूर तक न कोई पेड-पौधे दिखाई देते हैं; न मकान।

अत: वह मन मारकर जहाज पर ही बैठा रहता है। यदि उडता भी है तो फिर लौटकर जहाज पर ही आना पडता है; क्योंकि अन्य आश्रय का अभाव है।

महाकवि सूरदासजी ने भी लिखा है –

जैसे उड़ जहाज कौ पंखी फिर जहाज पर आवे

जहाज का पक्षी उडेगा भी तो उड़कर कहाँ जावेगा ? अन्य आश्रय का अभाव होने से आखिर लौट के जहाज पर ही आयेगा।

इसीप्रकार उक्त तत्त्वज्ञान के आधार पर जब यह जान लिया गया है कि अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ आश्रय करने योग्य नहीं है, ध्यान करने योग्य नहीं है; क्योंकि उनके ध्यान से अशान्ति के अतिरिक्त कुछ भी हाथ लगनेवाला नहीं है।

अत: यह मन अन्य आश्रय का अभाव होने से आत्मा में ही लगेगा। यदि मन कहीं जायेगा भी तो फिर लौटकर आत्मा पर ही आयेगा।

वस्तुत: बात यह है कि वास्तविक सुख-शान्ति आत्मा के आश्रय में है, आत्मा के ज्ञान-ध्यान में ही है; अत: एकमात्र आश्रय करने योग्य भी आत्मा ही है। ●

> समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही सयोग है। अत. निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है। **–पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-५८**

प्रवचनसार गाथा १९७-१९८

विगत गाथा में ज्ञानी श्रावक और मुनिराजों के होनेवाले ध्यान की चर्चा करके अब इन आगामी गाथाओं में सर्वज्ञ भगवान के ध्यान की चर्चा करते हैं; यह बताते हैं कि केवलज्ञानी किसका ध्यान करते हैं ?

गाथायें मूलत· इसप्रकार हैं –

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो।।१९७
सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।।१९८।।

(हरिगीत)

घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को।
संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को।।१९७।।
अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं।
चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख।।१९८।।

घनघातिकर्मों के नाशक, सर्व पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञाता और ज्ञेयों के पार को प्राप्त करनेवाले, सम्पूर्ण ज्ञेयों को जाननेवाले सदेह रहित श्रमण अर्थात् अरहत भगवान किस पदार्थ का ध्यान करते हैं।

अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ सर्वबाधारहित परिपूर्ण सुख से और सम्पूर्ण ज्ञान से समृद्ध आत्मा अर्थात् अरहंत भगवान परमसुख का ध्यान करते हैं।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"लौकिक जनों के, मोह का और ज्ञानशक्ति के प्रतिबधक का सद्भाव होने से, तृष्णा सहित होने से और उनके प्रत्यक्षज्ञान का अभाव होने से, वे लौकिकजन अपने विषय को भी स्पष्टरूप से नहीं जानते; इसकारण वे लौकिक जन, जिनकी अभिलाषा हो – ऐसे अभिलषित,

जिनको जानने की इच्छा हो – ऐसे जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थों का ध्यान करते हुये दिखाई देते हैं; परन्तु सर्वज्ञ भगवान के घाति कर्मों के अभाव से मोह का अभाव और ज्ञानशक्ति के प्रतिबंधक का अभाव होने के कारण, तृष्णा नष्ट हो जाने के कारण सर्वज्ञ भगवान ने समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लिया है अर्थात् ज्ञेयों के पार को प्राप्त कर लिया है; इसलिए वे सर्वज्ञ भगवान अभिलाषा नहीं रखते, उन्हें जिज्ञासा और संदेह नहीं होता; तब फिर उनके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

यदि ऐसा है तो फिर वे क्या ध्याते हैं, किसका ध्यान करते हैं ?

सहज सुख और ज्ञान की बाधक तथा अपूर्ण और असर्वांग सुख व ज्ञान की आयतन इन्द्रियों के अभाव के कारण जब यह आत्मा स्वयं अनिन्द्रियरूप से वर्तता है; उसी समय दूसरों को इन्द्रियगोचर वर्तता हुआ निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होने से सर्वबाधा रहित और सर्वप्रकार के सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से सुख और ज्ञान से समृद्ध होता है।

इसप्रकार यह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेह का असंभव होने पर भी अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण परम सौख्य का ध्यान करता है अर्थात् अनाकुलता के साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषय के अनुभवनरूप ही स्थित रहता है। इसप्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है – ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।''

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए केवली भगवान किसका ध्यान करते हैं ? – इस बात को सोदाहरण समझाते हैं।

''जिसप्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष विषयसुख की प्राप्ति के लिए किसी विद्या की आराधनारूप ध्यान करता है; किन्तु जब विद्या सिद्ध हो जाती है और वाञ्छित विषयसुख भी मिल जाता है तो फिर वह उस विद्या की आराधनारूप ध्यान नहीं करता।

उसीप्रकार केवली भगवान केवलज्ञानरूप विद्या की प्राप्ति के लिए और उसके फलस्वरूप अनतसुख की प्राप्ति के लिए छद्मस्थ दशा में शुद्धात्मा की भावनारूप ध्यान करते थे। अब उस ध्यान से केवलज्ञानरूप विद्या सिद्ध हो गई है तथा उसके फलस्वरूप अनंतसुख भी प्राप्त हो गया है; तब वे किसलिए ध्यान करते हैं अथवा किस पदार्थ का ध्यान करते हैं – शिष्य की ओर से ऐसा प्रश्न है अथवा ऐसा आक्षेप है।

इस प्रश्न या आक्षेप का दूसरा कारण भी है – पदार्थ के परोक्ष होने पर ध्यान होता है, पर केवली भगवान के तो सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, तब ध्यान कैसे करते हैं ?

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि वे केवली भगवान अतीन्द्रिय अनत आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुख का ध्यान करते हैं, अनुभव करते हैं, उसरूप परिणमन करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि केवली भगवान के अन्य विषय में चिन्ता का निरोध लक्षण ध्यान नहीं है; किन्तु इस परमसुख के अनुभव को अथवा ध्यान के कार्यभूत कर्मों की निर्जरा को देखकर, ध्यान शब्द से उपचरित किये जाते हैं।

सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान और अयोग केवली के चौथा शुक्लध्यान होता है – ऐसा जो कथन है, उसे उपचार से किया गया कथन जानना चाहिए – ऐसा गाथा का अभिप्राय है।''

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं और उनकी तत्त्वप्रदीपिका और तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं के भाव को ३ मनहरण और ३ दोहों – इसप्रकार कुल मिलाकर ६ छन्दों मे विस्तार से समझाते हैं; जो इसप्रकार है –

(मनहरण)

प्रश्न – घातिकर्म घाति भलीभांत जो प्रतच्छ सर्व,
वस्तु कौ सरूप निज ज्ञानमाहिं धरै है।
ज्ञेयनि के सत्ता में अनंत गुन-पर्ज शक्ति,
ताहू को प्रमानकरि आगे विसतरै है।।

असंदेहरूप आप ज्ञाता सिरताज वृन्द,
संशय विमोह सब विभ्रम को हरै है।
ऐसा जो श्रमण सरवज्ञ वीतराग सो,
बतावो अब कौन हेत काको ध्यान करै है॥१२५॥

जिन्होंने घातिया कर्मों का नाश करके वस्तुस्वरूप को भलीभांति जानकर अपने ज्ञान में धारण किया है; ज्ञेयों की सत्ता में अनन्त शक्तियाँ हैं, गुण हैं, पर्यायें हैं, उनके भी जो प्रमाण से असंदिग्ध ज्ञाता हैं, सबके सिरताज हैं; वृन्दावन कवि कहते हैं कि वे सबप्रकार सशय, विभ्रम, और विमोह से रहित हैं; ऐसे सर्वज्ञ वीतरागी श्रमण अर्थात् अरहंत भगवान अब किसलिए और किसका ध्यान करते हैं ?

मोह उदै अथवा अज्ञानता सों जीवनि के,
सकल पदारथ प्रतच्छ नाहि दरसै।
यातैं चित्त चाह की निवाह हेत ध्यान करे,
अथवा संदेह के निवारिवे को तरसै॥
सो तो सरवज्ञ वीतराग जू के मूल नहिं,
घातिविधि घातें ज्ञानानंद सुधा बरसै।
इच्छा आवरन अभिलाष न संदेह तब,
कौन हेत ताको ध्यावै ऐसो संशै परसै॥१२६॥

ससारी जीवों को मोह के उदय अथवा अज्ञानता से सम्पूर्ण पदार्थ दिखाई नहीं देते हैं; इसलिए वे मन की इच्छा पूरी करने के लिए ध्यान करते हैं अथवा सदेह के निवारण के लिए तरसते हैं, इसलिए ध्यान करते हैं।

यह बात तो वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान के मूल में भी नहीं है; क्योंकि उन्होंने घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, इसकारण उनके तो निरंतर ज्ञानानन्द अमृत बरसता है। उनके इच्छा नहीं, आवरण नहीं, अभिलाषा नहीं, संदेह नहीं; तब फिर वे किसकारण से ध्यान करते हैं ? मेरे हृदय में इसप्रकार का सशय उत्पन्न हो रहा है।

उत्तर – ज्ञानावरनादि सर्व बाधा सों विमुक्त होय,
पायो है अबाध निज आतम धरम है।
ज्ञान और सुख सरवंग सब आतमा के,
जासों परिपूरित सो राजैं अभरम है।।
इन्द्री सों रहित उतकिष्ट अतिइन्द्री सुख,
ताही को एकाग्ररूप ध्यावत परम है।
ये ही उपचार करि केवली के ध्यान कह्यौ,
भेदज्ञानी जानै यह भेद को मरम है।।१२७।।

ज्ञानावरणादि सभी कर्मों की बाधा से मुक्त होकर जिन्होंने अबाध आत्मधर्म प्राप्त किया है और जो आत्मा के सर्वांग में ज्ञान और सुख से भरे हुए शोभायमान हो रहे हैं, सभी प्रकार के भ्रमों से रहित हैं; उनको इन्द्रियों से रहित उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति हुई है; इसलिए वे एकाग्र होकर उसी का ध्यान करते रहते हैं।

यही उपचार करके केवली भगवान के ध्यान कहा है। इस मार्मिक रहस्य को भेदज्ञानी ही जानते हैं।

(दोहा)

अतिइन्द्री उतकिष्ट सुख, सहज अनाकुलरूप।
ताही को एकाग्र निज, अनुभवते जिनभूप।।१२८।।
अनइच्छक बाधा रहित, सदा एकरस धार।
यही ध्यान तिनके कह्यौ, नय उपचार आधार।।१२९।।
पुव्व कर्म की निरजरा, नूतन बांधै नाहिं।
यही ध्यान को फल लखौ, वृन्दावन मनमाहिं।।१३०।।

जिनराज को अनाकुल, अतीन्द्रिय, उत्कृष्ट सुख सहज प्राप्त है; वे उसी का एकाग्र चित्त से अनुभव (ध्यान) करते हैं।

इच्छाओं और बाधाओं से रहित एक अतीन्द्रिय सुख की एकरस धार उनके अन्तर में निरन्तर बहती रहती है। उपचार से यह कहा जाता है कि उनके यही ध्यान है।

वृन्दावन कवि मन में सोचते हैं कि पुराने कर्मों की निर्जरा और नये कर्मों का बंधन का अभाव – ध्यान का यही फल उन्हें प्राप्त है।

पण्डित देवीदासजी इन गाथाओं का भाव कविवर वृन्दावनदासजी के समान ही करते हैं।

आध्यात्मिसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जगत के सामान्यजनों को मोह के निमित्त से और स्वयं की योग्यता से तृष्णा है; इसलिये उनको किसी न किसी पदार्थ की इच्छा रहती है तथा वे स्वयं की योग्यता के कारण और ज्ञानावरणरूप कर्म के निमित्त से सम्पूर्ण पदार्थों को तो जान नहीं सकते तथा जिनको जानते हैं, उन्हे भी सूक्ष्मता से नहीं जानते; इसलिए जो जानने में नहीं आ रहे, उन्हे जानने की जिज्ञासा होती है तथा अस्पष्टरूप से जाने हुए पदार्थों में शंका रहती है – ऐसा होने के कारण उन्हें अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेहवाले पदार्थों का ध्यान होता है।

परन्तु सर्वज्ञ भगवान को निमित्तरूप मोहनीय कर्म का अभाव होने से और स्वय की योग्यता से वीतरागता है, इसलिए इच्छा नहीं है; सर्वज्ञदशा प्रगट है, इसकारण निमित्तरूप ज्ञानावरण कर्म नहीं है; इसलिये भगवान सर्व पदार्थों को अत्यन्त स्पष्टता से परिपूर्ण जानते हैं; अत उन्हें किसी भी पदार्थ के प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा अथवा संदेह नहीं है; तो फिर उनको किस पदार्थ का ध्यान हो सकता है?[१]

केवली भगवान के परिपूर्ण सिद्धदशा होने तक शुक्लध्यान होता है; क्योंकि वे अनाकुलरूप से एक आत्म विषय में अनुभवरूप से स्थित रहते हैं, ऐसा होने पर भी केवली भगवान अपूर्व और अनाकुल लक्षण परमसुख को ध्याते हैं और ऐसे आत्मस्थित रहने से सहज ज्ञान, आनन्द स्वभाव रूप सिद्धदशा की प्राप्ति हो जाती है। छदमस्थदशा में जैसा ध्यान होता है, अरहंत भगवान को वैसा ध्यान नहीं करना पडता;

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४३८

परन्तु अव्याबाध सुख प्रगट नहीं हुआ है और योग गुण संबंधी अशुद्धता है। चार प्रतिजीवी गुणों की पर्याय में अशुद्धता है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी शुद्धरूप से प्रगट नहीं हुआ है, अरहंत भगवान की आत्मा में इतनी कचास है और निमित्तरूप चार अघातिकर्म शेष हैं, स्वपर्याय की इतनी कचास (अपूर्णता) मिटाने के लिए अरहंत भगवान को छद्मस्थ की तरह कोई विकल्प/पुरुषार्थ नहीं करना पडता; आत्मानुभव में स्थित रहने से क्रम-क्रम से मलिनता समाप्त होकर सिद्धदशा प्रगट होती है; इसलिए एक आत्मा में अवस्थित रहने से भगवान को शुक्लध्यान कहा है।[१]

सर्व आत्मप्रदेशो में परिपूर्ण आनंद और ज्ञान से भरे सर्वज्ञ भगवान का परमानंदरूप अपने निजात्मा में मात्र अपने रूप से सवेदन करनेवाले होने से, उन्हें परमानंद का ध्यान है; इसलिए वे परमसुख को ध्याते हैं।[२]"

उक्त गाथाओं और उनकी टीकाओं में अनेक युक्तियों से इस शंका का समाधान किया गया है कि अरहंत भगवान के न तो अभिलाषा है, न जिज्ञासा है और न किसी भी प्रकार का संदेह ही रहा है; क्योंकि वे वीतरागी और सर्वज्ञ हैं। वीतरागी होने से अभिलाषा नहीं है और सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष जान लेने से जिज्ञासा और सन्देह नहीं हो सकते। इसप्रकार जब कोई कमी नहीं है तो वे ध्यान किसलिए करते हैं और किसका ध्यान करते हैं ?

उक्त शका का समाधान करते हुए कहा गया है कि वे सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए परमसुख का ध्यान करते हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार यह कथन उपचरित कथन है; क्योंकि अनत अतीन्द्रिय सुख प्राप्त हो जाने से वस्तुत उन्हे ध्यान होता ही नहीं है; परन्तु आगम में ऐसा कहा गया है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये जाते हैं। ●

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४४२
२ वही, पृष्ठ-४४५

प्रवचनसार गाथा १९९

'जब केवली भगवान को अभिलाषा, जिज्ञासा और सन्देह नहीं है तो फिर वे ध्यान किसलिए करते हैं और किसका करते हैं' – यह प्रश्न और इसका उत्तर विगत गाथाओं में दिया गया है; अब इस गाथा में यह कहते हैं कि मोक्षमार्ग शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ।।१९९।।

(हरिगीत)

निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने।
निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ।।१९९।।

जिन, जिनेन्द्र और श्रमण अर्थात् सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली और मुनिगण पूर्वोक्त मार्ग में आरूढ होकर ही सिद्ध हुए हैं। उन्हें और उक्त निर्वाणमार्ग को नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सभी सामान्य चरमशरीरी, चरमशरीरी तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु यथोक्त शुद्धात्मप्रवृत्ति है लक्षण जिसका – ऐसी विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं; किसी अन्य विधि से आजतक कोई भी सिद्ध नहीं हुआ।

इससे निश्चित होता है कि यह एक ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई नहीं।

अधिक प्रपच (विस्तार) से क्या लाभ है ? उस शुद्धात्मतत्त्व में प्रवर्तित सिद्धों को तथा शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को, जिसमें भाव्य और भावक का विभाग अस्त हो गया है – ऐसा नोआगमभावनमस्कार हो।

इसप्रकार मैंने मोक्षमार्ग निर्धारित किया है और उसमें प्रवर्तन कर रहा हूँ।''

उक्त कथन में ध्यान देने की बात यह है कि गाथा में जिन, जिनेन्द्र और श्रमण शब्द आये हैं; जिनका समान्य अर्थ चरमशरीरी सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली तथा चरमशरीरी और अचरमशरीरी सभी मुनिराज तो हो सकता है; परन्तु यहाँ 'श्रमण' शब्द से अचरमशरीरी अर्थात् उसी भव से मोक्ष नहीं जानेवाले मुमुक्षु भी लिये गये हैं; जिनमें ज्ञानी श्रावक और मुनिराज – सभी आ जाते हैं।

साथ मे यह लिखा है कि ये सभी शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग से सिद्ध हुए हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही संभव है कि जो अचरमशरीरी हैं; वे सिद्ध कैसे हो सकते हैं ?

आचार्य जयसेन के चित्त में भी यह प्रश्न खडा हुआ होगा कि अचरमशरीरियों को सिद्धपना कैसे घटित हो सकता है। यही कारण है कि उन्होने इसप्रकार की शका उपस्थित कर उसका निम्नलिखितानुसार समाधान प्रस्तुत किया है –

''उसी भव से मोक्ष नहीं जानेवाले अचरम शरीरियों के सिद्धपना कैसे सभव है? यदि कोई ऐसा प्रश्न करे तो उसका उत्तर आगम मे इसप्रकार दिया गया है –

तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणम्मि संदणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि ।।

तप से सिद्ध, नय से सिद्ध, सयम से सिद्ध, चारित्र से सिद्ध, ज्ञान और दर्शन से सिद्ध हुए भगवन्तों को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार उक्त गाथा में कहे गये क्रम से एकदेश सिद्धता अचरम-शरीरी जीवों के भी मानी गई है।''

शेष बातें तात्पर्यवृत्ति मे तत्त्वप्रदीपिका के समान ही हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी ने इस गाथा का भाव १ मनहरण और २ दोहों – इसप्रकार ३ छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

(मनहरण)

या प्रकार पूरवकथित शिवमारग में,
सावधान होय जो विशुद्धता संभारी है।
चरमशरीरी जिन तथा तीरथंकर,
जिनिंददेव सिद्ध होय वरी शिवनारी है।।
तथा एक दोय भवमाहिं जे मुकत जाहिं,
ऐसे जे श्रमन शुद्ध भाव अधिकारी हैं।
तिन्हैं तथा ताही शिवमारग को वृन्दावन,
बार बार भली-भांति वंदना हमारी है।।१३१।।

इसप्रकार पूर्वोक्त मुक्ति के मार्ग में सावधान होकर अपने विशुद्धभावों को सभारा है जिन्होंने – ऐसे चरमशरीरी सामान्य केवली और तीर्थंकर केवलियों ने शिवनारी का वरण किया है अर्थात् सिद्धदशा प्राप्त की है। इनके अतिरिक्त जो एक-दो भवों में मोक्ष जायेंगे – ऐसे अचरमशरीरी श्रमण भी शुद्धभावों के अधिकारी हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि उन सभी सिद्धों को और उक्त मुक्तिमार्ग को बारम्बार भलीभाति हमारी वदना है।

(दोहा)

बहुत कथन कहँ लगु करो, जो शुद्धातम तत्त।
ताही में परवर्त करि, भये जु तदगत-रत्त।।१३२।।
ऐसे सिद्धनि कों तथा, आतम अनुभवरूप।
शुद्ध मोक्षमग को नमों, दरवितभाव सरूप।।१३३।।

मैं अधिक कथन कहाँ तक करूँ; बात मात्र इतनी ही है कि जो जीव शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्ति करके उसी में लीन हो गये हैं – ऐसे सिद्धों को तथा आत्मानुभवरूप जो शुद्ध मोक्षमार्ग है, उसको द्रव्य-भाव नमस्कार करता हूँ।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

सम्यक् दरस ग्यान चरन प्रवर्त्ति सुद्ध
आत्मा स्वरूप मोख मारग बतायौ है।
सामान्य सु केवली कहे सु और तीर्थंकर
जसु मुनि जे सु मुक्ति गामी तिनि पायौ है।।
अैसे मोख के सु अभिलाषी जती कर्म हनि
हूं हैं सिद्ध अैसो मोख पंथ दरसायो है।
सोई महामुनि कौं सु और मोखमारग कौं
देवीदास हाथ जोरिकैं सु सीसु नायौ है ।।१६२।।

अरहत भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में प्रवृत्तिरूप शुद्धात्मस्वरूप को मोक्षमार्ग बताया है। जो मुक्ति गये हैं – ऐसे सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली और जो मुक्ति जानेवाले हैं – ऐसे मुनिराजों ने कर्म का नाश कर मुक्ति प्राप्त की है और उन्होंने ऐसा ही मोक्षमार्ग बताया है – ऐसे तीर्थंकरों व महामुनिराजों को और मोक्षमार्ग को देवीदास हाथ जोडकर शीश नवाता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सभी केवली भगवन्तों, तीर्थंकरों तथा एक भवतारी सतों ने शुद्धात्मा में प्रवृत्ति की विधि से ही मोक्षमार्ग पाया और इसी विधि से सिद्ध पद की प्राप्ति की।[१]

चौथे काल में यही विधि थी और अब इस पंचम काल में भी यही विधि है। पचमकाल के लिए कोई दूसरी विधि नहीं है। महाविदेह क्षेत्र हो या भरत क्षेत्र या अन्य जो भी क्षेत्र हो सर्वत्र मोक्ष की विधि एक ही है।[२]

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४४६-४४७
२ वही, पृष्ठ-४४७

शुद्धात्मस्वभाव में वर्तते हुए सिद्ध भगवंतों तथा आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग को मेरा नोआगमभाव नमस्कार हो।

यहाँ शुद्ध आत्मा भाव्य है – ध्येय है, ध्यान करने योग्य है और मेरी पर्याय ध्यान करने वाली है, भावक है – ऐसे भाव्य-भावक का भेद अस्त हो जाता है। शुद्ध आत्मा वंद्य है और मैं वंदन करने वाला हूँ – शुद्ध आत्मा आराध्य है और मेरी पर्याय आराधना करने वाली है। ऐसा भेद अस्त हो गया है – इसप्रकार नोआगम भाव नमस्कार हो। आत्मा परिपूर्ण ज्ञायक स्वरूप है, उसके ज्ञानरूप परिणमना ही भाव नमस्कार है। आत्मा के उस ज्ञान को आगम भाव नमस्कार कहते हैं तथा इस ज्ञान सहित एकाग्रता रूप परिणमना नोआगम भाव नमस्कार है।[१]"

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की अतमंगलाचरणरूप इस गाथा में मुक्तात्माओं और मुक्तिमार्ग को नमस्कार किया गया है। टीका में इस बात पर बल दिया गया है कि मुक्तिमार्ग शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप है और आजतक जो सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, वे सभी इसी मार्ग से मुक्त हुए हैं। मैं भी इसी मार्ग पर चलकर निर्विकल्परूप से सिद्ध भगवन्तों और मुक्तिमार्ग को नमस्कार कर रहा हूँ।

तात्पर्य यह है कि मेरा यह नमस्कार भेदरूप द्रव्यनमस्कार नहीं है, अपितु अभेदरूप नोआगमभावनमस्कार है। ●

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४४८

इस जगत में बुराइयों की तो कमी नहीं है, सर्वत्र कुछ न कुछ मिल ही जाती हैं, पर बुराइयों को न देखकर अच्छाइयों को देखने की आदत डालनी चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने का अभ्यास करना चाहिए। अच्छाइयों की चर्चा करने से अच्छाइयाँ फैलती हैं और बुराइयों की चर्चा करने से बुराइयाँ फैलती हैं। अत: यदि हम चाहते हैं कि जगत में अच्छाइयाँ फैलें तो हमें अच्छाइयों को देखने-सुनने और सुनाने की आदत डालनी चाहिए। चर्चा तो वही अपेक्षित होती, जिससे कुछ अच्छा समझने को मिले, सीखने को मिले।

– पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८७

प्रवचनसार गाथा २००

विगत गाथा में सिद्ध भगवान और मोक्षमार्ग को नमस्कार करके एक प्रकार से ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार का अन्तमंगल कर दिया है।

अब इस गाथा में आचार्यदेव ५वी गाथा में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार निर्ममत्व में स्थित होकर ममता के त्याग का संकल्प करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्हि।।२००।।

(हरिगीत)

इसलिए इस विधि आतमा ज्ञायकस्वभावी जानकर।
निर्ममत्व में थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर।।२००।।

शुद्धात्मा में प्रवृत्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है; इसकारण मैं आत्मा को स्वभाव से ज्ञायक जानकर निर्ममत्व मे स्थित रहता हुआ ममता का परित्याग करता हूँ।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञान-पूर्वक, ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व के ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरंभ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ; क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं –

प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के समस्त पदार्थों के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सबंध ही है; किन्तु स्व-स्वामि लक्षणादि संबध नहीं हैं, इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, मैं तो सर्वत्र निर्ममत्व ही हूँ।

एक ज्ञायक भाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त भूत, वर्तमान और भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले अगाध स्वभाव और गंभीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को; मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों; कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों और प्रतिबिम्बित हुए हों; इसप्रकार एक क्षण में ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेय-ज्ञायक सबंध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी जो शुद्धात्मा सहज अनंतशक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता; जो अनादि ससार से इसी स्थिति मे ज्ञायकभावरूप ही रहा है और जो मोह के द्वारा दूसरे रूप मे जाना-माना जाता रहा है, उस शुद्धात्मा को, यह मैं मोह को उखाड फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ जैसा का तैसा ही प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धिमूलक समस्त ज्ञान में उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत – ऐसे इस आत्मा को तथा सिद्धभूत परमात्माओं को, उसी में एकपरायणतारूप भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो।''

इस गाथा का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर पण्डित वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को ३ मनहरण छन्दो में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

तातैं जैसे तीरथेश आदि निजरूप जानि,
शुद्ध सरधान ज्ञान आचरन कीना है।
कुन्दकुन्द स्वामी कहैं ताही परकार हम,
ज्ञायक सुभावकरि आपै आप चीना है।।
सर्व परवस्तु सों ममत्वबुद्धि त्यागकरि,
निर्ममत्व भाव में सु विसराम लीना है।

सोई समरसी वीतराग साम्यभाव वृन्द,
मुकत को मारग प्रमानत प्रवीना है।।१३४।।

जिसप्रकार तीर्थंकर आदि ने अपने स्वरूप को जानकर उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण किया है; कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हमने भी उसीप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव को पहिचानकर उसमें अपनापन धारण किया है और समस्त परवस्तुओं से ममत्व को त्यागकर निर्ममत्व भाव में विश्राम लिया है।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि हमने भी उसी समरसी वीतरागी साम्यभाव को मुक्ति का मार्ग माना है, प्रमाणित किया है।

मेरा यह ज्ञायक सुभाव जो विराजत है,
तासों और ज्ञेयनि सों ऐसो हेत झलकै।
कैधों वे पदारथ उकीरे ज्ञान थंभमाहिं,
कैधों ज्ञान पटविषैं लिखे हैं अचलकै।।
कैधों ज्ञान कूप में समानै हैं सकल ज्ञेय,
कैधों काहू कीलि राखे त्याग तन पलकै।
कैधों ज्ञानसिंधुमाहिं डूबे धों लपटि रहे,
कैधों प्रतिबिंबित हैं सीसे के महल कै।।१३५।।

मेरा जो ज्ञायकस्वभाव शोभायमान हो रहा है, उससे ज्ञेयों का इसप्रकार वात्सल्य भाव झलकता है कि वे ज्ञेयपदार्थ ज्ञान के खभे में उत्कीर्ण कर दिये हैं अथवा ज्ञानरूपी पट (वस्त्र) में लिख (चित्रित) दिये हैं अथवा उन्हें ज्ञान में कीलित कर रखा है अथवा ज्ञानसागर में सभी ज्ञेय डूब गये हैं, ज्ञानस्वभाव में लिपट रहे हैं और दर्पणों से सज्जित महल में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

ऐसो ज्ञान ज्ञेय को बन्यो है सनबंध तऊ,
मेरो रूप न्यारो जैसें चंद्रमा फलक में।
अनादि सों और रूप भयो है कदापि नाहिं,
ज्ञायक सुभाव लिये राजत खलक में।।

ताको अब निहचै प्रमान करि वृन्दावन,
अंगीकार कियौ भेदज्ञान की झलक में।
त्यागी परमाद परमोद धारी ध्यावत हों,
जातैं पर्म धर्म शर्म पाइये पलक में।।१३६।।

यद्यपि ज्ञान और ज्ञेयों का इसप्रकार संबंध बना हुआ है, तथापि जिसप्रकार दर्पण में झलकनेवाला चन्द्रमा दर्पण से भिन्न है; उसीप्रकार मेरा रूप भिन्न है और उसमें झलकनेवाले पदार्थ भिन्न हैं। सम्पूर्ण विश्व में आत्मा ज्ञायकस्वभाव के रूप में शोभायमान हो रहा है। यह आत्मा अनादि से आजतक पररूप कभी भी नहीं हुआ है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि मैंने भेदज्ञान की झलक में निश्चय से प्रमाणित कर लिया है और अब मैं प्रमाद को त्यागकर, प्रमोद धारणकर, उसी ज्ञायकस्वभावी आत्मा का ध्यान करता हूँ, इससे मैं पल भर में परमधर्म से अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करूँगा।

पण्डित देवीदासजी भी एक छन्द में इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

सुद्ध आतमा कौं साधि निजग्यान कौं अराधि
जैसैं भव्यजीव जे अनंत मुक्ति गये हैं।
तैं ही भांति तीर्थंकर आदि और सुद्ध रूप
जानि आप अनुभौ करैं विसुद्ध भये हैं।।
तैंसे ही सु सबको जनैया जो सु जान्यौ हम
परद्रव्य सौं ममत्व भाव त्यागि दिये हैं।
होइ कैं सु निश्चल स्वरूप पाइकैं सु एक
वीतराग भाव तिहि रूप परिनयै हैं।।१६३।।

जिसप्रकार भूतकाल में अनंत भव्यजीव शुद्धात्मा की साधना करके, निजज्ञान की आराधना करके मुक्ति गये हैं, वैसे ही तीर्थंकर आदि महापुरुष भी अपने शुद्धरूप को जानकर अपना अनुभव करके विशुद्ध हो गये हैं; उसीप्रकार हमने भी सबके जाननेवाले को जान लिया है,

परद्रव्यों से ममत्वभाव त्याग दिया है और स्वरूप को पाकर उसमें निश्चल होकर एक वीतरागभावरूप परिणमित हो गये हैं।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक, ममत्व के त्याग और निर्ममत्व के ग्रहणरूपी विधि से सर्व उद्यमपूर्वक शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ।

देखो! यहाँ तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक कहा है; क्योंकि तत्त्वों के सच्चे ज्ञान बिना ममत्व का त्याग और निर्ममत्व की शरण नहीं हो सकती।[१]

आचार्य भगवान कहते हैं कि विश्व के समस्त पदार्थों के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक संबध है, इसलिए मुझे उनसे कोई ममत्व नहीं, पूर्णत· निर्ममत्व है। कोई बिगडे अथवा सुधरे मेरा उनसे कोई सबध नहीं। शिष्य के धर्म पालने से मेरा कुछ सुधरता नहीं और धर्म न पालने से मेरा कुछ बिगडता नहीं।

शिष्य कहता है कि – हे भगवन! आप तो धर्म के स्तभ हो। आपके स्वर्ग पधारने के बाद इस शासन को कौन चलायेगा ?

आचार्य भगवान उत्तर देते हैं कि – मैंने तो पहले ही यह निर्णय कर लिया है कि शासन के साथ मेरा कोई संबध नहीं, शासन पहले से ही है, हमारे आधार से नहीं है।

जीवों को स्वय की योग्यता से धर्म की प्राप्ति होती है। शासन रक्ष्य, मैं उसका रक्षक – ऐसा सबध ही नहीं है। ज्ञेय-ज्ञायक सबध मात्र है। अन्तर में चैतन्य का ज्ञायक स्वभाव कभी भी पररूप नहीं हुआ।

घर के बाहर गड्ढे के पानी में भैंस कीचड मचाती हो और कोई शिकायत करे कि भैंस कीचड मचा रही है तो घर का स्वामी कहता है कि न तो भैंस मेरी है और न ही पानी। इसका ध्यान रखना मेरा काम नहीं।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४५२

उसीप्रकार परपदार्थ स्वयं के कारण नष्ट होते हैं, इससे मेरा कोई सबंध नहीं, कोई आचार्य भगवान से शिकायत करे कि पुस्तक फट गयी, मकान टूट गया, कोई शिष्य मर गया। आचार्य कहते हैं कि पुस्तक मेरी कब थी? कौन शिष्य? मेरा कोई शिष्य नहीं, पर के साथ मेरा कोई संबंध नहीं, पर के कारण मेरा कुछ बनता-बिगडता नहीं। यहाँ दृष्टिपूर्वक विशेष लीनता की बात है। आचार्य देव कहते हैं कि सर्वत्र निर्ममत्व ही वर्ते।[१]

एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमप्रवर्तता हुआ, अनंत भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाला, अगाध स्वभाव और गभीर ऐसे समस्त द्रव्य मात्र को जानता है। वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों।[२]

इन ज्ञेय पदार्थों को छद्मस्थ जीव भले ही एक के बाद एक ऐसा क्रम से जानते हों; परन्तु यह ज्ञायक का मूल स्वभाव नहीं है। समस्त द्रव्यों के भूत-वर्तमान-भावी काल की होनेवाली अनेक प्रकार की अनंत पर्यायों सहित एक समय में ही प्रत्यक्ष जानने का आत्मा का स्वभाव है।[३]

ज्ञायकस्वभाव दर्पण के समान द्रव्यों को जानता है। जिसप्रकार दर्पण में श्रीफल दिखता है, परन्तु श्रीफल दर्पण में नहीं दर्पण के बाहर है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति रूपी दर्पण में भूत-वर्तमान-भावी अनंत पर्यायों वाला ज्ञेय जानने में आता होने पर भी ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुआ है, ज्ञान से बाहर है। जिसप्रकार दर्पण को देखने पर बाहर की सब वस्तुयें दिख जाती है, उसीप्रकार निज चैतन्य दर्पण को देखने पर समस्त ज्ञेय दिख जाते हैं।[४]

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४५९ २ वही, पृष्ठ-४६१
३ वही, पृष्ठ-४६१ ४ वही, पृष्ठ-४६१

सम्यग्ज्ञान का मूल दर्शनविशुद्धि है, दर्शनविशुद्धि के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता है। इसप्रकार ज्ञान के साथ दर्शनविशुद्धि होने से सीधे ज्ञानस्वभाव में अव्याबाध लीनता होती है। वर्तमान में मुनिदशा होने पर साक्षात् सिद्ध समान मेरे इस निजात्मा को तथा इसप्रकार सिद्धदशा को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को भाव नमस्कार सदैव हो। स्वयं भाव्यरूप से जो वस्तु है, उसमें एकाग्र होना – यह भावनमस्कार का लक्षण है।[१]"

इस गाथा और उसकी टीका में समागत भाव का सारांश यह है कि आत्मार्थी के लिए आत्मपरिज्ञानपूर्वक निर्ममत्व होकर शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करनेयोग्य नहीं है।

आचार्यदेव घोषणा कर रहे हैं कि मेरा समस्त परपदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सबध ही है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई सबध नहीं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का पर के साथ न तो तादात्म्य संबध है, न स्व-स्वामी संबंध है, न लक्ष्य-लक्षण सबध है, न गुरु-शिष्य सबध है, न विशेषण-विशेष्य संबध है, न गुण-गुणी संबध है, न वाच्य-वाचक सबध है, न ग्रहण-ग्राह्य सबध है, न कर्ता-कर्म सबध है, न आधार-आधेय सबंध है और न रक्ष्य-रक्षक सबध है। इसप्रकार आत्मा पर से निर्ममत्व ही है।

ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञायकभाव का सर्वज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से समस्त द्रव्य अपने गुण और पर्यायों सहित ज्ञायकभाव में इसप्रकार ज्ञात होते हैं कि मानो वे ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों और प्रतिबिम्बित हो गये हो।

इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक संबध की अनिवार्यता के कारण गहराई से सबधित होने पर भी ज्ञायकभाव ज्ञेयो से भिन्न ही है, भिन्न ही रहता है।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४६४

इसलिए मैं तो निज ज्ञायकभाव को जैसा उसका मूल स्वभाव है, वैसा ही प्राप्त करता हूँ।

यद्यपि आचार्यदेव अभी साधु अवस्था में ही हैं; तथापि अपने आत्मा को सिद्धात्माओं के साथ स्थापित करते हैं और कहते हैं कि मेरा यह सिद्धात्माओं को अभेदरूप निर्विकल्प भावनमस्कार है।

इसके बाद आचार्य जयसेन की टीका में तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है, जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं।।१४।।

(हरिगीत)

सुशुद्धदर्शनज्ञानमय उपयोग अन्तरलीन जिन।
बाधारहित सुखसहित साधु सिद्ध को शत्-शत् नमन।।१४।।

दर्शन से संशुद्ध, सम्यग्ज्ञानरूप उपयोग से सहित निर्बाधरूप से स्वरूपलीन सिद्ध व साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो।

आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त यह गाथा भी इस अधिकार की अन्तमंगलरूप गाथा है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ३ मूढता आदि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन से शुद्ध, संशय आदि दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान से सहित, विकल्परहित स्वरूपलीनतारूप वीतरागचारित्र सहित, निराबाध अनंतसुख में लीन सिद्धों अर्थात् अरहत-सिद्धों को और सिद्धदशा को साधनेवाले साधुओं अर्थात् आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को मैं भक्तिपूर्वक बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

ध्यान रहे मूल गाथा में सिद्ध और साधुओं का ही उल्लेख है, पर टीका में सिद्ध में अरहंत और सिद्धों को तथा साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और स।धुओं को भी ले लिया गया है।

इसप्रकार अब प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का समापन होने जा रहा है। महाधिकार के अन्त में तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र २ शालिनी और १ वसंततिलका – इसप्रकार कुल ३ छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(शालिनी)

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य।
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम्॥१०॥
ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम्।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः॥११॥

(दोहा)

ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान के प्रतिपादक जो शब्द।
उनमें डुबकी लगाकर निज में रहें अशब्द॥१०॥
शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर जग को कर अब ज्ञेय।
स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही एकमात्र श्रद्धेय॥११॥

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले शब्दब्रह्मरूप जैन तत्त्वज्ञान में भलीभाति अवगाहन करके हम मात्र शुद्धात्मद्रव्यरूप एक वृत्ति (परिणति) से सदा युक्त रहते हैं।

यह आत्मा ब्रह्म (परमात्मतत्त्व-सिद्धत्व) को शीघ्र प्राप्त करके असीम विश्व को शीघ्रता से एकसमय में ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ और ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ दैदीप्यमान हो रहा है।

उक्त छन्दों के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझानेवाले सर्वज्ञ बिना और कोई नहीं है, वीतरागता प्रगट होने पर, सर्वज्ञता प्रगट हुई और दिव्यध्वनि में जो वस्तुतत्त्व का परिपूर्ण स्वरूप प्रगट हुआ, उसे शब्दब्रह्म कहते हैं। उस शब्दब्रह्म को समझाने के लिए कुन्दकुन्ददेव ने इस शास्त्र की रचना की है।

छहों द्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण हैं। आत्मा ज्ञान-

दर्शन-चारित्र आदि अनंत गुणों का पिण्ड है। प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती है।[१]

कर्मादि परपदार्थ ज्ञेय हैं, उनकी भी अपनी स्वतंत्र योग्यता है। कोई भी स्वज्ञेय-परज्ञेय में कुछ भी नहीं कर सकता। इसप्रकार यह आत्मा प्रत्येक रजकण से और अन्य आत्मा से भिन्न ही है। ऐसी स्वतत्रता की बात ज्ञेयाधिकार में की है।[२]

भगवान आत्मा परब्रह्म है और उसे बताने वाली वाणी शब्दब्रह्म है।[३]

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि शब्दब्रह्म का सम्यक् अवगाहन करके हम मात्र शुद्धात्मा में ही लीन रहते हैं। कोई भी विकल्प मुझे शरणभूत नहीं है; स्व-ज्ञेय शुद्धात्मा ही एक शरणभूत है।[४]

जो आत्मा का सच्चा ज्ञान करता है, वह केवलज्ञानदशा को प्राप्त करता है। आत्मा पर की क्रिया, पुण्य-पाप की क्रिया से रहित है – ऐसी श्रद्धापूर्वक चारित्रदशा होती है और चारित्र पूर्ण होते ही केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है।[५]"

उक्त छन्दों में आचार्य अमृतचन्द्रदेव कह रहे हैं कि मैं इस जिनप्रवचन के सारभूत प्रवचनसाररूप जिनवाणी में अवगाहन करके ज्ञेयतत्त्व को भलीभाँति समझकर निजात्मरमणतारूप परिणमित हो रहा हूँ। इसप्रकार मेरा यह आत्मा परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर, सम्पूर्ण विश्व को ज्ञेय रूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ, ज्ञान को आत्मरूप करता हुआ शोभायमान है।

इस महाधिकार के अन्त में आने वाले ३ छन्दों में से अन्तिम छन्द इसप्रकार है–

(वसन्ततिलका)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।

---

१ दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४६५
२ वही, पृष्ठ-४६६
३ वही, पृष्ठ-४६६
४ वही, पृष्ठ-४६७
५ वही, पृष्ठ-४६७

तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥१२॥

(दोहा)

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार॥१२॥

चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है – इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु अर्थात् ज्ञानी श्रावक और मुनिराज मोक्षमार्ग में आरोहण करो।

इस छन्द पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी अपने भावों को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

"भाई ! चरण द्रव्य के अनुसार होता है। द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान करके यथाशक्ति स्थिरता होते ही राग सहज ही निकल जाता है और द्रव्य के ज्ञान बिना राग यथार्थ रीति से मंद भी नहीं होता है।

आत्मा का ज्ञान चरण अनुसार होता है। जो जीव माँस भक्षण करता हो, शराब पीता हो, लंपट हो, काले-धंधे करता हो, हजारों लोगों के नुकसान का भाव रखता हो, अनीति करता हो, निंद्य कार्य करता हो; उसे तो कभी भी आत्मा का भान नहीं हो सकता, वह मुमुक्षुपने के लायक ही नहीं है; परन्तु मैं अपना हित कर सकता हूँ – ऐसे वैराग्यभाववाले जीव को जितने प्रमाण में राग घटा है, उतने प्रमाण में अन्तर स्वरूप स्थिरता हुई है। जो जीव यथार्थ भानपूर्वक राग को कम करता है, उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का परिणाम नहीं रहता है।

इसप्रकार उक्त दोनों भाव एक दूसरे की अपेक्षा सहित है। इसलिये आत्मा का सच्चा ज्ञान करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो अथवा आत्मा के भान सहित राग को कम करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो। जो जीव सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करता है; वह राग को घटाकर धीरे-धीरे शुद्धता की

ओर बढ़ेगा और पूर्ण वीतरागी दशा प्रगट करेगा, इसलिये हे मुमुक्षुओ! मोक्षमार्ग में आरोहण करो।[१]"

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव इसप्रकार समापन करते हैं कि मानो ग्रन्थ ही समाप्त हो गया हो। ऐसा लगता है कि वे ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का प्रतिपादन ही इस ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य मानते हैं। यही कारण है कि वे आगामी प्रकरण को चूलिका कहते हैं। उसे वे ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन के समान महाधिकार का दर्जा नहीं देना चाहते।

ज्ञान और ज्ञेयपना आत्मा का मूलस्वभाव है। वह आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है; उसमें ज्ञान नामक गुण भी है और प्रमेयत्व नामक गुण भी है।

आत्मा को समझने के लिए आत्मा के ज्ञानस्वभाव को भी जानना चाहिए और उसके ज्ञेयस्वभाव को भी जानना चाहिए। आत्मा के ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव को जाने बिना आत्मा को सही रूप में समझना संभव नहीं है। अतः उक्त दोनों महाधिकारों में इसकी विस्तार से चर्चा की।

इन अधिकारों के परिज्ञानपूर्वक आत्मा के ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव को जानकर ज्ञान-ज्ञेयस्वभावी आत्मा में आचरण करने, रमण करने के लिए अन्त में चरणानुयोग सूचक चूलिका लिखते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि अबतक की सम्पूर्ण चर्चा द्रव्यानुयोग संबंधी थी और अब जो चर्चा होगी, वह चरणानुयोग संबंधी होगी। इस बात का संकेत इस अन्तिम छन्द में दिया गया है। कहा गया है कि आचरण द्रव्यानुयोग के ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक तदनुसार होता है और द्रव्य का स्वरूप भी उसमें आचरण करने के लिए, लीन होने के लिए ही जाना जाता है।

इसप्रकार यह छन्द न केवल इस अधिकार का समापन है, अपितु

१. दिव्यध्वनिसार भाग-४, पृष्ठ-४७०

इसमें आगामी अधिकार की सूचना भी है। द्रव्य की चर्चा हुई और अब चारित्र की चर्चा आरंभ होगी। अगले प्रकरण के प्रथम छन्द की संगति भी इस छन्द से बैठती है; इसलिए तत्त्वानुसार आचरण और आचरण के अनुसार तत्त्व को ग्रहण करते हुए मोक्षमार्ग में आरोहण करना ही सभी आत्मार्थी बन्धुओं का एकमात्र कर्तव्य है।

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य जयसेन आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्व-प्रदीपिका टीका में समागत नामों को स्वीकार करते हुए भी इन अधिकारों के नाम तात्पर्यवृत्ति टीका में क्रमशः सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार और सम्यक्-चारित्राधिकार रखते हैं। ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का नाम सम्यग्ज्ञानाधिकार रखने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस अधिकार में अतीन्द्रिय ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता की चर्चा बहुत विस्तार से की गई है।

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार का नाम सम्यग्दर्शनाधिकार इसलिए रखा गया है कि इसमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समझे बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

जब उक्त दो अधिकार सम्यग्ज्ञानाधिकार और सम्यग्दर्शनाधिकार हो गये तो फिर चरणानुयोग चूलिका को सम्यक्चारित्राधिकार होना ही था।

ऐसा होने पर भी आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में भी इस ग्रंथ को यहीं समाप्त मान लेते हैं। वे इसका कारण देते हुए टीका की अन्तिम पंक्ति में लिखते हैं कि प्रतिज्ञा की पूर्णता हो जाने से ग्रन्थ की पूर्णता यहाँ ही जानना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र इन महाधिकारों को श्रुतस्कन्ध भी कहते हैं। जैसा कि तत्त्वप्रदीपिका टीका के अन्तिम वाक्य में लिखा गया है कि आचार्य अमृतचन्द्र विरचित प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन नामक द्वितीय श्रुतस्कध समाप्त हुआ।

इसीप्रकार का वाक्य प्रथम महाधिकार के अन्त में भी पाया जाता है। ●

प्रवचनसार पद्यानुवाद

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर।
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह॥१०॥•
गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय।
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय॥९३॥
पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में।
थित जीव ही हैं स्वसमय – यह कहा जिनवरदेव ने॥९४॥
निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें॥९५॥
गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है॥९६॥
रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने॥९७॥
स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है।
यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये॥९८॥
स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो।
उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है॥९९॥
भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन॥१००॥
पर्याय में उत्पादव्ययध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं।
बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं॥१०१॥
उत्पादव्ययथिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल।
बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब॥१०२॥
उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही।
पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो॥१०३॥

• आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त गाथा १०

गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव्य स्वयं सत्ता अपेक्षा।
इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा।।१०४।।
यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से।
किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं।।१०५।।
जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों।।१०६।।
सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है।
तद्‌रूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है।।१०७।।
द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह।
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है।।१०८।।
परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा।
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह।।१०९।।
पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं।
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं।।११०।।
पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से।
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा।।१११।।
परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह।।११२।।
मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं।
ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह।।११३।।
द्रव्य से है अनन्य जिय पर्याय से अन-अन्य है।
पर्याय तन्मय द्रव्य से तत्समय अतः अनन्य है।।११४।।
अपेक्षा से द्रव्य 'है' 'है नहीं' 'अनिर्वचनीय है'।
'है है नहीं' इसतरह ही अवशेष तीनों भंग हैं।।११५।।
पर्याय शाश्वत नहीं परन्तु है विभावस्वभाव तो।
है अफल परमधरम परन्तु क्रिया अफल नहीं कही।।११६।।
नाम नामक कर्म जिय का पराभव कर जीव को।
नर नारकी तिर्यंच सुर पर्याय में दाखिल करे।।११७।।
नाम नामक कर्म से पशु नरक सुर नर गति में।
स्वकर्म परिणत जीव को निजभाव उपलब्धि नहीं।।११८।।

उत्पाद-व्यय ना प्रतिक्षण उत्पादव्ययमय लोक में।
अन-अन्य हैं उत्पाद-व्यय अर अभेद से हैं एक भी।।११९।।
स्वभाव से ही अवस्थित संसार में कोई नहीं।
संसरण करते जीव की यह क्रिया ही संसार है।।१२०।।
कर्ममल से मलिन जिय पा कर्मयुत परिणाम को।
कर्मबंधन में पड़े परिणाम ही बस कर्म है।।१२१।।
परिणाम आत्मा और वह ही कही जीवमयी क्रिया।
वह क्रिया ही है कर्म जिय द्रवकर्म का कर्ता नहीं।।१२२।।
करम एवं करमफल अर ज्ञानमय यह चेतना।
ये तीन इनके रूप में ही परिणमे यह आत्मा।।१२३।।
ज्ञान अर्थविकल्प जो जिय करे वह ही कर्म है।
अनेकविध वह कर्म है अर करमफल सुख-दुक्ख हैं।।१२४।।
ज्ञान कर्मरु कर्मफल परिणाम तीन प्रकार हैं।
आत्मा परिणाममय परिणाम ही हैं आत्मा।।१२५।।
जो श्रमण निश्चय करे कर्ता करम कर्मरु कर्मफल।
ही जीव ना पररूप हो शुद्धात्म उपलब्धि करे।।१२६।।

द्रव्यविशेषप्रज्ञापनाधिकार

द्रव्य जीव अजीव हैं जिय चेतना उपयोगमय।
पुद्गलादी अचेतन हैं अत:एव अजीव हैं।।१२७।।
आकाश में जो भाग पुद्गल जीव धर्म अधर्म से।
अर काल से समृद्ध है वह लोक शेष अलोक है।।१२८।।
जीव अर पुद्गलमयी इस लोक में परिणमन से।
भेद से संघात से उत्पाद-व्यय-ध्रुवभाव हों।।१२९।।
जिन चिह्नों से द्रव ज्ञात हों रे जीव और अजीव में।
वे मूर्त और अमूर्त गुण हैं अतद्भावी द्रव्य से।।१३०।।
इन्द्रियों से ग्राह्य बहुविधि मूर्त गुण पुद्गलमयी।
अमूर्त हैं जो द्रव्य उनके गुण अमूर्तिक जानना।।१३१।।
सूक्ष्म से पृथ्वी तलक सब पुद्गलों में जो रहें।
स्पर्श रस गंध वर्ण गुण अर शब्द सब पर्याय हैं।।१३२।।

आकाश का अवगाह धर्माधर्म के गमनागमन।
स्थानकारणता कहे ये सभी जिनवरदेव ने॥१३३॥
उपयोग आतमराम का अर वर्तना गुण काल का।
है अमूर्त द्रव्यों के गुणों का कथन यह संक्षेप में॥१३४॥ युगलम्॥
हैं बहुप्रदेशी जीव पुद्गल गगन धर्माधर्म सब।
है अप्रदेशी काल जिनवरदेव के हैं ये वचन॥१३५॥
कालद्रव को छोड़कर अवशेष अस्तिकाय हैं।
बहुप्रदेशीपना ही है काय जिनवर ने कहा॥११॥•
गगन लोकालोक में अर लोक धर्माधर्म से।
है व्याप्त अर अवशेष दो से काल पुद्गलजीव हैं॥१३६॥
जिसतरह परमाणु से है नाप गगन प्रदेश का।
बस उसतरह ही शेष का परमाणु रहित प्रदेश से॥१३७॥
पुद्गलाणु मंदगति से चले जितने काल में।
रे एक गगनप्रदेश पर परदेश विरहित काल वह॥१३८॥
परमाणु गगनप्रदेश लंघन करे जितने काल में।
उत्पन्नध्वंसी समय परापर रहे वह ही काल है॥१३९॥
अणु रहे जितने गगन में वह गगन ही परदेश है।
अरे उस परदेश में ही रह सकें परमाणु सब॥१४०॥
एक दो या बहुत से परदेश असंख्य अनंत हैं।
काल के हैं समय अर अवशेष के परदेश हैं॥१४१॥
इक समय में उत्पाद-व्यय यदि काल द्रव में प्राप्त हैं।
तो काल द्रव्यस्वभावथित ध्रुवभावमय ही क्यों न हो॥१४२॥
इक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम के जो अर्थ हैं।
वे सदा हैं बस इसलिए कालाणु का सद्भाव है॥१४३॥
जिस अर्थ का इस लोक में ना एक ही परदेश हो।
वह शून्य ही है जगत में परदेश बिन न अर्थ हो॥१४४॥

ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार

सप्रदेशपदार्थनिष्ठित लोक शाश्वत जानिये।
जो उसे जाने जीव वह चतुप्राण से संयुक्त है॥१४५॥

• आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त गाथा ११

इन्द्रिय बल अर आयु श्वासोच्छ्वास ये ही जीव के।
हैं प्राण इनसे लोक में सब जीव जीवें भव भ्रमे ॥१४६॥
पाँच इन्द्रिय प्राण मन-वच-काय त्रय बल प्राण हैं।
आयु श्वासोच्छ्वास जिनवर कहे ये दश प्राण हैं॥१२॥•
जीव जीवे जियेगा एवं अभीतक जिया है।
इन चार प्राणों से परन्तु प्राण ये पुद्‌गलमयी॥१४७॥
मोहादि कर्मों से बंधा यह जीव प्राणों को धरे।
अर कर्मफल को भोगता अर कर्म का बंधन करे॥१४८॥
मोह एवं द्वेष से जो स्व-पर को बाधा करे।
पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्म वह बंधन करे॥१४९॥
ममता न छोड़े देह विषयक जबतलक यह आतमा।
कर्ममल से मलिन हो पुन-पुनः प्राणों को धरे॥१५०॥
उपयोगमय निज आतमा का ध्यान जो धारण करे।
इन्द्रियजयी वह विरतकर्मा प्राण क्यों धारण करे॥१५१॥
अस्तित्व निश्चित अर्थ की अन्य अर्थ के संयोग से।
जो अर्थ वह पर्याय जो संस्थान आदिक भेदमय॥१५२॥
तिर्यंच मानव देव नारक नाम नामक कर्म के।
उदय से पर्याय होवें अन्य-अन्य प्रकार कीं॥१५३॥
त्रिधा निज अस्तित्व को जाने जो द्रव्यस्वभाव से।
वह हो न मोहित जान लो अन-अन्य द्रव्यों में कभी॥१५४॥
आतमा उपयोगमय उपयोग दर्शन-ज्ञान हैं।
अर शुभ-अशुभ के भेद भी तो कहे हैं उपयोग के॥१५५॥
उपयोग हो शुभ पुण्यसंचय अशुभ हो तो पाप का।
शुभ-अशुभ दोनों ही न हो तो कर्म का बधन न हो॥१५६॥
श्रद्धान सिध-अणगार का अर जानना जिनदेव को।
जीवकरुणा पालना बस यही है उपयोग शुभ॥१५७॥
अशुभ है उपयोग वह जो रहे नित उन्मार्ग में।
श्रवण-चिंतन-संगति विपरीत विषय-कषाय में॥१५८॥

• आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त गाथा १२

आतमा ज्ञानात्मक अनद्रव्य में मध्यस्थ हो।
ध्यावे सदा ना रहे वह नित शुभ-अशुभ उपयोग में।।१५९।।
देह मन वाणी न उनका करण या कर्ता नहीं।
ना कराऊँ मैं कभी भी अनुमोदना भी ना करूँ।।१६०।।
देह मन वच सभी पुद्गल द्रव्यमय जिनवर कहे।
ये सभी जड़ स्कन्ध तो परमाणुओं के पिण्ड हैं।।१६१।।
मैं नहीं पुद्गलमयी मैंने ना बनाया हैं इन्हें।
मैं तन नहीं हूँ इसलिए ही देह का कर्ता नहीं।।१६२।।
अप्रदेशी अणु एक प्रदेशमय अर अशब्द हैं।
अर रूक्षता-स्निग्धता से बहुप्रदेशीरूप हैं।।१६३।।
परमाणु के परिणमन से इक-एक कर बढ़ते हुए।
अनंत अविभागी न हो स्निग्ध अर रूक्षत्व से।।१६४।।
परमाणुओं का परिणमन सम-विषम अर स्निग्ध हो।
अर रूक्ष हो तो बंध हो दो अधिक पर न जघन्य हो।।१६५।।
दो अंश चिकने अणु चिकने-रूक्ष हो यदि चार तो।
हो बंध अथवा तीन एवं पाँच में भी बंध हो।।१६६।।
यदि बहुप्रदेशी कंध सूक्षम-थूल हों संस्थान में।
तो भूजलादि रूप हों वे स्वयं के परिणमन से।।१६७।।
भरा है यह लोक सूक्षम-थूल योग्य-अयोग्य जो।
कर्मत्व के वे पौद्गलिक उन खध के संयोग से।।१६८।।
स्कन्ध जो कर्मत्व के हों योग्य वे जिय परिणति।
पाकर करम में परिणमें न परिणमावे जिय उन्हें।।१६९।।
कर्मत्वगत जड़पिण्ड पुद्गल देह से देहान्तर।
को प्राप्त करके देह बनते पुन-पुनः वे जीव की।।१७०।।
यह देह औदारिक तथा हो वैक्रियक या कार्मण।
तेजस अहारक पाँच जो वे सभी पुद्गलद्रव्यमय।।१७१।।
चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है।।१७२।।
मूर्त पुद्गल बंधे नित स्पर्श गुण के योग से।
अमूर्त आतम मूर्त पुद्गल कर्म बाँधे किसतरह।।१७३।।

जिसतरह रूपादि विरहित जीव जाने मूर्त को।
बस उसतरह ही जीव बाँधे मूर्त पुद्गलकर्म को।।१७४।।
प्राप्त कर उपयोगमय जिय विषय विविध प्रकार के।
रुष-तुष्ट होकर मुग्ध होकर विविधविध बंधन करे।।१७५।।
जिस भाव से आगत विषय को देखे-जाने जीव यह।
उसी से अनुरक्त हो जिय विविधविध बंधन करे।।१७६।।
स्पर्श से पुद्गल बंधे अर जिय बंधे रागादि से।
जीव-पुद्गल बंधे नित ही परस्पर अवगाह से।।१७७।।
आतमा सप्रदेश है उन प्रदेशों में पुद्गला।
परविष्ट हों अर बंधें अर वे यथायोग्य रहा करें।।१७८।।
रागी बाँधे कर्म छूटे राग से जो रहित है।
यह बंध का संक्षेप है बस नियतनय का कथन यह।।१७९।।
राग-रुष अर मोह ये परिणाम इनसे बंध हो।
राग है शुभ-अशुभ किन्तु मोह-रुष तो अशुभ ही।।१८०।।
पर के प्रति शुभभाव पुण पर अशुभ तो बस पाप है।
पर दु:खक्षय का हेतु तो बस अनन्यगत परिणाम है।।१८१।।
पृथ्वी आदि थावरा त्रस कहे जीव निकाय हैं।
वे जीव से हैं अन्य एवं जीव उनसे अन्य है।।१८२।।
जो न जाने इसतरह स्व और पर को स्वभाव से।
वे मोह से मोहित रहे 'ये मैं हूँ' अथवा 'मेरा यह'।।१८३।।
निज भाव को करता हुआ निजभाव का कर्ता कहा।
और पुद्गल द्रव्यमय सब भाव का कर्ता नहीं।।१८४।।
जीव पुद्गल मध्य रहते हुए पुद्गलकर्म को।
जिनवर कहें सब काल में ना ग्रहे-छोड़े-परिणमे।।१८५।।
भवदशा में रागादि को करता हुआ यह आतमा।
रे कर्मरज से कदाचित् यह ग्रहण होता छूटता।।१८६।।
रागादियुत जब आतमा परिणमे अशुभ-शुभ भाव में।
तब कर्मरज से आवरित हो विविध बंधन में पड़े।।१८७।।
विशुद्धतम परिणाम से शुभतम करम का बंध हो।
संक्लेशतम से अशुभतम अर जघन हो विपरीत से।।१३।।•

• आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त गाथा १३

सप्रदेशी आतमा रुस-राग-मोह कषाययुत।
हो कर्मरज से लिप्त यह ही बंध है जिनवर कहा ।।१८८।।
यह बंध का संक्षेप जिनवरदेव ने यतिवृन्द से।
नियतनय से कहा है व्यवहार इससे अन्य है ।।१८९।।
तन-धनादि में 'मैं हूँ यह' अथवा 'ये मेरे हैं' सही।
ममता न छोड़े वह श्रमण उनमार्गी जिनवर कहें ।।१९०।।
पर का नहीं ना मेरे पर मैं एक ही ज्ञानात्मा।
जो ध्यान में इस भाँति ध्यावे है वही शुद्धात्मा ।।१९१।।
इसतरह मैं आतमा को ज्ञानमय दर्शनमयी।
ध्रुव अचल अवलंबन रहित इन्द्रियरहित शुध मानता ।।१९२।।
अरि-मित्रजन धन्य-धान्य सुख-दुख देह कुछ भी ध्रुव नहीं।
इस जीव के ध्रुव एक ही उपयोगमय यह आतमा ।।१९३।।
यह जान जो शुद्धातमा ध्यावें सदा परमातमा।
दुठ मोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आतमा ।।१९४।।
मोहग्रन्थी राग-रुष तज सदा ही सुख-दुःख में।
समभाव हो वह श्रमण ही बस अखयसुख धारण करें ।।१९५।।
आत्मध्याता श्रमण वह इन्द्रियविषय जो परिहरे।
स्वभावथित अवरुद्ध मन वह मोहमल का क्षय करे ।।१९६।।
घन घातिकर्म विनाश कर प्रत्यक्ष जाने सभी को।
संदेहविरहित ज्ञेय ज्ञायक ध्यावते किस वस्तु को ।।१९७।।
अतीन्द्रिय जिन अनिन्द्रिय अर सर्व बाधा रहित हैं।
चहुँ ओर से सुख-ज्ञान से समृद्ध ध्यावे परमसुख ।।१९८।।
निर्वाण पाया इसी मग से श्रमण जिन जिनदेव ने।
निर्वाण अर निर्वाणमग को नमन बारंबार हो ।।१९९।।
इसलिए इस विधि आतमा ज्ञायकस्वभावी जानकर।
निर्ममत्व में स्थित मैं सदा ही भाव ममता त्याग कर ।।२००।।
सुशुद्धदर्शनज्ञानमय उपयोग अन्तरलीन जिन।
बाधारहित सुखसहित साधु सिद्ध को शत्-शत् नमन ।।१४।।•

• आचार्य जयसेन की टीका में प्राप्त गाथा १४

प्रवचनसार कलश पद्यानुवाद

(मनहरण)

जिसने बताई भिन्नता भिन्न द्रव्यनि से।
और आतमा एक ओर को हटा दिया॥
जिसने विशेष किये लीन सामान्य में।
और मोहलक्ष्मी को लूट कर भगा दिया॥
ऐसे शुद्धनय ने उत्कट विवेक से ही।
निज आतमा का स्वभाव समझा दिया॥
और सम्पूर्ण इस जग से विरक्त कर।
इस आतमा को आतमा में ही लगा दिया॥७॥

इस भाँति परपरिणति का उच्छेद कर।
करता-करम आदि भेदों को मिटा दिया॥
इस भाँति आतमा का तत्त्व उपलब्ध कर।
कल्पनाजन्य भेदभाव को मिटा दिया।
ऐसा यह आतमा चिन्मात्र निरमल।
सुखमय शान्तिमय तेज अपना लिया।
आपनी ही महिमामय परकाशमान।
रहेगा अनंतकाल जैसा सुख पा लिया॥८॥

(दोहा)

अरे द्रव्य सामान्य का अबतक किया बखान।
अब तो द्रव्यविशेष का करते हैं व्याख्यान॥९॥

ज्ञेयतत्त्व के ज्ञान के प्रतिपादक जो शब्द।
उनमें डुबकी लगाकर निज में रहें अशब्द॥१०॥

शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त कर जग को कर अब ज्ञेय।
स्वपरप्रकाशक ज्ञान ही एकमात्र श्रद्धेय॥११॥

चरण द्रव्य अनुसार हो द्रव्य चरण अनुसार।
शिवपथगामी बनो तुम दोनों के अनुसार॥१२॥

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधिनी)	५० ००	मैं कौन हूँ	४ ००
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५ ००	निमित्तोपादान	४ ००
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	अहिंसा महावीर की दृष्टि में	३ ००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२० ००	मैं स्वय भगवान हूँ	४ ००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२० ००	रीति-नीति	३ ००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५ ००	शाकाहार	२ ५०
समयसार का सार	३० ००	तीर्थंकर भगवान महावीर	२ ५०
प्रवचनसार का सार	३० ००	चैतन्य चमत्कार	२ ००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३० ००	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२ ००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	(प्रेस में)	गोम्मटेश्वर बाहुबली	२ ००
प टोडरमल व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	२० ००	वीतरागी व्यक्तित्व भगवान महावीर	२ ००
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२० ००	अनेकान्त और स्याद्वाद	२ ००
चिन्तन की गहराइयाँ	२० ००	शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१ ५०
तीर्थं महावीर और उनका सर्वो तीर्थ	१५ ००	बिन्दु में सिन्धु	२ ००
धर्म के दशलक्षण	१६ ००	बारह भावना एव जिनेंद्र वदना	२ ००
क्रमबद्धपर्याय	१२ ००	कुदकुदशतक पद्यानुवाद	१ ००
बिखरे मोती	१६ ००	शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१ ००
सत्य की खोज	१६ ००	समयसार पद्यानुवाद	३ ००
अध्यात्मनवनीत	१५ ००	योगसार पद्यानुवाद	०० ५०
आप कुछ भी कहो	१० ००	समयसार कलश पद्यानुवाद	३ ००
आत्मा ही है शरण	१५ ००	प्रवचनसार पद्यानुवाद	३ ००
सुक्ति-सुधा	१८ ००	द्रव्यसग्रह पद्यानुवाद	१ ००
बारह भावना एक अनुशीलन	१५ ००	अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३ ००
दृष्टि का विषय	१० ००	अर्चना जेबी	१ ००
गागर में सागर	७ ००	कुदकुदशतक (अर्थ सहित)	१ २५
पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	८ ००	शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१ ००
णमोकार महामत्र एक अनुशीलन	१० ००	बालबोध पाठमाला भाग-२	३ ००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५ ००	बालबोध पाठमाला भाग-३	३ ००
आ कुदकुद और उनके पचपरमागम	५ ००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४ ००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५ ००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४ ००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२ ००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४ ००
पश्चाताप	७ ००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५ ००
		तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	४ ००